संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ६९

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित

इष्टोपदेश

विवेचनाकर्ता

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

प्रस्तुति

आर्यिका दृढ़मति ससंघ

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

इष्टोपदेश

कृतिकार : आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी

विवेचनाकर्ता : आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

प्रस्तुति : आर्यिका दृढ़मति ससंघ

अंग्रेजी व्याख्या : बैरिस्टर चम्पतराय

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

सविनय समर्पण

तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी महाश्रमण की
मूलाम्नाय में
श्री कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन्त रूप
श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक
रत्नत्रय के उत्कर्षक
श्रुत-आराधक समयसार एवं
मूलाचार के मूर्तिमान आध्यात्मिक संत
भारत देश की गरिमामयी ऋषि-परम्परा के
धर्मप्राण लोकप्रिय विश्वविख्यात महाकवि
दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी
महामुनिराज की आत्मान्वेषी, तत्त्वान्वेषी
इष्टोपदेश पावन अनुपम कृत
'इष्टोपदेश-विवेचना'
आचार्यश्री के कर-कमलों में

सादर सविनय अर्पण-समर्पण

अनुक्रमणिका

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की श्रृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी के इष्टोपदेश ग्रन्थ पर आचार्य गुरुदेव की विवेचना प्रस्तुत है। जिसे परम वंदनीय आर्यिका श्री दृढ़मति माताजी ससंघ ने व्यवस्थित करके जिनवाणी के भण्डार को वृद्धिंगत करने में सहयोग करके गुरुभक्ति प्रकट की है। पूर्व में यह ग्रन्थ आगम प्रकाशन, रेवाड़ी से प्रकाशित हुआ। एतदर्थ पूर्व प्रकाशन संस्था का आभार व्यक्त करते हैं। आर्यिकाश्री के चरणों में वंदामि निवेदित करते हुए जैन विद्यापीठ कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आद्यमिताक्षरिका

भारत की वसुन्धरा सन्तों, भगवन्तों, तीर्थंकरों से सदा परिपूरित रही है। अतः भारतीय संस्कृति श्रमण-संस्कृति प्रधान है। श्रमण-संस्कृति की प्रधानता से यह धर्मसंस्कृति प्रधान भी है। धर्म-संस्कृति से उद्भूत सत्साहित्य का होना, भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। 'सत्साहित्य' सद्विचार एवं सदाचार का जन्मदाता होता है।

सन्त का प्रत्येक विचार हितमय होता है। सन्त का प्रत्येक वचन मन्त्रमय होता है एवं सन्त का प्रत्येक आचरण सदाचारमय होता है। सन्त का जीवन स्व-परोपकारी होता है। सन्त सदा लोककल्याणी भावना से ओत-प्रोत होते हैं। अतः वे स्व-पर कल्याण में तत्पर रहते हैं।

अनादि अनन्त प्रवाहमान स्वरूप सत्साहित्य साधना में महाकवि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की साहित्य-साधना का अनुपम योगदान है। प्रखर तत्त्व-चिन्तक, आत्मान्वेषी आध्यात्मिक विचारक, ओजस्वी, दिव्य उपदेशक, आचार्यश्री जी सदा-सर्वदा अपने शिष्य समुदाय को नवीन-नवीन गहन-चिन्तन के साथ जिनागम के रहस्यों को उद्घाटित करते हुए स्वाध्याय कराते हैं। समय-समय विद्वत्समूह भी वाचना, पृच्छना आदि से स्वाध्याय लाभ प्राप्त करते हैं। विश्वविख्यात, लोककल्याणक, नवप्रवर्तक, अध्यात्मरसिक महाश्रमण के श्रीमुख से निःसृत अध्यात्मरस से परिपूरित, वैराग्यप्रद, भेदविज्ञान को पुष्ट करने वाली, सम्यक् जीवन-शैली को सम्यक् सूत्रों की प्रदायिका इष्टोपदेश-ग्रन्थ की विवेचना का पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन अनिष्ट अर्थात् संसार-दुःख की विवेचना का कारण है। समस्त भव्यजन इस अपूर्व अवसर का आत्मलाभ प्राप्त करें।

आचार्यश्री जी की पावन देशना जनमानस को शीतलता का दान देकर सभी श्रोतागण को संतुष्ट करती है। आचार्यश्री जी की देशना के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि-

❋ दिग्भ्रान्त समाज को सम्यक् जीवन जीने का नव्यबोध है—गुरु देशना।

❋ सुख-शान्ति का निधान है—गुरु देशना।

❋ संवेग-वैराग्य का सोपान है—गुरु देशना।

❋ आत्मानुभूति का मौलिक चिन्तन है—गुरुदेशना।

❋ अमित राही को समीचीन राह स्वरूप है—गुरु देशना।

❋ राग-द्वेषादि वैभाविक विचारों की विरेचिका है—गुरु देशना।

द्रव्यानुयोग के अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ 'इष्टोपदेश' की आचार्य पूज्यपादस्वामी द्वारा छठवीं शताब्दी में रचना की गई। धारा नगरी के नेमिनाथ जिनालय में इसकी रचना हुई। १३ वीं शताब्दी में पण्डित प्रवर आशाधरजी द्वारा इस की ग्रन्थ की टीका लिखी गई। सन् १९२२ में ब्र० शीतलप्रसाद

जी द्वारा हिन्दी दोहानुवाद किया गया। जैनदर्शनाचार्य धन्यकुमारजी जैन एम० ए० कृत हिन्दी टीका, अज्ञात कवि कृत मराठी पद्यानुवाद, रावजीभाई देसाई कृत गुजराती पद्यानुवाद एवं सन् १९२५ में बैरिस्टर चम्पतराय जी विद्यावारिधी कृत अंग्रेजी अनुवाद The Discourse Divine तथा जयभगवान जैन बी० ए० एल० एल० बी० कृत विस्तृत अंग्रेजी पद्यानुसार Happy Sermons लिखा गया। वर्तमान आचार्य परम आध्यात्मिक, संत शिरोमणि श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज द्वारा इस ग्रन्थ के दो पद्यानुवादों की रचना हुई। सन् १९७१ को वसन्ततिलका छन्द में किशनगढ़ (राज०) में और द्वितीय सन् १९९० को ज्ञानोदय छन्द में अतिशय क्षेत्र रामटेक में की गई। सन् १९९३ में श्री अतिशय क्षेत्र रामटेक में देवाधिदेव अतिशयकारी श्री शान्तिनाथ भगवान् जी की चरण-छाँव में इस ग्रन्थ की अत्यन्त सरल, सुबोध, सुगम्य भाषा-शैली में, सामान्य समस्त श्रोतागण एवं तत्त्वजिज्ञासुओं को भी समझने में सरल विवेचना प्रस्तुत की गई। इस ग्रन्थ की गुरु-मुखारविन्द से वाचना-श्रवण करने का समस्त शिष्य-समुदाय के साथ-साथ सामान्य जिज्ञासु श्रोतागणों को भी अत्यन्त पुण्योदय से सुअवसर प्राप्त हुआ। इस वाचना के समय ब्राह्मी विद्या आश्रम, मढ़ियाजी जबलपुर की बहिनें भी उपस्थित थीं, उन्होंने भी गुरुमुख से इस अध्यात्म ग्रन्थ की वाचना का श्रवण किया। उनमें से ब्रह्मचारिणी बहिन गुणमालाजी बरेली द्वारा कैसिट से इसका शब्दशः लेखन कार्य किया गया। सन् २००९ में मढ़ियाजी अतिशय क्षेत्र में पर्वत के ऊपर श्री पार्श्वनाथ मंदिर के नवीनीकरण एवं नवनिर्मित श्री पार्श्वनाथ भगवान् की विशाल प्रतिमाजी के साथ अनेक जिन प्रतिमाओं के पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का मंगलमय अवसर आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागरजी महाराज की आज्ञा से हमारे संघ को तथा आदर्शमतिजी, तपोमतिजी, अपूर्वमतिजी आदि आर्यिका संघ को प्राप्त हुआ। आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज स्वयं वहाँ उपस्थित थे।

प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न होने के उपरान्त आचार्यश्री का ससंघ विहार हुआ। आर्यिका संघ कुछ समय ब्राह्मी विद्या आश्रम मढ़ियाजी में रहा। आश्रम की संचालिका श्री मणिबाईजी एवं समस्त आर्यिकाओं और ब्रह्मचारिणी बहिनों के बीच इष्टोपदेश ग्रन्थ की व्याख्या का वाचन किया। ग्रन्थ वाचन में अत्यन्त आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति हुई। ग्रन्थ-वाचन के उपरान्त विचार आया कि इस अनोखी, अनुपम, अति सरल, अध्यात्म के रहस्यों की उद्घाटिका विवेचना का व्यवस्थित लेखन कार्य किया जाना चाहिए। तभी इस ग्रन्थ-विवेचना का लेखन कार्य अतिशय क्षेत्र पनागर में सन् २००९ की महावीर जयंती से प्रारम्भ करके श्रुत-पंचमी के पावन पर्व पर पूर्ण किया।

मेरी भावना थी कि इस विवेचना का स्वाध्याय करने का अवसर सभी तत्त्व जिज्ञासुओं एवं सभी सामान्य श्रोतागण को प्राप्त होना ही चाहिए। अतः शहडोल में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव का शुभ अवसर पुनः प्राप्त हुआ। माताजी ने समस्त लेखन कार्य को आचार्यश्री के समक्ष उपस्थित किया और कहा-आचार्यश्री जी! इष्टोपदेश ग्रन्थ की विवेचना सभी स्वाध्याय प्रेमियों, विद्वानों,

त्यागी-व्रतियों, साधु-आर्यिकाओं एवं सामान्य जनसमूह को पढ़ने का लाभ मिले इसलिए इसका प्रकाशन होना चाहिए। आचार्यश्री की मौन-मुस्कराहट प्रसन्न-मुद्रा ने कुछ भी नहीं कहा लेकिन ''मौनं सम्मति साधनं'' मौन ही स्वीकृति का साधन समझकर इसके सचित्र प्रकाशन का भाव बना लेकिन चित्र तैयार होने में विलम्ब होने के कारण इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अति विलम्ब हुआ है। मेरे कहने पर ब्र० राकेशजी ने एक बार इसका अवलोकन कर व्यवस्थित करने में सहयोग दिया। इसके प्रकाशन का कार्यभार आगम प्रकाशन रेवाड़ी (हरि०) को सौंपा गया।

महान् आचार्य पूज्यपादजी द्वारा विरचित अध्यात्म पूर्ण कृति इष्टोपदेश ग्रन्थ आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज को कितना इष्ट था ? इसका समाधान उनके द्वारा ससंघ समूह में किए गए पाठ से एवं समस्त शिष्य समुदाय को ग्रन्थ याद करने की प्रेरणा देने से विदित होता है।

इस ग्रन्थ में मानव कल्याणकारी तत्त्वों का तथा अध्यात्म का सुन्दर हृदयग्राही विवेचन किया गया है। यह लघु एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। बहिर्दृष्टि को अन्तर्मुखी करने हेतु जगती तल के कल्याण हेतु तथा भौतिकवादी विचार-वैतरणी के प्रवाह में प्रवाहित वर्तमान युग का मानव सतत् भौतिक साधनों की प्राप्ति हेतु स्वार्थ साधना में संलग्न है। समूचा मानव समाज सुपथ का पथिक बने। इस मंगल भावना से इष्ट अर्थात् हितकारी उपदेश की आवश्यकता को पूर्ण करने वाले इष्टोपदेश नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ की विवेचना की गई। आचार्य श्री विद्यासागरजी ने इस ग्रन्थ की प्रत्येक कारिका का अति सुंदर, विशद एवं सुबोध प्रभावक भाषा-शैली में विवेचन किया है। फलतः ग्रन्थ के अनेक दुरूह विषयों का सरलीकरण हुआ है। अत्यधिक सरल दिन-प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले उदाहरणों द्वारा यह ग्रन्थ पाठकगण के लिए अति आकर्षक एवं रुचिकर हुआ है। ग्रन्थ-विवेचन के समय उपस्थित साधुगण एवं श्रोतागण अत्यन्त एकाग्रचित्त तथा मन्त्रमुग्ध होकर श्रवण करते थे। वैसे भी अत्यन्त पुण्यशाली आचार्यश्री जी की सुस्वर वाणी सुनने के लिए आबालवृद्ध हमेशा तत्पर रहते ही हैं। यह ग्रन्थ ''गागर में सागर'' भरने की सूक्ति को चरितार्थ करता है।

जिनदेव के समान जिनवाणी माँ का भी अत्यधिक महत्त्व है। जिस तरह जिनदेव के वचनों को जिनवाणी माँ के द्वारा सुरक्षित रखा जाता है। उसी तरह गुरुदेव के मुखारविन्द से निर्गत अत्यधिक मार्मिक, हृदयग्राही वैराग्यवर्द्धक वचनों को ''इष्टोपदेश-विवेचना'' नामक कृति में मोती सम सुव्यवस्थित सुन्दर रूप में संजोकर सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है।

उक्त मंगलमयी भावना से संकलित इष्ट विवेचना का प्रचार-प्रसार हो, इस हेतु अनल्प विद्या के धनी, अन्तर्ज्ञानी, अन्तर्ध्यानी श्री १०८ दिगम्बराचार्य विद्यासागरजी महाराज की दिव्य-वाणी के संकलन में मुझ अल्पमति द्वारा जो भी त्रुटियाँ हुई हों, उन्हें समस्त सन्तजन, विद्वज्जन एवं सामान्य स्वाध्यायशील अवगत कराने का विशेष ध्यान रखें।

आर्यिका दृढ़मति

सारस्वत-प्रतिमान

प्राचीनकाल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं तीर्थंकर भगवन्तों को जन्म दिया है। जैनधर्म भारत-भूमि का एक चिर प्राचीन धर्म है। इस धर्म का अनुसरण करके तीर्थंकर केवली श्रुतकेवली के साथ-साथ अनेक आचार्यों, मुनियों एवं संतों ने मानव समाज के लिए भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं तीर्थोद्धार आदि क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किये हैं।

इस १९-२० वीं शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीरसागरजी, आचार्य श्री शिवसागरजी, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज आदि तपस्वी आचार्य एवं साधुगण हुए तत्पश्चात् २०-२१ वीं शताब्दी में आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के परम प्रभावक, अति निष्णात युवामनीषी, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक समस्त समाज के आराध्य सुयोग्य शिष्य महान् तपस्वी आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज हुए। इनका प्रभावक व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व ख्याति प्राप्त सरस्वती पुत्र समस्त विद्वत् मण्डल के द्वारा अभिनन्दनीय है। संयम स्वर्ण महोत्सव वर्ष के शुभारम्भ में जैन श्रमण परम्परा के उदीयमान नक्षत्र स्वरूप दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का समस्त शिष्य-मण्डल वंदन-अभिनंदन करता है। भारतीय श्रमण संस्कृति के संवर्द्धन एवं संरक्षण में आपका अमूल्य योगदान रहा है।

अमूल्य-योगदान—श्रमण-संस्कृति भारतीय संस्कृति में प्रधान एवं आदर्शमय संस्कृति रही है। भारतीय दर्शन सरणि में जैन दर्शन का विशिष्ट स्थान है। जैन दर्शन के सारस्वत, आध्यात्मिक सन्त-साधकों में जहाँ चारित्र एवं अध्यात्म साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है, वहीं पर राष्ट्र, देश, समाज एवं साहित्य जगत् में भी अपना अमूल्य योगदान दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र सदृश श्रमण संस्कृति की सुरक्षा में अनुपम योगदान रहा है। अध्यात्म के गगन में प्राची दिशा से एक सहस्रकर दिनकर का उदय हुआ जिसे सारा जगत् दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के नाम से स्मरण करता है। चतुर्थकालीन मुनीशों के तुल्य चर्या होने के कारण समस्त जैन जगत् में जो चौथे काल के महाराज के विशेषण से विख्यात हैं। आचार्यवर्य ने आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य समन्तभद्र की ऊर्जा को मानो अपने जीवन में संचारित करके तथा उनके आदर्श व पवित्र मार्ग का अनुसरण करके जर्जरित अध्यात्म-मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है।

जीवन-शैली—आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज की चर्या में आचार्य कुन्दकुन्ददेव

का मूलाचार प्रतिबिम्बित होता है। वाणी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसी निर्भीकता, निःशकता, निश्छलता निःशल्यता की छाया परिलक्षित होती है। विचारों में अनेकान्त दृष्टिगोचर होता है। वे श्रमण-संस्कृति के रक्षार्थ एक सजग प्रहरी हैं। परम वीतरागी एवं निर्मोही साधक होते हुए भी उनकी प्रत्येक चर्या में एवं उनकी छवि में अत्यन्त आकर्षण है। उनके दर्शन में दर्शकों को भगवान् महावीर का प्रतिबिम्ब दिखने लगता है।

प्रभावक साधक—श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्यश्री जी धर्म एवं श्रमण साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं। इनकी साधना आत्मोत्कर्ष की सीढ़ियों को पार करती हुई शाश्वत सत्य एवं लोकमंगल को साधने वाली है। स्वपर कल्याणी आचार्यश्री जी प्रायः चातुर्मास में तीर्थक्षेत्रों पर ही साधनारत रहते हैं। आपने अपनी चारित्र-साधना से अपने आचार्यत्व की उत्कृष्ट सिद्धि को सिद्ध किया है। आपकी तप, साधना, ज्ञान-साधना, दर्शन-आराधना, ध्यान-साधना आदि सभी प्रकार की साधनायें साध्य को साधती हैं। आपकी साधना का अनुपम प्रसाद प्राप्त करने के इच्छुक श्रमण-श्रमणियों को भी साधना पथ पर अग्रसर करने में प्रेरणाप्रद होती है। आप निर्दोष साधना करने वाले आदर्श आचार्य हैं। आपकी एवं आपके समस्त शिष्य-शिष्याओं की बाल-ब्रह्मचर्य साधना अत्यधिक विख्यात है एवं अत्यन्त प्रभावक है।

तीर्थोद्धारक आचार्य—आत्म साधना के साथ-साथ आपके आशीष से प्राचीन स्थापत्य सुरक्षित एवं संवर्धित हुआ है। प्राचीन तीर्थक्षेत्रों के जीर्णोद्धार के साथ-साथ नवीन तीर्थक्षेत्रों का निर्माण हुआ है। जिनमें सर्वोदय तीर्थक्षेत्र (अमरकण्टक), सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र (नेमावर), ज्ञानोदय तीर्थ (नारेली, राज०) पुण्योदय (हाँसी/हरियाणा), कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र (मध्यप्रदेश), अति सुन्दर नन्दीश्वर द्वीप की संरचना मढ़ियाजी (जबलपुर), चन्द्रगिरि (छत्तीसगढ़) इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

परमदयालु आचार्य—करुणाकर परमदयालु आचार्यवर्य श्री विद्यासागरजी महाराज के आशीष से पशुओं की करुण पुकार को सुनकर मांस निर्यात निषेध का अभियान चला जिसके प्रभाव से शताधिक गोशालाओं की दयोदय संस्था के रूप में स्थापना हुई। बीना बारहा अतिशय क्षेत्र में शान्तिधारा दुग्ध योजना का प्रारम्भीकरण करके अनेक गरीब किसानों को एवं गौवंश को नया जीवन-दान दिया।

समाजोद्धारक एवं प्रभावक आचार्य—आचार्यत्व की ख्याति विश्वविख्यात है। आचार्य-पद से विभूषित होने पर आपने गुरु आशीष से चतुर्विध संघ का निर्माण किया। संघ को गुरुकुल रूप प्रदान करके गुरु आशीष को फलित किया। सन् १९७८ में ब्राह्मी विद्या आश्रम का शुभारंभ किया। पश्चात् वही आश्रम सागर एवं जबलपुर मढ़ियाजी में दो शाखाओं में परिणत हुआ। आश्रम से शिक्षित बहिनों को आर्यिका दीक्षा देकर आर्यिका संघ विकसित किया। मानव सेवा हेतु

चिकित्सा के उद्देश्य से भाग्योदय तीर्थ निर्मित हुआ (सागर) वर्तमान में वहाँ अनेक प्रकार की स्वास्थ्य सेवायें उपलब्ध हैं। शिक्षाक्षेत्र में प्रतिभास्थली ज्ञानोदय विद्यापीठ संस्थापित हुआ। इस विद्यालय में प्रतिभामण्डल की शताधिक बाल ब्रह्मचारिणी प्रशिक्षित व्रती बहिनें शिक्षा के साथ-साथ छात्राओं को सुसंस्कारित भी करती हैं। मढ़ियाजी अतिशय क्षेत्र में ब्रह्मचारी वर्ग के लिए गुरुकुल का पुनर्गठन हुआ। वहीं पर प्रशासनिक संस्थान लोक सेवा हेतु स्थापित हुआ। शताधिक ब्रह्मचारी भाई एवं ब्रह्मचारिणी बहिनें गृह में साधनारत हैं। विशाल मुनिसंघ आर्यिका संघ आत्म-साधना तथा धर्म प्रभावना में संलग्न है। इस प्रकार आपने गुरु के शुभाशीष को साकार रूप प्रदान किया एवं छात्रावास प्रतिभा प्रतीक्षा, पूरी मैत्री, हथकरघा आदि समाज सुधार के साधनों को आशीष प्रदान किया।

अनोखी गुरु-सेवा—आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने अपना आचार्य पद आपको देकर आपके ही निर्देशन में लगभग १८० दिन की यम सल्लेखना धारण की थी। ६ माह तक अन्न का त्याग रहा। आचार्य गुरु ज्ञानसागरजी अत्यन्त सजग थे। अबाधरूप से सल्लेखना श्रेष्ठ परिचर्या के साथ चल रही थी। ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या १ जून, १९७३ वि० सं० २०३० को नसीराबाद (राज.) में गुरु की समाधि-साधना पूर्ण हुई। जीवन भर आत्मस्थ रहने वाले पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज समाधिस्थ हो गए। उन दिनों आपने अपने गुरु की जो सेवा अत्यन्त निष्ठा और लगन के साथ की उसे देखकर एवं सुनकर विद्वानों ने कहा कि अपने पिता से करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति पाने वाला बेटा भी अपने पिता की इतनी सेवा नहीं कर सकता। यह आपके समाधि-साधना को श्रेष्ठ निर्यापकत्व का परिणाम था। आपको हृदय-पटल पर गुरु महाराज का यह बोध-वाक्य हमेशा अंकित रहता है कि-''अप्रभावना से बचते रहना ही सच्ची प्रभावना है।''

''सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिये सदा वंदे''

दीक्षित समुदाय/जीवन्त-कृतियाँ—मुनि १२०, आर्यिकाएँ १७२, ऐलक ५७, क्षुल्लक ६४, क्षुल्लिका ३ कुल ४१६ दीक्षाएँ दी हैं। उक्त संख्या अगस्त २०१५ तक के दीक्षित शिष्य समुदाय की है, ये सभी आचार्यश्री जी की जीवन्त चेतन कृतियाँ हैं, जो श्रमण-संस्कृति की सुरक्षा एवं संवर्धन में तत्पर हैं।

कुशल संघ संचालक—स्वयं पञ्चाचार का पालन करने और संघस्थ समस्त साधुओं से रत्नत्रय एवं पञ्चाचार का पालन करवाने में कुशल आचार्यश्री जी अत्यधिक अनुशासनप्रिय हैं। वे अनुशासित जीवन शैली को स्वयं अपनाते हैं एवं समस्त शिष्य-गण से अनुशासन पालन की अपेक्षा रखते हैं। समय-समय पर अनुशासन की शिक्षा एवं प्रेरणा देते रहते हैं। वे मिलिट्री-अनुशासन की ओर इंगित करके समस्त शिष्य एवं शिष्याओं का ध्यान उस ओर आकर्षित करते हैं। इसी अनुशासन

के बल पर विशाल संघ का कुशल संचालन करते हैं। समय-समय पर शिष्यगण एवं शिष्याओं को संकेत-आज्ञा, निर्देश आदेश देकर सभी को मुक्तिपथ पर अग्रेसित करते हैं। शिष्यों के अनुग्रह में कुशल धर्माचार्य को सदा वन्दना।

बहुभाषाविद् आचार्य—महान् पुरुषों की शिक्षा, प्रतिभा स्कूली शिक्षा तक सीमित नहीं रहती बल्कि उनकी शिक्षा का क्षेत्र तो समस्त संसार होता है। वे पूरे संसार में यथार्थ का अनुसन्धान करने वाली अनुभव की पाठशाला में वास्तविक शिक्षा प्राप्त करते हैं। मातृभाषा कन्नड़ एवं शिक्षा भाषा मराठी होने पर भी आपको हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला आदि अनेक भाषाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इसी कारण आपके शब्द नाना अर्थ के रहे हैं। काव्यगत शब्दों के अर्थ तत्त्व को नवीन प्रतिमान प्रदान करते हैं। शब्दों को व्युत्पत्ति बल से नवीन अर्थ प्रदान करना आपके साहित्य सृजन की विशेषता है। आपका साहित्य अनुप्रास एवं श्लेष मिश्रित अर्थों की विशेषताओं को लिए हुए रहता है। शब्दों के अक्षरों की विलोम प्रक्रिया से एवं शब्द-विच्छेद-विधि से अर्थगत आन्दोलन कर तथा जनमानस का अभिनन्दन स्वीकार कर लोकप्रिय मोक्षमार्गी नेता के रूप में जग विख्यात हैं।

लोकप्रिय विश्वविख्यात आचार्य—विशिष्ट जीवन सर्जक, आचारनिष्ठ साधक, जिनागम के शाश्वत दार्शनिक, आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक मानदण्डों के ज्ञाता, श्रमण-संस्कृति के उन्नायक-तीर्थोद्धारक, सम्यग्ज्ञान रश्मियों के उद्योतक, तपोनिष्ठ आदर्श-साधक, मानवीय मूल्यों को उद्घाटक, वीतराग पथ को पथिक, परिष्कृत चिन्तक, प्रयोगधर्मी बहुआयामी साधक, सर्जना को नित नये नूतन बिम्ब, उदात्त चिन्तक, श्रुत-आराधक, रत्नत्रय को उत्कर्षक, मुक्ति-साधक, भारत की गरिमामयी ऋषि परम्परा को धर्मप्राण, प्रशस्त विचारक, परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराज के श्री चरणों में शाब्दिक उपमायें भी सीमित हैं। फिर भी परम पूज्य आचार्यश्री के संयम स्वर्ण महोत्सव वर्ष के शुभारम्भ की पवित्र स्वर्णिम बेला में अनुपम उपमाओं का उपहार समर्पित है। 'अनन्त उपकारों का पुण्यहार अर्पित है।''

गुरु चरणों में अनन्तशः नमन-नमन-नमन...

प्रस्तुति

आर्यिका दृढ़मति

देवनन्दि पूज्यपाद और उनका साहित्यिक अवदान

कवि, वैयाकरण और दार्शनिक इन तीनों व्यक्तित्वों का एकत्र समवाय देवनन्दि पूज्यपाद में पाया जाता है। आदिपुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन ने इन्हें कवियों में तीर्थकृत लिखा है–

कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥

आदिपुराण १/५२

जो कवियों में तीर्थंकर के समान थे अथवा जिन्होंने कवियों का पथप्रदर्शन करने के लिये लक्षण ग्रन्थ की रचना की थी और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानों के शब्द सम्बन्धी दोषों को नष्ट करने वाला है, ऐसे उन देवनन्दि आचार्य का कौन वर्णन कर सकता है ?

ज्ञानार्णव के कर्ता आचार्य शुभचन्द्र ने इनकी प्रतिभा और वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए स्मरण किया है–

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते[1]॥

जिनकी शास्त्रपद्धति प्राणियों के शरीर, वचन और चित्त के सभी प्रकार के मल को दूर करने में समर्थ है, उन देवनन्दि आचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ।

आचार्य देवनन्दि-पूज्यपाद का स्मरण हरिवंशपुराण के रचयिता जिनसेन प्रथम ने भी किया है। उन्होंने लिखा है–

इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः ।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यन्ते गिरः कथम्॥[2]

अर्थात् जो इन्द्र, चन्द्र, अर्क और जैनेन्द्र व्याकरण का अवलोकन करने वाली है, ऐसी देववन्द्य देवनन्दि आचार्य की वाणी क्यों नहीं वन्दनीय है ?

इससे स्पष्ट है कि आचार्य देवनन्दि प्रसिद्ध वैयाकरण और दार्शनिक विद्वान् थे। इनके सम्बन्ध में आचार्य गुणनन्दि ने इनके व्याकरण सूत्रों का आधार लेकर जैनेन्द्र प्रक्रिया में मंगलाचरण करते हुए

---

१. ज्ञानार्णव १/१५, रायचन्द्र शास्त्रमाला संस्करणं, वि० सं० २०१७

२. हरिवंशपुराण १/३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वि० सं० २०१९

लिखा है–

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥[1]

जिन्होंने लक्षणशास्त्र की रचना की है, मैं उन आचार्य पूज्यपाद को प्रणाम करता हूँ। उनके इस लक्षणशास्त्र की महत्ता इसी से स्पष्ट है कि जो इसमें है, वह अन्यत्र भी है और जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है।

उनके साहित्य की यह स्तुति–परम्परा धनंजय, वादिराज आदि प्रमुख आचार्यों द्वारा भी अनुभूति हुई। पूज्यपाद की ज्ञानगरिमा और महत्ता का उल्लेख उक्त स्तुतियों में विस्तृत रूप से आया है।

उनसे स्पष्ट है कि देवनन्दि–पूज्यपाद कवि और दार्शनिक विद्वान् के रूप में ख्यात हैं।

जीवन–परिचय

इनका जीवन–परिचय चन्द्रय्य कवि के 'पूज्यपादचरिते' और देवचन्द्र के 'राजावलिकथे' नामक ग्रन्थों में उपलब्ध है। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में इनके नामों के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। इन्हें बुद्धि की प्रखरता के कारण 'जिनेन्द्रबुद्धि' और देवों के द्वारा चरणों की पूजा किये जाने के कारण 'पूज्यपाद' कहा गया है।

यो देवनन्दि–प्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयं॥
जैनेन्द्रे निज–शब्द–भोगमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा।
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः॥
छन्दस्सूक्ष्मधियं समाधिशतक–स्वास्थ्यं यदीयं विदा–
माख्यातीह स पूज्यपाद–मुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः[2]**॥**

अर्थात् इनका मूलनाम देवनन्दि था, किन्तु ये बुद्धि की महत्ता के कारण जिनेन्द्रबुद्धि और देवों द्वारा पूजित होने से पूज्यपाद कहलाये थे। पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैन अभिषेक, समाधिशतक आदि ग्रन्थों की रचना की है।

शिलालेख नं० १०५ से भी उक्त तथ्य पुष्ट होता है।

---

१. जैनेन्द्र प्रक्रिया, जैन सिद्धान्तप्रकाशनी संस्था, कलकत्ता संस्करण, मंगलपद्य।

२. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अभिलेख संख्या ४०, पृ. २४, श्लोक १०, ११

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः[१]॥

पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि इन दोनों नामों की सार्थकता अभिलेख नं० १०८ में भी बतायी है।

इनके पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी बतलाया जाता है। ये कर्नाटक के 'कोले' नामक ग्राम के निवासी थे और ब्राह्मण कुल के भूषण थे। कहा जाता है कि बचपन में ही इन्होंने नाग द्वारा निगले गये मेढ़क की तड़पन देखकर विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली थी। पूज्यपादचरित्त में इनके जीवन का विस्तृत परिचय भी प्राप्त होता है तथा इनके चमत्कार को व्यक्त करने वाले अन्य कथानक भी लिखे गये हैं, पर उनमें कितना तथ्य है, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।

पूज्यपाद किस संघ के आचार्य थे, यह विचारणीय है। ''राजावलिकथे'' से ये नन्दिसंघ के आचार्य सिद्ध होते हैं। शुभचन्द्राचार्य ने अपने पाण्डवपुराण में अपनी गुर्वावलि का उल्लेख करते हुए बताया है–

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः[२]॥

अर्थात् नन्दिसंघ, बलात्कारगण मूलसंघ के अन्तर्गत हैं। इसमें पूर्वों के एकदेश ज्ञाता और मनुष्य एवं देवों से पूजनीय माघनन्दि आचार्य हुए।

माघनन्दि के बाद जिनचन्द्र, पद्मनन्दि, उमास्वामी, लोहाचार्य, यशःकीर्ति, यशोनन्दि और देवनन्दि के नाम दिये गये हैं। ये सभी नाम क्रम से नन्दिसंघ की पट्टावलि में भी मिलते हैं। आगे इसी गुर्वावलि में ग्यारहवें गुणनन्दि के बाद बारहवें वज्रनन्दि का नाम आया है, पर नन्दिसंघ की पट्टावलि में ग्यारहवें जयनन्दि और बारहवें गुणनन्दि के नाम आते हैं। इन नामों के पश्चात् तेरहवाँ नाम वज्रनन्दि का आता है। इसके पश्चात् और पूर्व की आचार्य परम्परा गुर्वावलि और पट्टावलि में प्रायः तुल्य है। अतएव संक्षेप में यह माना जा सकता है कि पूज्यपाद मूलसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ बलात्कारगण के पट्टाधीश थे। अन्य प्रमाणों से भी विदित होता है कि इनका गच्छ सरस्वती था और आचार्य कुन्दकुन्द एवं गृद्धपिच्छ की परम्परा में हुए हैं।

कथानुश्रुति

कहा जाता है कि पूज्यपाद के पिता माधवभट्ट ने अपनी पत्नी श्रीदेवी के आग्रह से जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। श्रीदेवी के भाई का नाम पाणिनि था। उससे भी उन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, अभिलेखसंख्या १०५, श्लोकसंख्या २०

२. पाण्डवपुराण, १।२

लेने का अनुरोध किया, पर प्रतिष्ठा की दृष्टि से वह जैन न होकर मुडीकुण्डग्राम में वैष्णव संन्यासी हो गया। पूज्यपाद की कमलिनी नामक छोटी बहन थी और इसका विवाह गुणभट्ट के साथ हुआ, जिससे गुणभट्ट को नागार्जुन नामक पुत्र लाभ हुआ।

एक दिन पूज्यपाद अपनी वाटिका में विचरण कर रहे थे कि उनकी दृष्टि साँप के मुँह में फँसे हुए मेंढ़क पर पड़ी। इससे उन्हें विरक्ति हो गयी। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि अपना व्याकरण ग्रन्थ रच रहे थे। वह न हो पाया था कि उन्हें अपना मरण काल निकट दिखलाई पड़ा और पूज्यपाद से अनुरोध किया कि तुम इस अपूर्ण ग्रन्थ को पूर्ण कर दो। उन्होंने उसे पूर्ण करना स्वीकार कर लिया। पाणिनि दुर्ध्यानवश मरकर सर्प हुए। एक बार उन्होंने पूज्यपाद को देखकर फूत्कार किया, इस पर पूज्यपाद ने कहा–''विश्वास रखो, मैं तुम्हारे व्याकरण को पूरा कर दूँगा।'' इसके पश्चात् उन्होंने पाणिनि-व्याकरण को पूर्ण कर दिया। पाणिनि-व्याकरण के पूर्ण करने के पहले पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हद्प्रतिष्ठालक्षण और वैदिक ज्योतिष के ग्रन्थ लिखे थे।

गुणभट्ट की मृत्यु के पश्चात् नागार्जुन अतिशय दरिद्र हो गया। पूज्यपाद ने उसे पद्मावती का एक मन्त्र दिया और सिद्धि करने की विधि भी बतलाई। इस मन्त्र के प्रभाव से पद्मावती ने नागार्जुन के निकट प्रकट होकर उसे 'सिद्धिरस' की जड़ी-वनस्पति बतला दी। इस 'सिद्धिरस' के प्रभाव से नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्व का परिहार करने के लिए पूज्यपाद ने एक मामूली वनस्पति से कई घड़े 'सिद्धिरस' बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतों को सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरणेन्द्र पद्मावती ने उसे रोका और जिनालय बनाने का आदेश दिया। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और उसमें पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद अपने पैरों में गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्र जाया करते थे, उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दि ने अपने साथियों से झगड़ा कर द्रविड संघ की स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र-तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत प्रसिद्ध हो गया। एक बार उसके समक्ष दो सुन्दर रमणियाँ उपस्थित हुईं, जो नृत्य-गान कला में कुशल थीं। नागार्जुन उन पर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनी।

पूज्यपाद मुनि बहुत दिनों तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देव-विमान में बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की। मार्ग में एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गयी थी। अतएव उन्होंने शान्त्यष्टक रच कर ज्यों-की-त्यों दृष्टि प्राप्त की। अपने ग्राम में आकर उन्होंने समाधिमरण किया।

इस कथा में कितनी सत्यता है, यह विचारणीय है।

समय-विचार

पूज्यपाद के समय के सम्बन्ध में विशेष विवाद नहीं है। इनका उल्लेख छठी शती के मध्यकाल से ही उपलब्ध होने लगता है। आचार्य अकलंकदेव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में 'सर्वार्थसिद्धि' के अनेक वाक्यों को वार्तिक का रूप दिया है। शब्दानुशासन सम्बन्धी कथन की पुष्टि के लिए इनके जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है। अतः पूज्यपाद अकलंकदेव के पूर्ववर्ती हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

'सर्वार्थसिद्धि' और 'विशेषावश्यक भाष्य' के तुलनात्मक अध्ययन से यह विदित होता है कि 'विशेषावश्यकभाष्य' लिखते समय जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के समक्ष 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ अवश्य उपस्थित था। सर्वार्थसिद्धि अध्याय १, सूत्र १५ में धारणामतिज्ञान का लक्षण लिखते हुए बताया है–

''अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारणं धारणा''॥

विशेषावश्यकभाष्य में इसी आधार पर लिखा है–

''कालंतरे य जं पुणरणुसरणं धारणा सा उ''॥ गा. २९१॥

चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, बतलाते हुए सर्वार्थसिद्धि में लिखा है–

मनोवदप्राप्यकारीति। १/१९

विशेषावश्यक भाष्य में उक्त शब्दावली का नियोजन निम्नप्रकार हुआ है–

लोयणमपत्तविसय मणोव्व। गाथा २०९

इससे ज्ञात होता है कि जिनभद्रगणि के समक्ष पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि विद्यमान थी। इस दृष्टि से पूज्यपाद का समय जिनभद्रगणि (वि० संवत् ६६६) के पूर्व होना चाहिए।

कुन्दकुन्द और पूज्यपाद का तुलनात्मक अध्ययन करने से अवगत होता है कि पूज्यपाद के समाधितन्त्र और इष्टोपदेश कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों के दोहन ऋणी हैं। यहाँ दो-एक उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं–

(१) जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केण हं॥[1]

× × ×

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्[2]**॥**

---

१. मोक्षपाहुड, गाथा २९

२. समाधितन्त्र, वीरसेवा मन्दिर संस्करण, पद्य १८

(२) जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे[1]॥
× × ×
व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥[2]

यहाँ समाधितन्त्र के दोनों पद्य मोक्षपाहुड के संस्कृतानुवाद हैं। पूज्यपाद ने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में 'संसारिणो मुक्ताश्च' [त० सू० २/१०] सूत्र की व्याख्या में पंच परावर्तनों का स्वरूप बतलाते हुए, प्रत्येक परावर्तन के अन्त में उनके समर्थन में जो 'उक्तं च' कहकर गाथाएँ लिखी हैं, वे उसी क्रम से कुन्दकुन्द के 'बारसअणुवेक्खा' ग्रन्थ में पायी जाती हैं।

इसके अतिरिक्त पूज्यपाद ने कुन्दकुन्द के उत्तरवर्ती गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थवृत्ति-सर्वार्थसिद्धि लिखी है। अतएव इनका समय कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छाचार्य के पश्चात् होना चाहिए। कुन्दकुन्द का समय विक्रम की द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध है और सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य का समय विक्रम की द्वितीय शताब्दी का अन्तिम पाद है। अतः पूज्यपाद का समय विक्रम संवत् ३०० के पश्चात् ही सम्भव है।

पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों में भूतबलि, समन्तभद्र, श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्र नामक पूर्वाचार्यों का निर्देश किया है। इनमें से भूतबलि तो 'षट्खण्डागम' के रचयिता प्रतीत होते हैं, जिनका समय ई. सन् प्रथम शताब्दी है। प्रखर तार्किक और अनेकान्तवाद के प्रतिष्ठापक समन्तभद्र प्रसिद्ध ही हैं। श्रीदत्त के 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थ का उल्लेख विद्यानन्द ने अपने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में[3] किया है। अतः स्पष्ट है कि पूज्यपाद इन आचार्यों के उत्तरवर्ती हैं।

पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक निबन्ध में तथा 'समाधितन्त्र' की प्रस्तावना में बताया है कि पूज्यपाद स्वामी गंगराज दुर्विनीत के शिक्षागुरु थे, जिसका राज्यकाल ई. सन् ४८५-५२२ तक माना जाता है और इन्हें हेब्बुरु आदि के अनेक शिलालेखों में 'शब्दावतार' के कर्ता के रूप में दुर्विनीत राजा का गुरु उल्लिखित किया है।

वि. संवत् ९९० में देवसेन ने दर्शनसार नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ पूर्वाचार्यकृत-गाथाओं को एकत्र कर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में बताया है कि पूज्यपाद का शिष्य पाहुडवेदी, वज्रनन्दि, द्राविडसंघ का कर्ता हुआ और यह संघ वि० सं० ५२६ में उत्पन्न हुआ।

---

१. मोक्षपाहुड, गाथा ३१

२. समाधितन्त्र, पद्य ७८

३. "द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्।
त्रिषष्ठेवादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये"॥ -तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. २८०,पद्य ४५

सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्सकारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासतो॥
पंचसए छब्वीसे विक्क मरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो[1]॥

वज्रनन्दि देवनन्दि के शिष्य थे। अतएव द्रविड़ संघ की उत्पत्ति के उक्तकाल से दस-बीस वर्ष पहले ही उनका समय माना जा सकता है। पंडित नाथूरामजी प्रेमी ने पूज्यपाद-देवनन्दि का समय विक्रम की छठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है। युधिष्ठिर मीमांसक ने भी देवनन्दि के समय की समीक्षा करते हुए इनका काल विक्रम की छठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है।[2]

नन्दिसेन की पट्टावली में देवनन्दि का समय विक्रम संवत् २५८-३०८ तक अंकित किया गया है और इनके अनन्तर जयनन्दि और गुणनन्दि का नाम निर्देश करने के उपरान्त वज्रनन्दि का नामोल्लेख आया है। पाण्डवपुराण में आचार्य शुभचन्द्र ने नन्दि-संघ की पट्टावली के अनुसार ही गुर्वावली दी है। देवनन्दि पूज्यपाद के गुरु का नाम एक पद्य में यशोनन्दि बताया गया है। यथा-

यशकीतिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
पूज्यपादापराख्यो यो गुणनन्दी गुणाकरः[3]॥

अजमेर की पट्टावली में देवनन्दि और पूज्यपाद ये दो नाम पृथक्-पृथक् उल्लिखित हैं। इस पट्टावली के अनुसार देवनन्दि का समय विक्रम संवत् २५८ और पूज्यपाद का वि० सं० ३०८ है। यहाँ पट्टसंख्या भी क्रमशः १० और ११ है। यह भी कहा गया है कि देवनन्दि पोरवाल थे और पूज्यपाद पद्मावती पोरवाल। पर संस्कृत पट्टावली के अनुसार दोनों एक हैं, भिन्न नहीं हैं। डॉ० ज्योतिप्रसाद ने विभिन्न मतों का समन्वय किया है।[4]

इस विवेचन से आचार्य देवनन्दि-पूज्यपाद का समय ईसा सन् की छठी शताब्दी सिद्ध होता है, जो सर्वमान्य है।

रचनाएँ—पूज्यपाद आचार्य द्वारा लिखित अब तक निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं-

१. दशभक्ति, २. जन्माभिषेक, ३. तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), ४. समाधितन्त्र, ५. इष्टोपदेश, ६. जैनेन्द्रव्याकरण, ७. सिद्धिप्रिय-स्तोत्र।

१. दशभक्ति—जैनागम में भक्ति के द्वादश भेद हैं-(१) सिद्ध-भक्ति, (२) श्रुत-भक्ति, (३)

---

१. दर्शनसार, गाथा २४, २८

२. युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा लिखित जैनेन्द्रशब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ जैनेन्द्रमहावृत्ति, ज्ञानपीठ संस्करण, पृ. ४४

३. अनेकान्त वर्ष १४ किरण ११-१२, प० ३४९॥

४. Jaina Antiquary. Vol.XXI. Page 24.

चारित्र-भक्ति, (४) योगि-भक्ति, (५) आचार्य-भक्ति, (६) पञ्चगुरुभक्ति, (७) तीर्थंकर-भक्ति, (८) शान्ति-भक्ति, (९) समाधि-भक्ति, (१०) निर्वाण-भक्ति, (११) नन्दीश्वर-भक्ति और (१२)चैत्य-भक्ति। पूज्यपाद स्वामी की संस्कृत में सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, चारित्र-भक्ति, योगि-भक्ति, निर्वाण-भक्ति और नन्दीश्वर-भक्ति ये सात ही भक्तियाँ उपलब्ध हैं। काव्य की दृष्टि से ये भक्तियाँ बड़ी ही सरस और गम्भीर हैं। सर्वप्रथम नौ पद्यों में सिद्ध-भक्ति की रचना की गयी है। आरम्भ में बताया है कि आठों कर्मों के नाश से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का होना सिद्धि है। इस सिद्धि को प्राप्त करने वाले सिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध-भक्ति के प्रभाव से साधक को सिद्ध-पद की प्राप्ति हो जाती है। अन्य भक्तियों में नामानुसार विषय का विवेचन किया गया है।

२. जन्माभिषेक—श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में पूज्यपाद की कृतियों में जन्माभिषेक का भी निर्देश आया है[१]।

वर्तमान में एक जन्माभिषेक मुद्रित उपलब्ध है। इसे पूज्यपाद द्वारा रचित होना चाहिए। रचना प्रौढ़ और प्रवाहमय है।

३. तत्त्वार्थवृत्ति—पूज्यपाद की यह महनीय कृति है। तत्त्वार्थसूत्र पर गद्य में लिखी गयी यह मध्यम परिमाण की विशद वृत्ति है। इसमें सूत्रानुसारी सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ दार्शनिक विवेचन भी है। इस तत्त्वार्थवृत्ति को सर्वार्थसिद्धि भी कहा गया है। वृत्ति के अन्त में लिखा है–

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यै –
जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता ।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा
तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या[२]॥

जो आर्य स्वर्ग और मोक्ष सुख के इच्छुक हैं, वे जिनेन्द्रशासनरूपी श्रेष्ठ अमृत से भरी सारभूत और सत्पुरुषों द्वारा दत्त 'सर्वार्थसिद्धि' इस नाम से प्रख्यात इस तत्त्वार्थवृत्ति को निरन्तर मनोयोगपूर्वक अवधारण करें।

इस वृत्ति में तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र और उसके प्रत्येक पद का निर्वचन, विवेचन एवं शंका-समाधानपूर्वक व्याख्यान किया गया है। टीकाग्रन्थ होने पर भी इसमें मौलिकता अक्षुण्ण है।

इस समग्र ग्रन्थ की शैली वर्णनात्मक होते हुए भी सूत्रगत पदों की सार्थकता के निरूपण के कारण भाष्य के तुल्य है। निश्चयतः पूज्यपाद को तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों का विषयगत अनुगमन गहरा और तलस्पर्शी था।

---

१. जैन शिलालेख-संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ४०, पृ. ५५, पद्य-११।

२. सर्वार्थसिद्धि, ज्ञानपीठ संस्करण, अन्तिम अंश, पद्य १, पृ. ४७४

४. समाधितन्त्र—इस ग्रन्थ का दूसरा नाम समाधिशतक है। इसमें १०५ पद्य हैं। अध्यात्म विषय का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। आचार्य पूज्यपाद ने अपने इस ग्रन्थ की विषयवस्तु कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों से ही ग्रहण की है। अनेक पद्य तो रूपान्तर जैसे प्रतीत होते हैं। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥[1]

इस पद्य की समता निम्न गाथा में है–

णियभावं ण वि मुंचइ परभावं णेव गिण्हए केइं।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी॥[2]

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। बहिरात्मभाव–मिथ्यात्व का त्याग कर अन्तरात्मा बन कर परमात्मपद की प्राप्ति के लिए प्रयास करना साधक का परम कर्तव्य है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और कर्मसंयोग का इस ग्रन्थ में संक्षेप में हृदयग्राही विवेचन किया गया है।

५. इष्टोपदेश—इस अध्यात्म काव्य में इष्ट–आत्मा के स्वरूप का परिचय प्रस्तुत किया गया है। ५१ पद्यों में पूज्यपाद ने अध्यात्मसागर को गागर में भर देने की कहावत को चरितार्थ किया है। इसकी रचना का एकमात्र हेतु यही है कि संसारी आत्मा अपने स्वरूप को पहचानकर शरीर, इन्द्रिय एवं सांसारिक अन्य पदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करने लगे। असावधान बना प्राणी विषय–भोगों में ही अपने समस्त जीवन को व्यतीत न कर दे, इस दृष्टि से आचार्य ने स्वयं ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमता स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा,
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः॥[3]

इस ग्रन्थ के अध्ययन से आत्मा की शक्ति विकसित हो जाती है और स्वात्मानुभूत के आधिक्य के कारण मान–अपमान, लाभ–अलाभ, हर्ष–विषाद आदि में समताभाव प्राप्त होता है। संसार की यथार्थ स्थिति का परिज्ञान प्राप्त होने से राग, द्वेष, मोह की परिणति घटती है। इस

---

१. समाधितंत्र, पद्य ३०, वीरसेवामन्दिर–संस्करण।
२. नियमसार, गाथा ९७।
३. इष्टोपदेश, सूरत–संस्करण, पद्य ५१।

लघुकाय ग्रन्थ में समयसार की गाथाओं का सार अंकित किया गया है। शैली सरल और प्रवाहमय है।

६. जैनेन्द्र व्याकरण—श्रवणबेलगोला के अभिलेखों एवं महाकवि धनंजय के नाममाला के निर्देश से जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता पूज्यपाद सिद्ध होते हैं। गुणरत्नमहोदधि के कर्ता वर्धमान और हेमशब्दानुशासन के लघुन्यासरचयिता कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता का नाम देवनन्दि बताते हैं।

अभिलेखों से जैनेन्द्रन्यास के रचयिता भी पूज्यपाद अवगत होते हैं। पर यह ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है।

जैनेन्द्र व्याकरण के दो सूत्रपाठ उपलब्ध हैं—एक में तीन सहस्र सूत्र हैं और दूसरे में लगभग तीन हजार सात-सौ। पंडित नाथूरामजी प्रेमी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि देवनन्दि या पूज्यपाद का बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है, जिस पर अभयनन्दि ने अपनी वृत्ति लिखी है।

सिद्धिप्रियस्तोत्र

इस स्तोत्र में २६ पद्य हैं और चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है। रचना प्रौढ़ और प्रवाहयुक्त है। कवि वर्धमानस्वामी की स्तुति करता हुआ कहता है—

श्रीवर्धमानवचसा परमाकरेण
रत्नत्रयोत्तमनिधेः परमाकरेण।
कुर्वन्ति यानि मुनयोऽजनता हि तानि
वृत्तानि सन्तु सततं जनताहितानि[१]॥

यहाँ यमक का प्रयोग कर कवि ने वर्धमानस्वामी का महत्त्व प्रदर्शित किया है। 'जनताहितानि' पद विशेषरूप से विचारणीय है। वस्तुतः तीर्थंकर जननायक होते हैं और वे जनता का कल्याण करने के लिये सर्वथा प्रयत्नशील रहते हैं।

इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त पूज्यपाद के वैद्यक सम्बन्धी प्रयोग भी उपलब्ध हैं। जैनसिद्धान्तभवन आरा से 'वैद्यसारसंग्रह' नामक ग्रन्थ में कतिपय प्रयोग प्रकाशित हैं। छन्दशास्त्र सम्बन्धी भी इनका कोई ग्रन्थ रहा है, जो उपलब्ध नहीं है।

वैदुष्य एवं काव्यप्रतिभा

जीवन और जगत् के रहस्यों की व्याख्या करते हुए, मानवीय व्यापार के प्रेरक, प्रयोजनों और उसके उत्तरदायित्व की सांगोपांग विवेचना पूज्यपाद के ग्रन्थों का मूल विषय है। व्यक्तिगत जीवन

१. सप्तम गुच्छक, काव्यमाला सीरीज, सन् १९२६, पद्य २४

में कवि आत्मसंयम और आत्मशुद्धि पर बल देता है। ध्यान, पूजा, प्रार्थना एवं भक्ति को उदात्त जीवन की भूमिका के लिये आवश्यक समझता है। आचार्य पूज्यपाद की कविता में काव्यतत्त्व की अपेक्षा दर्शन और अध्यात्मतत्त्व अधिक मुखर है। शृङ्गारिक भावना के अभाव में भी भक्तिरस का शीतल जल मन और हृदय दोनों को अपूर्व शान्ति प्रदान करने की क्षमता रखता है। शब्द विषयानुसार कोमल हैं, कभी-कभी एक ही पद्य में ध्वनि का परिवर्तन भी पाया जाता है। वस्तुतः अनुराग को ही पूज्यपाद ने भक्ति कहा है और यह अनुराग मोह का रूपान्तर है। पर वीतराग के प्रति किया गया अनुराग मोह की कोटि में नहीं आता है। मोह स्वार्थपूर्ण होता है और भक्त का अनुराग निःस्वार्थ। वीतरागी से अनुराग करने का अर्थ है, तद्‌रूप होने की प्रबल आकांक्षा का उदित होना। अतएव पूज्यपाद ने सिद्धभक्ति में सिद्धरूप होने की प्रक्रिया प्रदर्शित की है।

उनके वैदुष्य का अनुमान सर्वार्थसिद्धिग्रन्थ से किया जा सकता है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि विभिन्न दर्शनों की समीक्षा कर इन्होंने अपनी विद्वत्ता प्रकट की है। निर्वचन और पदों की सार्थकता के विवेचन में आचार्य पूज्यपाद की समकक्षता कोई नहीं कर सकता है।

आचार्य पूज्यपाद ने कवि के रूप में अध्यात्म, आचार और नीति का प्रतिपादन किया है। अनुष्टुप् जैसे छोटे छन्द में गम्भीर भावों को समाहित करने का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

आचार्य पूज्यपाद ने सकल परमात्मा अर्हन्त को नमस्कार करते हुए उनकी अनेक विशेषताओं में वाणी की विशेषता भी वर्णित की है। यह विशेषता उदात्त अलंकार में निरूपित है। कवि ने बताया है कि अर्हन्त इच्छारहित हैं। अतः बोलने की इच्छा न करने पर भी निरक्षरी दिव्य-ध्वनि द्वारा प्राणियों की भलाई करते हैं, जो सकल परमात्मा की अनुभूति करने लगता है, उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात हो जाता है। अतः कवि ने सूक्ष्म के आधार पर इस चित्र का निर्माण किया है। कल्पना द्वारा भावना को अमूर्तरूप प्रदान किया गया है। धार्मिक पद्य होने पर भी, छायावादी कविता के समान सकल परमात्मा का स्पष्ट चित्र अंकित हो जाता है। काव्यकला की दृष्टि से पद्य उत्तम कोटि का है-

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारतीविभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः॥

इच्छारहित होने पर तथा बोलने का प्रयास न करने पर भी जिसकी वाणी की विभूति जगत् को सुख-शान्ति देने में समर्थ है, उस अनेक नामधारी सकल परमात्मा अर्हन्त को नमस्कार हो।

❑ ❑ ❑

विषयानुक्रमणिका

प्रतिपाद्य विषय

इष्ट का अर्थ है सुख और निराकुल एवं शाश्वत सुख मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान कारण है। इस ग्रन्थ में आचार्यदेव ने स्वात्मध्यान का सुन्दरतम उपदेश दिया है अतः इस ग्रन्थ का सार्थक नाम इष्टोपदेश रखा गया है। इस ग्रन्थ में आचार्यदेव ने निश्चय और व्यवहार इन उभय नयों को दृष्टि में रखकर आत्मा का, शरीर का, व्रत पालन का, अव्रत के फल का, धर्नाजन को परिश्रम आदि का, इन्द्रिय सुख-दुख की भ्रांति का, मोहावृत ज्ञान के फल का, संसार भ्रमण का, आत्मध्यान का, बन्ध और मोक्ष के कारणों का, ज्ञानी की अनासक्त बुद्धि का, आत्मोपकारी बनने का भेदविज्ञान के उपाय एवं उसके फल का, आत्मसंविति का, सुख-दुख के आधार का और तत्त्व के सार आदि अनेक आध्यात्मिक विषयों का सुन्दर, सरल और संक्षिप्त विवेचन किया है।

उद्देश्य

अनुपम, अद्वितीय, आध्यात्मिक कृति का प्रकाश जन–जन के हृदयाकाश को प्रकाशित करे। इस सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से जन–जन का हृदयाकाश प्रकाशित हो जाये तो वह दिन दूर नहीं होगा जिस दिन आत्मारूपी आकाश केवलज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होगा। इसी श्रेष्ठतम सर्वोच्च कल्याणकारी भावना के साथ समर्पित है इष्टोपदेश–इष्ट का उपदेश...

ॐ

आचार्यपूज्यपादस्वामीविरचितः

इष्टोपदेश

(आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा पद्यानुवाद एवं विवेचना सहित)

उत्थानिका—ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण स्वरूप प्रथम कारिका में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वप्रथम 'परमात्मा' को नमन किया है। जो जिस गुण की प्राप्ति की भावना करता है वह उन्हीं गुणयुक्त परमात्मा को नमन करता है। परमात्मा के गुणों को चाहने वाले आचार्य पूज्यपाद स्वामी स्वयं उक्त भावना से परमात्मा को नमस्कार करते हुए ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हैं–

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै सञ्ज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

अन्वयार्थ– (यस्य) जिस भगवान् के **(कृत्स्नकर्मणः)** समस्त कर्मों का **(अभावे)** अभाव हो जाने पर **(स्वयं)** अपने आप **(स्वभावाप्तिः)** स्वभाव की प्राप्ति हो गयी है **(तस्मै)** उस **(संज्ञानरूपाय)** अनन्तज्ञान स्वरूप **(परमात्मने)** परमात्मा के लिए **(नमः अस्तु)** नमस्कार हो।

जिस जीवन में पूर्ण रूप से, सब कर्मों का विलय हुआ,
उसी समय पर सहज रूप से, स्वभाव रवि का उदय हुआ।
जिसने पूरण पावन परिमल, ज्ञानरूप को वरण किया,
बार-बार बस उस परमातम, को इस मन ने नमन किया ॥१॥

He who has attained the purity of his nature by the destruction of all his *karmas* by his own effort to such an Omniscient Paramatman salutation is offered.

Note - Omniscience is the attribute of the Pure and Perfect soul, and is the most essential of qualities, which are all implied in it. In Jainism salutation is offered to Divinity not because the devotee expects any boons from the object of his veneration and worship, not because salutation is pleasing to Him who is the embodiment of all divine attributes,

not even because such salutation is itself, in any sense, the aim and object of worship, but because, the Paramatman is the Ideal of Perfection for the devotee, who want to realize it in. His own self, and because the adoration of Him who represents the Perfection of Divinity in His own pure being is the only means of attaining to it. at least in the earlier stages of the path.

विवेचना—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने ८४ पाहुड लिखे थे। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने प्राय: अध्यात्म-प्रधान ग्रन्थों की रचना की है। उन्हीं के 'आध्यात्मिक-साहित्य' का अनुकरण करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने 'सारभूत-अध्यात्म' को 'इष्टोपदेश' ग्रन्थ की कारिकाओं में लिपिबद्ध किया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने साक्षात् अध्यात्म को प्रधान करके 'समयसार' आदि ग्रन्थों की रचना की है जबकि आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने अध्यात्म की नीतियों को प्रधान करके ग्रन्थ रचना की है। भेदविज्ञान क्या है? स्व-पर भेदविज्ञान को कैसे सीखें ? भेदविज्ञान के साथ-साथ अध्यात्म को कैसे पहचाने ? जैसे प्रश्नों के उत्तर उनके साहित्य में मिलते हैं।

इस 'इष्टोपदेश' नामक लघु ग्रन्थ में ५१ छन्दों द्वारा अध्यात्मतत्त्व का वर्णन किया है। किसी भी ग्रन्थ के लेखन व पठन-पाठन के पूर्व मंगलाचरण करने की प्राचीन काल से पूर्वाचार्यों द्वारा परम्परा रही है। मंगलाचरण करना 'ग्रन्थ-लेखन' या 'पठन-पाठन' की प्रारंभिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया या परम्परा का निर्वाह करना अर्वाचीन आचार्यों का और वर्तमान लेखकों या पाठकों का परम कर्त्तव्य होता है। अत: ग्रन्थ-रचना के पूर्व आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने भी मंगलाचरण करते हुए परमात्मा को नमन किया है। कैसे 'परमात्मा' को नमन किया है? जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों के अभाव होने पर स्वयं ही, स्वभाव की प्राप्ति की है, उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप परमात्मा को नमन किया है।

इस कारिका के प्रथम चरण में "**यस्य स्वयं स्वभावाप्ति:**" का अर्थ ध्यान देने योग्य है। उसमें भी 'स्वयं' एक शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। केवलज्ञान स्वरूप परमात्म-पद को जिन्होंने स्वयं प्राप्त किया है अर्थात् साधना के पथ पर चलकर 'स्वयं' श्रम करके साध्य को प्राप्त किया है। स्वयं में परमात्म-पद को उद्घाटित किया है।

इस प्रसंग में शिष्यों को जिज्ञासा होती है कि आत्मा को स्वयं ही सम्यक्त्व केवलज्ञान आदि अष्ट गुणों की अभिव्यक्ति रूप स्वभाव की प्राप्ति किस उपाय से होती है? तथा स्वयं ही स्वरूप की प्राप्ति को सिद्ध करने वाला कोई दृष्टान्त नहीं मिलता और दृष्टान्त के बिना उक्त कथन समझ में भी नहीं आता, इसलिए इस विषय को स्पष्ट करने के लिए कोई दृष्टान्त बताइये।

आत्मा तीन प्रकार का है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। अनादिकाल से यह आत्मा

स्वयं के द्वारा अर्जित कर्मों के प्रभाव से शरीर और आत्मा के प्रति एकत्व बुद्धि को पुष्ट करता आया है। इसी एकत्व बुद्धि के कारण संसारी प्राणी शारीरिक स्तर का जीवन जीता है। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ही तत्पर रहता है। यही कारण है कि संसारी प्राणी अनेक प्रकार की भौतिक सामग्री एवं भौतिक सम्पदाओं के पीछे दौड़ लगाता रहता है। इसके फलस्वरूप चतुर्गति परिभ्रमण करता रहता है। लेकिन जब गुरु उपदेश से शरीर और आत्मतत्त्व के प्रति भेदज्ञान जागृत होता है। शरीर और आत्मा का पृथक्-पृथक् वास्तविक परिचय प्राप्त होता है फलतः वह बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनता है। अन्तरात्मा आन्तरिक आत्मतत्त्व के प्रति गाढ़ श्रद्धान करता चला जाता है। अब वह भौतिक सम्पदा नहीं किन्तु 'आध्यात्मिक-सम्पदा' के पीछे दौड़ लगाता है। 'आत्म-वैभव' क्या है? यह समझने का प्रयास करता है। वह अपने जीवन में 'परमात्मा' बनने का प्रयास करता है। इसके लिए हमेशा परमात्मा का ध्यान करता है। परमात्मा शब्द परम और आत्मा इन दो शब्दों से मिलकर बना है। परम का अर्थ श्रेष्ठ या उत्कृष्ट। आत्मा का अर्थ चैतन्यतत्त्व। अर्थात् जिसका चैतन्य तत्त्व कर्मों के प्रभाव से रहित, उत्कृष्ट शुद्ध, स्वाभाविक केवलज्ञान अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा कहलाता है।

इन तीनों में बहिरात्मा हेय तत्त्व है, अन्तरात्मा उपाय स्वरूप उपेय तत्त्व और परमात्मा उपादेय तत्त्व है। छहढालाकार ने भी तृतीय ढाल में उक्त कथन किया है–

बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर आतम हूजै।
परमातम को ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजै ॥६॥

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश ग्रन्थ में पूर्ण, उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ केवलज्ञान से युक्त परमात्मा रूपी इष्ट को नमस्कार किया है।

वैसे देखा जाये तो एकेन्द्रिय से लेकर संसार की सभी अवस्थाओं में रहने वाले जीवों का स्वभाव ज्ञान-स्वरूप है। ''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' 'द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ में शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से कहा भी है कि सभी जीव शुद्ध हैं। सभी जीव ज्ञान-स्वभावी है लेकिन वर्तमान में संसारी जीवों का ज्ञान, ज्ञानावरण-कर्म के प्रभाव से आच्छादित है और मोहनीय कर्म के प्रभाव से मलिन है। फिर भी सिद्धों जैसा पुरुषार्थ करें, तो हम भी सिद्ध सम शुद्ध, केवलज्ञान स्वरूप परमात्म तत्त्व की अभिव्यक्ति कर सकते हैं। परमानन्द का लाभ ले सकते हैं।

आज हम भी वैभाविक-प्रणाली में रहकर स्वाभाविक प्रणाली का श्रद्धान तो कर सकते हैं लेकिन वर्तमान में उसकी अनुभूति संभव नहीं हो सकती। जैसे-दरिद्र होकर भी हम सेठ-साहूकार बनने का श्रद्धान तो कर सकते हैं परन्तु सेठ-साहूकारी अवस्था का अनुभव तो नहीं कर सकते, क्योंकि जिसके पास दरिद्र अवस्था में एक कौंड़ी भी न हो अथवा जो दरिद्र अवस्था में एक कौंड़ी का भी अधिपति न हो और वह करोड़पतित्व का अनुभव करे, यह कैसे संभव है? यह तो तीन

काल में भी संभव नहीं हो सकता। हाँ, करोड़पति बनने का विश्वास किया जा सकता है। उसी प्रकार हम भी अपने ज्ञान को समीचीन ज्ञान में परिवर्तित करके, उसको केवलज्ञान के रूप में अनुभूत कर सकते हैं, ऐसा विश्वास कर सकते हैं। हमारा ज्ञान भी केवलज्ञान स्वरूप परमात्म-पद में स्थित हो इसी भावना से यहाँ मंगलाचरण में संज्ञान-स्वरूप परमात्मा को नमन किया है।

किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व इष्ट-देवता का स्मरण करना एक शिष्टाचार माना गया है। इष्ट देवता का स्मरण हमारे जीवन में पाप को या कलुषता को नष्ट कर पुण्य को या पवित्रता को प्रदान करता है। साथ ही इष्ट देव का स्मरण किसी भी कार्य की सानन्द सम्पन्नता में कारण होता है। उक्त समस्त हेतुओं का ध्यान रखते हुए मंगलाचरण किया जाता है। अतः इस ग्रन्थ में मंगल स्वरूप प्रथम कारिका प्रस्तुत की गई है।

इष्टोपदेश ग्रन्थ की इस मंगलमय कारिका में स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति होती है इस विषय पर चर्चा की गई है। इसे समझने के लिए शिष्यों की ओर से दृष्टान्त की अपेक्षा निवेदित है। उस निवेदन पर ध्यान देते हुए आचार्य भगवन्! आगे विषय को स्पष्ट करते हैं।

उत्थानिका—'स्वयं स्वभावाप्तिः' इस पद को सुनकर शिष्य के मन में जिज्ञासा हुई कि स्वयं ही स्वभाव की उपलब्धि किस उपाय से हो सकती है? इसको सिद्ध करने वाला कोई दृष्टान्त नहीं पाया जाता और बिना दृष्टान्त के किसी कथन को कैसे ठीक माना जा सकता है? अतः शिष्य की जिज्ञासा का समाधान कर दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

अन्वयार्थ— **(योग्योपादानयोगेन)** योग्य उपादान के मिलने से **(दृषदः)** जैसे स्वर्णपाषाण की **(स्वर्णता मता)** स्वर्णरूपता मानी गई है, उसी तरह **(द्रव्यादिस्वादिसम्पत्तौ)** सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल आदि कारण रूप सामग्री के मिल जाने पर **(आत्मनः अपि)** संसारी आत्मा को भी **(आत्मता)** शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति होना **(मता)** माना गया है।

स्वर्ण बने, पाषाण-स्वर्ण का, स्वर्ण-कार का हाथ रहा,
अनल-मिलन से जली मलिनता, समुचित-साधन साथ रहा।
योग्य-द्रव्य हो योग्य-क्षेत्र हो, योग्य-भाव के योग मिले,
आतम-परमातम बनता है भव-भव का संयोग टले ॥२॥

As gold in the ore is held to become pure gold on the intervention of the real causes of purification, in the same manner on the attainment to self-nature the impure (unemancipated) soul is also regarded as pure spirit.

Note - The impure ego is like gold in the state of ore; both of them possess the potentiality of attaining to purity the perfection, when rid of the adhering impurities, Smelting is the process employed to obtain pure gold from the ore, which means the removal of the non-gold that is found to be mixed up with it. A lump of ore, thus, represnts pure gold *plus* so much dorss added to it. In the same way the emancipated soul is pure Spirit *plus* so much filth or dirt (matter) adhering to it. Hence when the filth is removed by a process akin to that of smelting in the case of gold, the foreign material is separated off and self-nature attained, on the emergence of the purity of *sva-dravya* (own substance), consequent on the elimination of constituents of the not-self. The term sva-dravya (own substance) here includes the other three conceptions that are homogeneous with it, namely *sva- kala* (own-time, signifying the external states that are changing in time). *sva-kshetra* (own space, or self-sized i.e., as existing in its own expanse). and *sva-bhava* (own-feelings or own nature, i.e., internal states). These may be termed the *'sva'* quartette tecnically. The soul that is rid of the not-self exists in its own nature with respect to the *sva* quartette, while the transmigrating ego is overwhelmed with the conditions and limitations imposed by the companionship of the not-self. This may be explained in a tabulated form, as follows :-

Pure Spirti	**Conditions of existence**	**Impure ego**
Exists in His own substance	*Dravya*	Exists mixed with impurities of the nature of the not-self.
Is Divine all over	*Kshetra*	Is involved in impuitiesall over.
Abides in a form that is His own forever more.	*Kala*	Possesses a form that is liable to periodic changes on account of the liability to birth and death.
Always enjoys the bliss and blessedness, appertaining to pure Spirit	*Bhava*	Is devoid of self-feeling, and passes a joyless, cheer-less existence, generally.

विवेचना—प्रथम मंगलाचरण वाली कारिका में कल आपने सुना था कि सर्वप्रथम आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने परमात्मा को नमन किया। वह परमात्मा कैसा है? सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान स्वरूप है। वह परमात्मा अवस्था कैसे प्राप्त हुई ? सम्पूर्ण रत्नत्रय के द्वारा प्राप्त हुई। किसके द्वारा प्राप्त हुई? स्वयं के रत्नत्रय द्वारा स्वयं को प्राप्त हुई। रत्नत्रय द्वारा ऐसा क्या हुआ ? रत्नत्रय द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हुआ। सम्पूर्ण द्रव्य एवं भाव कर्मों के अभाव होने पर स्वयं स्वतंत्र परमात्म पद प्राप्त हुआ।

स्वयं के द्वारा स्वयं में परमात्म-पद की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इस विषय को समझने के लिए द्वितीय कारिका में दृष्टान्त दिया है। योग्य अर्थात् किसी भी अभीष्ट कार्य के उत्पादन में जब सक्षम उपादानकारण मिलता है तथा योग्य निमित्त का सहयोग होता है, तब अभीष्ट कार्य उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए जैसे योग्य उपादान स्वरूप 'स्वर्ण-पाषाण' के अर्थात् जिसमें स्वर्ण रूप परिणमन होने की योग्यता पाई जाती है, उसके मिलने पर ही स्वर्ण प्राप्त हो सकता है। 'सामान्य-पाषाण' में स्वर्णरूप परिणमन् की क्षमता नहीं होने के कारण उससे स्वर्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की सम्पूर्णता होने पर संसारी भव्य आत्मा स्वयं अपनी आत्म साधना से निश्चल निर्विकल्प समाधि में, अथवा आगम भाषा के अनुसार शुक्लध्यान में तल्लीन होता हुआ 'परमात्मा-कैवल्य' अवस्था को प्राप्त होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' नामक महाग्रन्थ में भी इसी प्रसंग को स्पष्ट करते हुए कुछ गाथाओं की रचना की है। गाथा नं० १३६ से १३९ तक में कहा है कि–

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया ॥१३६॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१३७॥

अर्थ यह हुआ कि ज्ञानी जीव के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं क्योंकि ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है अत: अज्ञानी जीव के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं।

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३८॥

जैसे-सोने की सिल्ली से कुण्डलादिक आभूषण बनते हैं और लोहे के टुकड़े से कड़ा आदि बनते हैं। जौ बोने पर चावल, बबूल बोने पर आम, गेहूँ बोने पर चना आ जाये, यह संभव नहीं है। फिर भी एकान्त से उपादानकारण के सदृश ही कार्य होता है ऐसा भी एकान्त नहीं है, परन्तु इतना

तो निश्चित है कि उपादानकारण मिलने पर ही कार्य होता है। जैसे किसी ने खेत में मूंग को बीज के रूप में बोया, बीज अंकुरित हुआ, पौधा आया, बेल फैल गयी। चार माह के उपरान्त फल्लियाँ आने लगीं। फिर फल्लियाँ सूखने लगीं। सोचा फसल निकाल लेना चाहिए अन्यथा खराब हो जायेगी। फसल को निकाल दिया, तैयार करके बोरी में भर दी। दुकान पर पहुँचा दी। कोई खरीदकर घर ले गया। घर में नई मूंग आ गई अतः उसने दाल बनाने का सोचा। दाल बन गई। भोजन के समय दाल का सेवन किया। अचानक बीच में कट्ट... की आवाज आयी। सोचा पत्थर तो नहीं है। देखा, तो वह मूंग निकला जो सीझा नहीं था क्योंकि वह ठर्रा मूंग था। जिसमें कुछ ऐसी वर्गणायें एकत्रित हो गयीं कि वह कभी सीझ नहीं सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि सीझने वाले मूंग से सीझने वाला मूंग ही उत्पन्न होता है ऐसा एकान्त नहीं है, किन्तु नहीं सीझने वाला ठर्रा मूंग भी उत्पन्न हो जाता है। यह तो निश्चित है कि मूंग जब भी उत्पन्न होगा तो मूंग का बीज बोने से ही होगा। चने या गेहूँ का बीज बोने से नहीं। उसी प्रकार चैतन्य भावों की उत्पत्ति पौद्गलिक भावों से नहीं हो सकती और पौद्गलिक भावों की उत्पत्ति चैतन्य परिणामों से नहीं हो सकती। चेतना रूप परिणाम चैतन्य-तत्त्व से ही उत्पन्न होते हैं और पौद्गलिक परिणाम पुद्गल-तत्त्व के परिणमन से उत्पन्न होते हैं। जैसे-मिट्टी से मिट्टी का घड़ा बनेगा, सोने से स्वर्णमय आभूषण बनेंगे, लोहे से लोहमय-सामग्री तैयार होगी। इसका अर्थ है कि योग्य उपादान के मिलने से योग्य कार्य की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार भव्य संसारी आत्मा में ही परमात्म-तत्त्व प्रकट होता है। अभव्य जीव तो ठर्रा मूंग के समान है।

उक्त कथन योग्य उपादानकारण की विवक्षा से किया गया है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने स्वयं उक्त कारिका में उपादान के साथ-साथ निमित्त की चर्चा भी की है। उन्होंने कारिका में ''द्रव्यादिस्वादिसम्पतौ आत्मनः अपि आत्मता मता'' इन दो चरणों से निमित्तपरक कथन स्पष्ट किया है क्योंकि कार्य की उत्पत्ति में मात्र उपादानकारण सक्षम नहीं होता तथा उपादान के बिना मात्र निमित्तकारण भी सक्षम नहीं होता, किन्तु उपादान और निमित्त दोनों कारणों की उपस्थिति होने पर ही कार्य निष्पादित होता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी 'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र' में सुपार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए लिखा है कि-

अलंघ्यशक्ति-र्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ॥ ७/३३ ॥

अर्थात् किसी भी कार्य के होने में अन्तरंग एवं बाह्य दोनों कारणों का होना आवश्यक है। अन्तरंग अर्थात् उपादान और बाह्य अर्थात् निमित्त, इन दो कारणों से उत्पन्न होने वाले कार्य की ज्ञापक भवितव्यता को कोई टाल नहीं सकता। भगवान् वासुपूज्य स्वामी की स्तुति करते हुए भी उन्होंने इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है।

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं, कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ॥१२/६० ॥

हे भगवन्! आपके मत में घट-पट आदि कार्यों में यह जो बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की समग्रता है, वह द्रव्यगत स्वभाव है। इसके अतिरिक्त कार्य निष्पादन की अन्य कोई दूसरी विधि नहीं है। जैसे-खान से निकला स्वर्ण-पाषाण तभी शुद्ध स्वर्ण बनता है जबकि स्वर्ण बनने योग्य एवं बनाने योग्य, उपादान एवं निमित्तकारणों का संयोग मिलता है। स्वर्ण-पाषाण स्वयं उपादानकारण है और उसको शुद्ध करने के लिए अथवा स्वर्ण पाषाण की मलिनता को दूर करने के लिए स्वर्णकार एवं अग्नि आदि सहायक कारण होते हैं। बिना स्वर्णकार के कभी भी शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार संसारी भव्य आत्मा भी परमात्मा तभी बन सकता है जबकि उसको सुयोग्य द्रव्य अर्थात् कुलीन मनुष्यभव, योग्यक्षेत्र कर्मभूमि, योग्यकाल दुःषमासुषमाकाल तथा योग्यभाव श्रेणी-मुक्ति प्राप्ति के योग्य क्षपक श्रेणी, यथाख्यात-चारित्र, शुद्धोपयोग, निर्विकल्प समाधि एवं शुक्लध्यान स्वरूप भाव या परिणाम की प्राप्ति होती है। सुद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये सभी निमित्तकारण हैं और संसारी भव्य आत्मा उपादानकारण है। पाँच लब्धियों में से देशना-लब्धि अर्थात् गुरु का उपदेश आदि भी परम आवश्यक सहयोगी कारण है। मनुष्य भव, वज्रवृषभनाराच संहनन, चतुर्थ काल आदि ये सभी निमित्तकारण हैं। दोनों प्रकार के कारण मिलने पर ही मुक्ति स्वरूप परम शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है।

जैसा कि आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने स्वयं प्रथम कारिका में ही 'स्वयं स्वभावाप्तिः' एवं 'अभावे कृत्स्नकर्मणः' इन दो पदों के द्वारा उपादान एवं निमित्तकारणों की चर्चा की है। स्वयं में स्वभाव की प्राप्ति होना, यह वाक्य उपादानकारण की ओर संकेत है तथा सम्पूर्ण कर्मों के अभाव होने पर, यह वाक्य निमित्तकारण की ओर संकेत है। फिर भी प्रश्न होता है कि सम्पूर्ण कर्मों का अभाव कैसे होता है? संवर-निर्जरा के द्वारा होता है। संवर-निर्जरा किसके द्वारा होती है?

आचार्य उमास्वामी जी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के नौवें अध्याय में एक सूत्र लिखा है- 'तपसा निर्जरा च ॥ ९/३ ॥' तप के द्वारा संवर और निर्जरा होती है। एक सूत्र और लिखा है-

स गुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ ९/२ ॥

वह संवर एवं निर्जरा गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय एवं चारित्र के द्वारा होती है। ये सभी निमित्तकारण हैं।

कहने का तात्पर्य यही है कि किसी भी कार्य के निष्पादन में उपादान एवं निमित्त की मित्रता आवश्यक होती है। जैसे-यद्यपि लोक में प्रसिद्ध है और किसान भी कहता है कि मैंने खेती बोई परन्तु विचार कीजिये कि यदि इस बात को बैल सुनेगा तो बेचारे के हृदय पर क्या बीतेगा! उसने खून पसीना एक कर डाला पर तनिक भी श्रेय नहीं दिया। यह किसान अपने अहंकार में अंधा हो

गया। किसी दूसरे की मेहनत को मेहनत ही नहीं समझता। इस प्रकार विचार करता हुआ बैल रूठ जाये तो क्या हो ? किसान का सारा अहंकार पानी बनकर बह जायेगा और आखिर उस बैल से सुलह करनी पड़ेगी। किसान को कहना पड़ेगा कि अच्छा भाई! बिगड़ मत, क्षमा कर, गलती हुई। इस कार्य में आधा साझा तेरा स्वीकार किया। चल उठ अब। इसी प्रकार हल से, कुँए से, रहट से, पानी से, मिट्टी से और बीज से सुलह करते-करते किसान को पता चल जायेगा कि उसने खेती में कितना काम किया। कहने का तात्पर्य यह है कि किसान ने खेती की, इसमें मात्र किसान का नहीं किन्तु हल, बैल, रहट, कुँए, पानी, मिट्टी आदि सभी के सहयोग का हिस्सा है, परन्तु इनमें से अन्न उत्पन्न करने में सबसे अधिक सहयोग तो वास्तव में किसान का ही है। खेती का काम एक का नहीं सबका है। किसान की ज्ञान-शक्ति का काम केवल मैं अन्न उत्पादन करूँ, इतना ही रहता है। लेकिन उसके शरीर से जो कार्य का सहयोग रहता है, वह उसके उस विकल्प को साकार रूप देता है। फिर भी कार्यकारण की व्यवस्था की दृष्टि से देखें तो किसान से लेकर पानी, मिट्टी, हल, बैल आदि सभी फसल पैदा करने में निमित्तकारण ही हैं। खेती होने में या फसल पैदा होने में उपादानकारण तो बीज है। एक बात यह है कि बीज बोये बिना इन सभी निमित्तकारणों से फसल नहीं आ सकती। तो दूसरी भी बात निश्चित है कि बीज तो है परन्तु सहायक कारणों में से एक भी कम हो जाये तो फसल पैदा नहीं हो सकती।

किसी भी कार्य में निमित्तकारणों की अपनी एक सीमा होती है, जिसको वह ही कर सकता है। जैसे हल का कार्य हल ही कर सकता है, बैल का कार्य बैल ही कर सकता है। बैल का कार्य हल और हल का कार्य बैल कभी नहीं कर सकता। उपादानकारण की भी सीमा होती है जैसे बीज का कार्य मिट्टी और मिट्टी का कार्य बीज नहीं कर सकता। किसान का कार्य बीज नहीं कर सकता और बीज का कार्य किसान नहीं कर सकता।

अतः उक्त दोनों कारणों की अपेक्षा उपादान एवं निमित्त दोनों दृष्टियाँ अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। जैनदर्शन अनेकान्त स्वरूप है। इसको एकान्त दृष्टि से नहीं समझा जा सकता। अनेकान्त दर्शन को अनेकान्त दृष्टि या स्याद्वाद शैली से समझा जा सकता है। जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था का समुचित कथन किया गया है। इसमें किसी एक निमित्तकारण को जितना महत्त्व दिया जाता है तो दूसरे उपादानकारण को भी उतना ही महत्त्व दिया जाता है। अंतिम निष्कर्ष रूप से यही कह सकते हैं कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति में उपादान और निमित्त दोनों कारणों की समन्विति अनिवार्य है।

चूँकि उक्त प्रथम श्लोक में उपादान की मुख्यता से शंका-समाधान सम्बन्धी कथन किया गया है और उपादान की दृष्टि से दूसरे श्लोक में स्वर्ण पाषाण का दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया है।

उत्थानिका—इस कथन को सुनकर शिष्य कहता है कि भगवन्! यदि सुयोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप सामग्री मिलने मात्र से ही परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होती है, तब फिर व्रत, समिति आदि का पालन करना निष्फल हो जायेगा। अतः व्रतों का पालन करने हेतु व्यर्थ में ही शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ ? उसी प्रश्न का समाधान देते हुए आचार्य आगे का श्लोक कहते हैं–

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

अन्वयार्थ– **(व्रतैः)** व्रतों के द्वारा **(दैवं पदं)** देवपद पाना **(वरं)** अच्छा है (किन्तु) **(वत)** खेद है! **(अव्रतैः)** अव्रतों के द्वारा **(नारकं)** नरक में उत्पन्न होना **(न)** अच्छा नहीं है क्योंकि **(छायातपस्थयोः)** छाया और धूप में स्थित व्यक्तियों के समान **(प्रतिपालयतोः)** प्रतीक्षारत पुरुषों में **(महान् भेदः)** बड़ा भारी अन्तर है ।

व्रत-पालन से सुर-पुर में जा, सुर-पद पाना इष्ट रहा,
पर व्रत बिन नरकों में गिरना, खेद! किसे वह इष्ट रहा।
घनी छाँव में, घनी धूप में, थित हो अन्तर पहिचानो,
अरे! हितैषी व्रताव्रतों में कितना अन्तर तुम मानो ॥३॥

Observance of vows leads to birth in the heavens, therefore their observance is proper; the vowless life drags one to a birth in the hells, which is painful; therefore, vowlessness should be avoided; when two persons are waiting for the arrival of another person, but one of them waits in the heat of the sun and the other in the shade, great is the difference between the conditions; precisely the same difference is to be found between the condition of him who leads a life regulated by the vows and of him whose life is not so regulated.

Note - In the last verse divinity is said to be the natural attribute of the soul which arises from within its own self on the occurrence of the helpful causes of Self-realization. Naturally enough the question now arises: Why should one take the trouble of observing vows and otherwise subjecting oneself to a life of austerities and hardships, considering that Divinity be obtained without undergoing penances and without vows ? The reply is given here in this verse. Painful, at times very painful, indeed, is the life which results from the non-observance of vows. One might even descend into hells which is the most undsirable condition of existence. On the other

hand, the observance of vows leads to very happy and desirable conditions, including a birth in the heavens. Therefore the *acharya* says that the difference between the soul that leading a well regulated life and the one whose life is not so regulated is precisely that between the condition of the man who is waiting for the arrival of a companion in the heat of the day, exposed to hot winds and the burning glare of the sun, and of him who is also awaiting the arrival of the same person but in a cool and shady grove.

Metaphysically of course, the helpful potent causes themselves include the observance of vows and the suffering of hardships at a certain stage of advancement; for without them the kormic filth cannot be separated from the soul. But the great thing to note about the observance of vows and the suffering of hardships is this that they appear to be irksome and unpleasant only when thought of or looked at from a distance. When one is imbued with the right Faith one realises at once the necessity of a well-regulated life and actually longs for the perfection of character through suffering and self-denial, And the task does not then appear to be burdensome, but is cheerfully accepted as the surest means of the acquisition of that joyous feeling of self-elevation which is dear to the heart of every aspirant on the path. That virtue is its own reward, is a saying the truth of which is not realized except by him whose life is characterzed by self-imposed suffering in the name of Duty and *Dharma.*

विवेचना—आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी उक्त शंका का परिहार करते हुए एवं अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करते हुए कहते हैं कि जब तक उपादान में योग्यता नहीं होती, तब तक कार्य की सिद्धि नहीं होती। जैसे ही यह कथन किया गया तो सहज ही प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो व्रतादि पालन रूप साधना का पुरुषार्थ करने की क्या जरूरत है? उपादान की योग्यता होगी तो आत्मा परमात्मा बन जायेगा ? शिष्य के इस कथन पर आचार्य कहते हैं कि वस्तु व्यवस्था इस प्रकार नहीं है, किन्तु वस्तु व्यवस्था तो यह है कि उपादान के साथ-साथ निमित्तरूप व्रतादि पालन करने की साधना या पुरुषार्थ भी आवश्यक है क्योंकि बिना साधना के साध्य की सिद्धि नहीं होती।

उपादान का अर्थ कार्य नहीं है, किन्तु कार्य रूप ढलने की योग्यता है। जिसे अन्तरंग कारण कहते हैं तथा कार्य रूप ढलने में जो भी अन्य सामग्री सहयोगी होती है उसे निमित्त या बहिरंग कारण कहते हैं। इन दोनों कारणों की संगति होने पर ही कार्य सिद्ध होता है।

आचार्य महाराज शिष्य से पुनः कहते हैं कि हे वत्स! तुमने जो यह शंका की है कि व्रतादिकों

का परिपालन निरर्थक हो जायेगा, ऐसा कहना उचित नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि व्रतादिकों का पालन करने से नवीन पुण्यबन्ध तो होता है, साथ में पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का एकदेश क्षय अर्थात् निर्जरा भी होती है। यह निर्जरा परम्परा से मुक्ति का कारण होती है। व्रतादिकों के पालन से नवीन पाप का आस्रव भी रुकता है। अतः तत्सम्बन्धी संवर भी परम्परा से मुक्ति का कारण होता है। इसलिए जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक मोक्ष का साक्षात् कारण शुद्धोपयोग और शुद्धोपयोग का कारण व्रतादि पालन रूप शुभोपयोग का होना भी अनिवार्य है। इसके बिना शुद्धोपयोग की भूमिका भी नहीं बनती। इसलिए व्रतादि का पालन करने से स्वर्ग जाना फिर भी श्रेष्ठ है किन्तु अविरति के साथ, असंयम के साथ नरक में जाना श्रेष्ठ नहीं है। इसी बात को एक दृष्टान्त द्वारा समझने का प्रयास किया गया है।

जैसे–कोई दो पथिकों ने अपने कार्यवश नगर के अंदर जाने का विचार किया। अपने–अपने कार्यवश दोनों पथिक नगर की ओर जाते हैं। गर्मी का मौसम है। चलते–चलते थक जाते हैं। अपने कार्यवश वापस लौटने वाले तृतीय मित्र की प्रतीक्षा में दोनों पथिक रुक जाते हैं। जब तक तृतीय मित्र आता है तब तक के लिए दोनों पथिकों में से एक तो वृक्ष की छाँव में सुख–पूर्वक विश्राम करता है। दूसरा कष्ट के साथ धूप की पीड़ा सहते हुए धूप में ही खड़ा रहता है। जिस प्रकार इन दोनों पथिकों के बीच प्रतीक्षा करने के स्थान का चयन करने में महान् अन्तर है। उसी प्रकार जब तक संसारी भव्य प्राणी की मुक्ति प्राप्ति में कारणभूत योग्य उत्तम द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव आदि की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उनकी प्रतीक्षा हेतु सुगति या दुर्गति कहीं भी रह सकता है। लेकिन असंयम, पाप आदि का आश्रय लेकर दुःखमय नरक में दुःख पूर्वक रहने की अपेक्षा व्रत, संयम, समिति आदि का परिपालन करके स्वर्ग में सुख पूर्वक रहना श्रेष्ठ है।

यदि कोई कहे कि व्रतादि का पालन करने से पुण्य का अर्जन होता है अथवा पुण्यबन्ध होता है और अव्रत, असंयम आदि के निमित्त से पाप का बन्ध होता है अतः बन्ध की विवक्षा में देखा जाये, तो दोनों में साम्यता है, क्योंकि दोनों ही बन्ध तत्त्व से दूर नहीं हैं। दोनों ही संसार में हैं, दोनों की ही मुक्ति नहीं होगी, दोनों ही कर्मों के फल का अनुभव कर रहे हैं। आगे भी सुख या दुःख का अनुभव करेंगे। अतः दोनों में समानता है। ऐसा कहने वालों के प्रति आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने 'वत' शब्द से खेद प्रकट किया है। साथ में उक्त दृष्टान्त द्वारा समझाने का प्रयास भी किया है। अतः व्रतादिक का पालन करना निरर्थक नहीं है, किन्तु सार्थक है।

हालाँकि मुक्ति प्राप्त करने का जिसका लक्ष्य है उसे स्वर्ग–नरक दोनों में शांति नहीं है। फिर भी मैं आप लोगों से पूछता हूँ कि आपके एक हाथ में घी का घट है और दूसरे हाथ में छाछ का घट है। आप दोनों हाथों में घट लेकर मार्ग में चल रहे हैं। चलते–चलते पैरों में पत्थर की ठोकर लग गई। आप गिर गये। दोनों हाथों से दोनों घट भी गिर गये। अब आप मुझे बताइये कि उन गिरे हुए

दोनों घड़ों में से आप सर्वप्रथम किस घड़े को सम्हालोगे ? सोचो, विचार करो और मुझे उत्तर दीजिये। पहले छाछ के घड़े को सम्हालोगे क्या ? नहीं महाराज ? ये तो सभी लोग जानते हैं कि पहले घी का घड़ा सम्हालेंगे, इसमें पूछने की कोई बात ही नहीं है, यह तो एक छोटा सा बालक भी जानता है। उसी प्रकार जब मोक्ष प्राप्त होगा तो होगा। लेकिन जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो रहा तब तक आपके सामने दो प्रकार के जीवन हैं। एक तो व्रत, संयम, सदाचार आदि के द्वारा सुख सुविधा युक्त स्वर्ग की प्राप्ति करना और दूसरा अनादि काल से चले आ रहे असंयम, पाप, अनाचार, अत्याचार आदि के द्वारा दुःख दुविधाओं से सहित नारकी जीवन को पाना। इन दोनों में से आप कौन सा जीवन प्राप्त करना चाहोगे ? आचार्य महाराज! हम सभी एक मत से कहते हैं कि हम लोगों को जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होगा उसके बीच आनन्दमय एवं सुख सुविधा वाले स्वर्ग सम्बन्धी जीवन प्राप्त हो ऐसा चाहते हैं। आप ही बताइये महाराज! कि कौन ऐसा मूर्ख है जो नरक के जीवन को चाहेगा ? इसीलिए तो आचार्य पूज्यपाद महाराज कह रहे हैं कि यदि स्वर्ग प्राप्त करना चाहते हो तो व्रतादि का पालन करो इसी में जीवन की सार्थकता है क्योंकि स्वर्ग प्राप्त करने के लिए पुण्य चाहिए। पुण्य की प्राप्ति व्रतादि के पालने से होती है। अतः व्रतों का परिपालन निरर्थक नहीं है लेकिन जो व्रतादि के परिपालन को निरर्थक बताते हैं, यह उनका अज्ञान हो सकता है।

एक विशेष बात और ध्यान रखना कि व्रतादि पालन से मात्र पुण्यबन्ध नहीं होता किन्तु मुक्ति प्राप्ति में कारणभूत पाप का संवर एवं उसकी निर्जरा भी होती है अतः व्रतादि का पालन परम्परा से मोक्ष का कारण भी होता है।

उत्थानिका—शंका का निराकरण करते हुए आचार्य बोले-''व्रतादिकों का आचरण करना निरर्थक नहीं है'' (अर्थात् सार्थक है)। इतनी ही बात नहीं, किन्तु आत्म भक्ति को अयुक्त बतलाना भी ठीक नहीं है। इसी कथन की पुष्टि करते हुए आगे श्लोक लिखते हैं–

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ?॥४॥

अन्वयार्थ— **(यत्र भावः)** जहाँ भाव **(शिवं दत्ते)** मोक्ष को देता है [वहाँ] **(द्यौः)** स्वर्ग की प्राप्ति **(कियद्दूरवर्तिनी)** कितनी दूर है ? **(यः गव्यूतिं)** जो मनुष्य दो कोश तक **(आशु नयति)** [भार को] शीघ्र ले जाता है। **(सः)** वह **(क्रोशार्धे)** आधा कोश ले जाने में **(किं सीदति)** क्या दुःखी हो सकता है ? अर्थात् नहीं।

जिन-भावों से नियम रूप से, मिलता है जब शिवपुर है,
उन भावों से भला! बता दो, क्या? ना मिलता सुर-पुर है।
द्रुतगति से जो वाहन यात्रा, कई योजनों की करता,
अर्ध-कोश की यात्रा करने, में भी क्या? वह है डरता ॥४॥

The soul that is capable of conferring the divine status when meditated upon, how far can the heavens be from him ? Can the man who is able to carry a load to a distance of two *koses* feel tired when carrying it only half a *kos* ?

Note - This verse is intended to settle the doubt that might now arise in the mind as to the respective merits of self-contemplation and the observance of vows. especially in regard to the ability of the former to secure a rebirth in the heavenly-regions. The answer is that the soul's contemplation cant grant both *moksha* as well as heavens, which are much nearer so to speak; since he who can easily cover a distance of four miles with out being fatigued is not likely to experience trouble in going only a mile. Self-contemplation thus, is much superior to the mere observance of vows, though the latter are able to lead to heavens for the time being.

विवेचना–जिन भावों के द्वारा मुक्ति का लाभ होता है उनके द्वारा स्वर्ग प्राप्ति की बात सोच रहे हो! यह अपने आपमें एक विरोधाभास है, क्योंकि जिसके द्वारा महान् वस्तु का लाभ होता है, उसके द्वारा जघन्य वस्तु की प्राप्ति की बात तो सोचना ही नहीं चाहिए। यह निश्चित बात है कि रत्नत्रय के द्वारा यदि अलौकिक वस्तु मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती तो स्वर्ग की प्राप्ति तो अवश्य ही होगी। वहाँ पर भी सामान्य देव नहीं, देवेन्द्र बन सकता है।

जैसा कि आचार्य समन्तभद्रस्वामी जी ने अपनी अनुपम कृति रत्नकरण्डक श्रावकाचार में लिखा है–

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं,
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयं।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं,
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥

सम्यग्दृष्टि जीव देवेन्द्र, चक्रवर्ती जिसके संकेत पर ३२००० मुकुटबद्ध राजा कार्य करते हैं, मनचाही चीज उनके चरणों में समर्पित करते हैं, उसके साथ ही एक बड़ा पद धर्मेन्द्र-चक्र का भी है जो तीनलोक में तहलका मचाने वाला होता है। सारे के सारे आकर्षण के केन्द्र जिसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। रूप की अपेक्षा, भवितव्य की अपेक्षा, लाभ, हुकुमत, वैभव की अपेक्षा, ज्ञान के क्षयोपशम की अपेक्षा आदि जो कोई भी अच्छी वस्तुयें हैं वे सारी की सारी केन्द्रित हो जाती है, आश्रय पा जाती हैं, जिस प्रकार ढलान पर पानी डालो तो लुढ़कता चला जाता है, उसी प्रकार तीन लोक का सारा वैभव लुढ़कते-लुढ़कते जिनके चरणों में आश्रय पा जाता है ऐसे उस धर्मेन्द्र अर्थात्

तीर्थंकर पद को सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त करता है।

तीर्थंकर का अर्थ समझते हो...? जिससे संसार से तिरा जाये उसे तीर्थ कहते हैं। ऐसे तीर्थ के जो निर्माता या सम्पादक होते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। जिनके जन्म से ही तीर्थ प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ तक की अभी वे स्वर्गों में ही हैं किन्तु मनुष्य लोक में सुख शांति का विस्तार प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि वे तीन लोक के नाथ माने जाते हैं। छः खण्ड के अधिपति चक्रवर्ती माने जाते हैं, लेकिन तीर्थंकर तीन लोक के अधिपति माने जाते हैं। वे लोक को एक प्रकार से हिला देते हैं। संसार का पूरा वैभव उनके पास होता है। नहीं चाहते हुए भी सारा वैभव उनके पास आ जाता है। ऐसा क्यों...? उन्होंने धर्म की साधना की है, साधना करने वालों को अनेक प्रकार का श्रेय मिलता है और फिर, तीर्थंकरों के द्वारा जो साधना, उपासना होती है वह तो अद्‌भुत और अलौकिक होती है। तीर्थंकरों के वर्तमान काल में तो साधना होती ही हैं लेकिन अतीत में भी उन्होंने ऐसी-ऐसी भावनायें भायी कि सभी प्रजा का, राजाओं का कल्याण हो। सभी सत्पथ पर चले, सभी को ऐसा दिव्यनेत्र प्राप्त हो जिसके द्वारा वे अपनी आत्मा का अवलोकन कर सकें। सोलहकारण भावनाओं के फलस्वरूप तीर्थंकरत्व प्राप्त होता है। बारह भावना और सोलहकारण भावना में बहुत अन्तर होता है। ''बारहभावना वैराग्य प्राप्ति के लिए कारण होती है, लेकिन सोलहकारण भावना वैराग्य के वातावरण के निर्माण में कारण होती है।''

तीर्थंकर का जीवन एक ऐसे मंच के समान होता है जिसमें बहुत सारे आकर्षण केन्द्र होते हैं, जिसके फलस्वरूप असंख्यात जीव एक साथ अपना कल्याण कर लेते हैं। धार्मिक भावना भाने से इस प्रकार के पद मिलते हैं, साथ में विषय और कषायों से बचने से ऐसे परिणाम निकलते हैं। केवल विषयों से बचने का नाम सम्यक्चारित्र नहीं है, किन्तु विषय और कषायों से बचने का नाम चारित्र है। हालांकि विषयों से बचने से व्यक्ति कषायों से भी बच जाता है और विषयों के सामने रहने से कषायें उद्दीप्त हो जाती है। कषायों के उद्दीप्त होने से हमारे परिणाम क्षुब्ध हो जाते हैं। परिणाम क्षुब्ध होने से हमारा भविष्य बिगड़ जाता है। इसलिए कषायों से बचने के लिए विषयों से बचना आवश्यक है। रत्नत्रय की आराधना करने का मुख्य लक्ष्य भी यही होता है कि जब तक संसार में हैं तब तक विषय-कषायों से बचें। ऐसा करने से रत्नत्रय का आराधक निश्चित रूप से शिवफल को प्राप्त कर सकता है जब तक शिवफल नहीं मिलता तब तक के लिए बीच में देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों के रूप में फल को प्राप्त करता है, इसी को 'लब्ध्वा' इस शब्द से स्पष्ट किया है कि जिनेन्द्र भगवान् का जो भक्त होता है, वह क्या करता है? इन समस्त पदों को प्राप्त करता हुआ, अन्त में शिवपद को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—जिनेन्द्र भगवान् का भक्त क्या करता है?

उत्तर—जिनेन्द्र भगवान् का भक्त भगवान् की भक्ति करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करके देवेन्द्र,

राजेन्द्र–चक्रवर्ती आदि पदों को प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसे बुद्धिमन्त महान् दार्शनिक ने अपनी कृति ''रत्नकरण्डक श्रावकाचार'' में सम्यग्दर्शन का महत्त्व दर्शाते हुए अनेक श्लोकों की रचना की है। उन्होंने कहा है कि–संसारी प्राणी अनन्तसुख चाहते हुए भी सम्यग्दर्शन के द्वारा सांसारिक सुख मिलता है या नहीं, यह भी देखना चाहता है। आचार्य महाराज ने कहा–जिसके द्वारा मुक्ति मिलेगी उसके द्वारा भुक्ति क्यों न मिलेगी, लेकिन लक्ष्य भुक्ति का नहीं मुक्ति का होना चाहिए। यदि भुक्ति का लक्ष्य होता है तो मुक्ति नहीं मिलेगी। मुक्ति का साधन रूप भुक्ति तभी तक आवश्यक है जब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि भुक्ति एक प्रकार से पेट्रोल का काम करती है। आप गाड़ी क्यों खरीद लेते हैं? पेट्रोल डालने की अपेक्षा से या यात्रा करने की अपेक्षा से ? उसी प्रकार आचार्य कहते हैं मुक्ति की यात्रा के लिए भक्ति और भुक्ति रूपी पेट्रोल स्वतः ही मिलेगा। कंपनी से गाड़ी निकलने से पहले उसकी खुराक उसमें रखी रहती है फिर बाद में गाड़ी बाहर आती है क्योंकि बिना पेट्रोल के गाड़ी बाहर कैसे निकलेगी ? पेट्रोल तो पहले आवश्यक है। जिसको सामने मुक्ति नजर आ रही है उसको तो हमेशा मुक्ति के लिए भक्ति करते चले जाना चाहिए, भुक्ति रूपी पेट्रोल स्वयं मिलता चला जायेगा इसलिए पेट्रोल की चिंता मत करो, यात्रा की चिंता करो।

हिन्दू समाज में तो ऐसा कहते हैं कि फल की इच्छा न करते हुए कर्म करते जाना चाहिए। एक ज्ञानयोग होता है और एक कर्मयोग। ज्ञानयोग साधु संन्यासियों को होता है और कर्मयोग उनके अनुचरों को होता है, जो घरों में रहते हैं। वे कर्म तो करेंगे लेकिन फल की ओर दृष्टि नहीं रखेंगे। महाराज! यह तो और कठिन है। सब जगह कठिनाई ही कठिनाई है। घर में भी कठिनाई और बाहर भी कठिनाई।

आप सामायिक नहीं कर सकते हैं, तो रसोई बनाओ, लेकिन एक शर्त है कि जो सामायिक करते हैं, उनका भोजन जब तक नहीं होगा तब तक तुम भी भोजन नहीं कर सकते। यह तो बहुत बड़ी शर्त हो गई। रसोई घर में रहना और भोजन नहीं करना। मंदिर में रहो या घर में रहो, लेकिन भोजन नहीं करो। किसी श्रावक को यदि यह स्वीकार होता है और वह सामायिक करने वाले को भोजन कराने के उपरान्त स्वयं भोजन करता है तो परिणाम रूप से हम यह कह सकते हैं कि पहले वह मोह के कारण भोजन बनाता था, अब वह भक्ति के कारण बना रहा है। अतिथि के लिए, व्रतियों के लिए भोजन बना रहा है इसलिए पहले स्वयं भोजन नहीं करता, अतिथि को आहार देकर स्वयं संतुष्ट हो जाता है। वह सोचता है आज जो अतिथि सत्कार का शुभ अवसर प्राप्त हुआ, आज यह मेहमान हमारे घर आये हैं, अतिथि आये उनको आहार करा दिया अब हम भोजन कर लेंगे।

इस विवेचना से अपने को यह देखना कि सामने इन्द्रियों के विषय उपस्थित होने के बाद भी उसका मन कैसे पलट गया ? यह इसलिए पलट गया कि अतिथि के आने से मुक्ति सामने होते हुए

भी भक्ति की ओर मन चला जाता है और श्रावक ऐसा आनंदित होता हुआ कहता है कि हम तो ऐसा हमेशा करने के लिए तैयार हैं। अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरुक हो जाता है। वह सोचता है कि अब मुझे और कौन सी इच्छा करनी है। बस मेहमान को तृप्त करने की भावना है और साधु की भक्ति करने में लग जाता है। हाँ इसी भक्ति के माध्यम से वह ''लब्ध्वा शिवं च'' अर्थात् इन्द्र का वैभव पा जाता है। नीचे आने पर चक्रवर्ती, बलभद्र या तीर्थंकर हो जाता है। तीर्थंकर पद तीन लोक के वैभवशाली पदों में अंतिम पद है। यह वैभवशाली पद चाहने से नहीं मिलता, निदान के माध्यम से चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण पद तो मिल सकते हैं, पर तीर्थंकर का पद निदान से नहीं मिलता, ऐसा पुराणों में उल्लेख है। यदि सोलहकारण भावना भा लेते हैं और तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध कर लेते हैं तो निश्चित रूप से इस प्रकार के पद की प्राप्ति हो सकती है। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण बनने के लिए पूर्व में निश्चित रूप से मुनि पद धारण करके रत्नत्रय की आराधना आवश्यक है, परन्तु तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध के लिए मुनि पद धारण करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन सम्यग्दर्शन होना अनिवार्य है और सम्यग्दर्शन के साथ सोहलकारण भावना भाना भी आवश्यक है। कैसी भावना ? निर्दोष भावना भायी जाती है दर्शनविशुद्धि आदि। दर्शन के प्रति विशुद्धि का अर्थ क्या ? क्या केवल सम्यग्दृष्टि की भावना निर्दोष मानी जायेगी ? क्या क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर सकता है? नहीं-नहीं ऐसा कुछ भी नहीं है क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि भी निर्दोष सोलहकारण भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर सकते हैं। राम को तीर्थंकर होने का सौभाग्य नहीं मिला लेकिन रावण, लक्ष्मण को मिलेगा यह निश्चित हो गया। सोचने की बात है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम उस प्रकार के भाव नहीं कर पाये जबकि उनको परोपकारी, परिश्रमी, निरीह, प्रेम-वात्सल्य युक्त, प्रजावत्सल आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थीं। इससे यह फलित होता है कि सम्यग्दर्शन अकेला रहकर भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करा सकता है, किन्तु नारायण, प्रतिनारायण पद प्राप्त करने के लिए पूर्व में निश्चित रूप से मुनि बनना पड़ता है।

अन्ततः यह अर्थ निकलता है कि भक्ति भाव के द्वारा उस सम्यग्दृष्टि को जब तक मुक्ति नहीं मिलती तब तक उच्च पदों को प्राप्त करता है, पश्चात् अगले भवों में निश्चित ही शिव को प्राप्त करने के योग्य होता है। यदि किसी के यहाँ आप मेहमानी को चले गये, भोजन का समय है और कोई यह कहे कि हमारे दादाजी बारह बजे आयेंगे। तब तक क्या मेहमान को भूखा रखेंगे ? इसके बीच मेहमान को नाश्ता का प्रबन्ध किया जाता है ताकि उसकी भूख न मर पाये। नाश्ता पेट भर नहीं करवाते अन्यथा बारह बजे भोजन कैसे करेंगे ? नाश्ता में आस्था नहीं, किन्तु भोजन में आस्था होती है और भोजन में आस्था बनाये रखने के लिए नाश्ता होता है। उसी प्रकार मुक्तिरूपी भोजन प्राप्त करने की आस्था बनाये रखने के लिए भक्ति रूपी नाश्ता के प्रति आस्था बनाये रखना आवश्यक

होता है। उस भक्ति के फलस्वरूप उसे वर्तमान में मुक्ति की प्राप्ति भले ही न हो पर नाश्ते के रूप में स्वर्ग आदि उच्च पदों की प्राप्ति अवश्य होती है। देखो, संसार में रहते हुए भी यदि किसी का लक्ष्य बदल जाता है तो कितना परिवर्तन आ जाता है। सारे के सारे भोग व्यर्थ हो जाते हैं। सारे के सारे रोग चले जाते हैं तथा सामने योग की तैयारी हो जाती है। रोग तो शरीर में है आत्मा में नहीं। देखो, दृष्टि कितनी बदल गई, बहुत परिवर्तन हो जाता है। वह योगी सोचता है कि ये रोग तो शरीर के हैं, भोग आत्मा के लिए नहीं हैं। यह तो शरीर बनाये रखने के लिए हैं लेकिन भोग तो आत्मा की शुद्धिकरण के लिए हैं। इस प्रकार जब दृष्टि में परिवर्तन आ जाता है तब वह निश्चित रूप से संसार में रहते हुए भी विषय-कषायों से बचता चला जाता है।

महाराज! आज कुछ ऐसे व्यक्तित्व भी देखने को मिलते हैं कि जब-जब देखो उसमें देवता का रूप ही दिखाई देता है। कषाय की भूमिका में रहते हुए भी कषाय नहीं करता है, इसी का नाम तो देवता है, मंदकषायी है। भरत घर में वैरागी थे, तो उनको पूजना चाहिए था, ऐसा नहीं। वैरागी का मतलब यह है कि इतना सारा का सारा वैभव बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजा, सब कुछ होते हुए भी वे भगवद्भक्ति करना नहीं भूलते थे, चक्रवर्ती थे, अविरति थे, संयम से बिल्कुल दूर थे ''गेही पे गृह में न रचे ज्यों'' प्रवृत्ति वाले थे। महापुराण में भरत चक्रवर्ती का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे तीनों सन्ध्याकालों में सामायिक करने बैठ जाते थे। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणों में बैठ जाते थे और भरत चक्रवर्ती तीनों संध्याओं में सामायिक करने बैठ जाते थे। संयमी मुनिराज ही भगवान् की भक्ति और सामायिक आदि करते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। भरत चक्रवर्ती स्वयं उत्साहित होकर सामायिक के लिए उठते थे। तुम्हें उठाना पड़ता है लेकिन चक्रवर्ती को उठाना नहीं पड़ता।

ब्रह्ममुहूर्त में उठने वाले महापुरुष होते हैं और उसमें सोने वाले कौन होते हैं? सोचो, आलसी, प्रमादी होंगे। उन्हें यह सब वैभव प्राप्त नहीं होता। चक्रवर्ती होते हुए भी तीनों संध्या कालों में तीन लोक के नाथ आदिनाथ भगवान् की स्तुति में लीन हो जाते हैं। आष्टाह्निक पर्वों में वे मुनि की भाँति भगवान् की भक्ति में तल्लीन हो जाते हैं। साथ में ९६००० रानियाँ, सब एक से एक अप्सरा जैसी मानों आर्यिकायें बैठी हों, उन्हें देखकर ऐसा लगता है जैसे कि पूरा का पूरा संघ बैठा हो। सफेद वस्त्र पहनकर ९६००० रानियाँ धर्मचर्चा में लीन हैं ''जो मुक्ति की ओर आकर्षित होता है वह भक्ति करने वाला भक्त सामने सभी सुविधाओं को भूल जाता है।'' सामने वाला देखकर भी यह सोचता है कि यह कौन व्यक्ति है जो भगवान् की भक्ति में लीन है? यह भी एक आकर्षण है। इस प्रकार का वातावरण धर्मात्माओं के द्वारा अपने आप तैयार होता चला जाता है। अगर ऐसा वातावरण न बने तो विषय-कषायों में कमी नहीं आ सकती। चक्रवर्ती के यहाँ तो अथाह विषय-

सामग्री है। फिर भी तीनों सन्ध्यायों में वह नियम से भक्ति व सामायिक करता है। उस समय वह सारे के सारे प्रमाद छोड़कर, विषयों को गौण करके, कषायों को गौण करके, निःकषाय स्वरूप आत्म स्वभाव के चिंतन में लग जाता है। इसको बोलते हैं–**''यत्र भावः शिवं दत्ते''** जहाँ पर जिन भावों के द्वारा मुक्ति मिलती है वहाँ पर उन भावों के द्वारा स्वर्ग की क्या बात करते हो ? स्वर्ग तो बीच का स्टेशन है, वह तो निश्चित मिलेगा ही।

उत्थानिका–अब आगे वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिन भावों से मुक्ति मिलती है, उनसे यदि कदाचित् मुक्ति न भी मिल पाए तो स्वर्ग नियम से मिलता ही है। स्वर्ग मिलने पर उस धर्मात्मा को स्वर्ग-सुख कैसा मिलता है? इसे बताते हैं–

हृषीकज-मनातङ्कं दीर्घ-कालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

अन्वयार्थ–(नाके) स्वर्ग में **(नाकौकसाम्)** देवों का **(हृषीकजं)** इन्द्रियों से उत्पन्न **(अनातङ्कं)** दुःख रहित और **(दीर्घकालोपलालितम्)** दीर्घकाल तक सेव्य **(सौख्यं)** सुख **(नाके)** स्वर्ग में **(नाकौकसाम् इव)** देवों के समान ही होता है।

पंचेन्द्रिय-सुख होकर भी जो आतंकों से दूर रहा,
युग-युग तक अगणित वर्षों तक, लगातार भर-पूर रहा।
सुर-सुख तो बस सुरसुख जिसको, अनुभवते सुर-पुर-वासी,
कहे कहाँ तक? किस विध? किसको? आखिर हम तो वनवासी ॥५॥

The happiness that is enjoyed by the residents of heavens appertains to the senses, is free from disturbance (literally, disease) enjoyable for very very long periods of time, and is without a parallel outside the heavens !

Note - The pleasures of a heavenly life are but sense-produced, though they are not to be found outside the heavenly region and are exceedingly delightful. The duration of the life, too is incomparably longer in the heaven than on the earth, and it is therefore true that the heavenly pleasures are enjoyable for much longer periods than the pleasures of this world.

विवेचना–यहाँ पर आचार्य कहते हैं–'हृषीकजं' अर्थात् इन्द्रियों से उत्पन्न जो विषय हैं, पदार्थ हैं। वे कैसे हैं? दिव्य हैं। उन दिव्य पदार्थों की इस मर्त्यलोक के पदार्थों से उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि दिव्य का अर्थ है कि जो स्वर्ग में होते हैं। स्वर्ग के पदार्थों की मर्त्यलोक के पदार्थों से उपमा दी भी नहीं जा सकती इसलिए यहाँ के कोई भी रंग-रंगीन पदार्थों को उदाहरण के रूप में नहीं चुना।

यहाँ मर्त्यलोक में जब महापुरुषों या तीर्थंकरों का अवतार होता है, उस समय उन महापुरुषों के लिए दिव्य पदार्थों का योग मिलता है और उनके भोग का अवसर प्राप्त होता है। चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और तीर्थंकर आदि महापुरुषों को विशेष तौर पर दिव्य वस्तुओं का प्रबन्ध होता है। स्वर्ग से प्रायः बहुत सी दिव्य सामग्री आती है। इन्द्रिय के दिव्य विषय आते हैं। वहाँ पर किसी भी प्रकार के व्यवधान नहीं होते। इसलिए 'अनातङ्कं' कहा है। देवों को जीवन के आदि से लेकर अन्त तक दिव्य इन्द्रिय विषय उपलब्ध होते हैं। देवों को इसलिए 'दीर्घकालोपलालितं' विशेषण दिया है। अर्थात् स्वर्गों में दीर्घकाल तक विषय-सुख एक-सा बना रहता है। अन्य गति में जीवों के सुखमय जीवन में और स्वर्गीय जीवन में यही अन्तर है कि स्वर्गीय सुख उत्पन्न होने के उपरान्त से जीवन के अन्त तक ज्यों का त्यों बना रहता है, कोई अन्तर नहीं आता।

भावों में अन्तर आ जाये यह अलग बात है, लेकिन सामग्री एवं दिव्य सामग्री से उत्पन्न सुख में कोई अन्तर नहीं आता। जबकि अन्य गतियों में, जहाँ इन्द्रिय विषय सुख है, उसमें कमी-वेशी होती है और सामग्री में भी अन्तर आता रहता है। नरकगति में प्रतिपल जीवन के आदि से लेकर अन्त तक निरंतर दुःख ही दुःख बना रहता है। यह सब कर्मों की एक व्यवस्था है।

किसी ने एक प्रश्न किया कि देव मरते नहीं हैं क्या ? यदि मरते हैं तो उनका नाम अमर क्यों रखा ? समाधान उसका यह है कि देवों का मरण नहीं होता इसलिए अमर कहलाते हों, लेकिन ऐसा नहीं है, किन्तु उनका मरण बहुत समय के उपरान्त होता है। वे बहुत जल्दी-जल्दी नहीं मरते इसलिए उनकी अपने जैसे मरने में गिनती नहीं आती। जबकि यहाँ तो आप लोगों के लोक को ही 'मर्त्यलोक' नाम दिया गया क्योंकि यहाँ पर लोग मरते ही रहते हैं। यहाँ तक कि हम लोग तो बात-बात पर मरते रहते हैं लेकिन उनका बहुत काल तक मरने का नम्बर ही नहीं आता, इसलिए अमर नाम रखा है। दूसरी बात यह भी है कि मर्त्यलोक में जैसा मरण होता है वैसा वहाँ नहीं होता अर्थात् पीड़ा के साथ, रोगों के साथ, बुढ़ापे के साथ, जीर्ण-शीर्ण अवस्था के साथ मरण नहीं होता। जन्म है तो मरण भी होता है, लेकिन जन्म-मरण के बीच जरा अवस्था नहीं आती। सोचने से भी यह एक अद्‌भुत बात विदित होती है कि जन्म में भी दुःख नहीं होता, मरण में भी दुःख नहीं होता और जरा तो है ही नहीं। इस दृष्टि से भी देवों को अमर कह सकते हैं। अजर भी कह सकते हैं क्योंकि जन्म, जरा, मरण से जो रहित होते हैं उन्हें अजर, अमर कहते हैं, चूँकि देवों के जन्म मरण तो है लेकिन तत्सम्बन्धी दुःख नहीं है इस अपेक्षा से देवों को अजर-अमर कहने में कोई बाधा नहीं आती।

हाँ, यह बात अवश्य है कि मरने की कला और मृत्यु को जीतने की कला, मृत्यु को अपने आधीन करने की कला देवों के पास नहीं मनुष्यों के पास ही होती है इसलिए मनुष्यों को मर्त्य भी कहते हैं।

आगे स्वर्ग को ही अपने रहने का स्थान बना लिया है, जिन्होंने उन्हें स्वर्ग का सुख स्वर्ग में रहने वाले देवों के सुख के समान ऐसा हैं, ऐसा बतलाने के लिए कहा है–''नाके नाकौकसां सौख्यम्'' कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर्ग के सुख की अथवा वहाँ के वैभव की उपमा इस मर्त्यलोक के किसी भी पदार्थ के द्वारा नहीं दी जा सकती।

सुख का वर्णन करते हुए यदि हम विषय सुख प्राप्त करने वालों का वर्गीकरण करते हुए विचार करेंगे कि यहाँ सबसे ज्यादा सुख किसको हैं? यह तुलनात्मक दृष्टि से देखना होगा। कि यहाँ पर सामान्य रूप से तिर्यञ्चों की अपेक्षा मनुष्यों को ज्यादा सुख मिलता है। मनुष्यों में भी राजा, महाराजाओं को ज्यादा सुख मिलता है। मांडलीक, महामांडलीक, नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि इनको क्रमशः बढ़ता हुआ अधिक-अधिक सुख प्राप्त होता है यह तो कर्मभूमिज मनुष्यों की बात है। यहाँ पर कर्म करने के उपरान्त भोजन का सुख मिलता है। सिगड़ी जलाओ, भोजन पकाओ तब भोजन करने का आनन्द पाओ, लेकिन भोगभूमि में यह सब करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। उन्हें कल्पवृक्ष से सीधा भोजन मिलता है। अन्य सभी आवश्यक भोग-सामग्री भी प्राप्त होती है। जघन्य भोगभूमि में भी मनुष्यों को चक्रवर्ती से भी ज्यादा सुख मिलता है। जघन्य भोगभूमि की अपेक्षा मध्यम भोगभूमि में और मध्यम भोगभूमि की अपेक्षा उत्कृष्ट भोगभूमि में सुख की मात्रा बढ़ाती जाती है लेकिन सुख की सामग्री की मात्रा प्रमाण की अपेक्षा घटती चली जाती है। जैसे जघन्य भोगभूमि में किसी को लड्डू मिलता है, तो वह कैसा मिलता है? बड़ा मिलता है लेकिन राजगिर का लड्डू मिलता है। इसके उपरान्त मध्यम भोगभूमि में नुक्ती का लड्डू मिलता है, उत्तम भोगभूमि में मावे का मिलता है। गुलाब जामुन या रसगुल्ला मिलता है अतः इनके अनुपात में तो कमी आई लेकिन लड्डू की क्वालिटी बढ़ती चली गई, मिठास बढ़ता चला जाता है। यहाँ तक तो मनुष्यों की सुख सम्बन्धी चर्चा पूर्ण हुई।

अब आगे देवों के पास देखिए! देवों में दो पदार्थ नहीं पाए जाते जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अभी तक कवलाहार की बात हुई लेकिन देवों में कवलाहार नहीं पाया जाता। वहाँ तो मानसिक आहार होता है। वहाँ तो देवों के कंठ से अमृत झरता है। अमृत की उपमा मर्त्यलोक की किसी भी वस्तु से नहीं दी जा सकती। अमृत देवों की खुराक है और लड्डू, गुलाबजामुन आदि मर्त्यलोक की खुराक है।

कर्म व्यवस्था भी चार प्रकार की है–कर्मों में फल देने वाली अनुभाग शक्ति के लिए चार दृष्टान्त दिए हैं–गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृत। जैसे इन पदार्थों के अंदर मिठास की शक्ति बढ़ती हुई होती है वैसे ही कर्मों के विभाग हैं सुखों की अपेक्षा से। देवों में सुख की अपेक्षा विचार करें तो सर्वप्रथम उत्तम भोगभूमि से भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में क्रमशः सुख बढ़ता हुआ है ज्योतिष्क देवों के उपरान्त सर्वप्रथम स्वर्ग में सुख के बारे में विचार करें तो जो दस प्रकार के देव

हैं इन्द्र, सामानिक त्रायस्त्रिंश आदि इनका क्रमशः घटता-घटता सुख होता सबसे ज्यादा सुख इन्द्र को होता है, लेकिन इसमें भी आगे-आगे के स्वर्गों में सुख एवं सुख की सामग्री अधिक-अधिक होती है। जैसे-जैसे ऊपर-ऊपर जायेंगे वैसे-वैसे सुख बढ़ता चला जाता है। सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन से कोई मतलब नहीं है कर्मकृत फल प्राप्त होता है। सोलह स्वर्गों के उपरान्त नव ग्रैवेयक होते हैं। उनमें भी नीचे की अपेक्षा मध्यम ग्रैवेयकों में, मध्यम की अपेक्षा उपरिम ग्रैवेयकों में सुख बढ़ता जाता है। उनके आभरणों के रंग-रोगन बढ़ते जाते हैं। उनके संगीत की सामग्री भी क्वालिटी की अपेक्षा बढ़ती जाती है। उनके शरीर का वर्ण भी सुन्दर होता जाता है। उनके वस्त्र, आभूषण भी अलग ही क्वालिटी के हुआ करते हैं। जैसे मुनीम जी भी सफेद कपड़े पहनते हैं और मालिक भी सफेद कपड़े पहनते हैं, लेकिन दोनों के कपड़ों में बहुत फर्क होता है। देखने में सफेद हैं लेकिन हाथ लगाकर देखो, इसके उपरान्त लाइट करके देखो कितना चमकता रहता है। चमक के साथ-साथ मृदुता भी रहती है। मृदुता एवं चमक के साथ-साथ उनकी कीमत भी अधिक होती है। मालिक के कपड़ों की बाहर से कीमत अधिक है इसका मतलब ही यह है कि वह भीतर से भी अच्छी क्वालिटी का है।

इसी प्रकार एक गाड़ी में ड्राइवर भी बैठा है साथ में मालिक भी है। दोनों में से किसको ज्यादा आनन्द आता है? नौकर को या मालिक को। मालिक को ज्यादा आनन्द आता हैं। क्यों ? गाड़ी मालिक की है, नौकर गाड़ी चला रहा है, मालिक चल रहा है, घूम रहा है। घूमने का आनन्द भी मुनीम जी को नहीं मालिक को आता है। इसी प्रकार स्वर्गों में भी प्रथम स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के देवों में सुख अधिक-अधिक होता है, सुख-समृद्धि का उपसंहार सर्वार्थसिद्धि में होता है। किल्विष जाति के देवों का सुख नौकर के समान, तो इन्द्र का सुख मालिक के समान समझना चाहिए। लेकिन आचार्य कहते हैं कि ''यह जितना भी सुख है ये तो लौकिक पद्धति से तुलनात्मक सुख है, अलौकिकदृष्टि से देखोगे, समझोगे, सुनोगे तो यह सुख कोई सुख नहीं है, बल्कि सुखाभास है या यूँ कहें कि दुःख का मूल यही है।

उत्थानिका—इसी लौकिकसुख के स्वरूप सम्बन्धी कथन को आगे बढ़ाते हुए कहा जा रहा है कि यह सुख वासनामात्र है सुखाभास है—

वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम् ।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

अन्वयार्थ—**(देहिनाम्)** संसारी जीवों के **(एतत् सुखं)** ये इन्द्रिय सुख **(च)** और **(दुःखं)** दुःख **(वासनामात्रं एव)** भ्रम मात्र ही हैं **(तथा हि)** इसलिए **(एते भोगाः)** ये इन्द्रियों के भोग **(आपदि)** आपत्ति के समय **(रोगाः इव)** रोगों की तरह **(उद्वेजयन्ति)** व्याकुल करते हैं।

तन-धारी जीवों का सुख तो, मात्र वासना का जल है,
दुख ही दुख है सुख-सा लगता, मृग-मरीचिका का जल है।
संकट की घड़ियों में जिस विध, रोग-भयंकर, उस विध हैं,
भोग सताते भोक्ताओं को, भोग हितंकर किस विध हैं? ॥६॥

The experiences of pleasures and pains of the *samsari jivas* (unemancipated souls) are purely imaginary; for this reason the sense- produced pleasures give rise, like disease, to uneasiness on the approach of trouble.

Note - If the pleasures and pains of the world were not the product of imagination they would be lasting, unchanging and eternal. But we see that what is the cause of pleasures today becomes a source of disturbance and pain as soon as trouble arises or calamity overtakes the enjoyer, Hence the *acharya* points out that sense-produced pleasures and pain are purely imaginary in their nature, notwithstanding that the infatuated humanity regard them as real and run after them. By the use of the word imaginary it is not to be taken that the *acharya* denies the reality of the experiences altogether; what he is aiming at in reality is only an emphasis on the nature of true happiness to be described later.

विवेचना—संसारी जीवों का यह सुख वासना मात्र है। वासना मात्र का अर्थ है–'तृष्णा' यह एक लोलुपता है, वस्तुतः सुख नहीं है। देहिनाम् एतत् सुखं तु वासनामात्रं वस्तुतः एतत् दुःखमेव वा। संसारी प्राणी का यह सुख तो वासना मात्र है। वास्तव में तो यह दुःख ही है। आचार्य-पूज्यपाद स्वामी जी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में 'प्रवीचार' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा–''वेदनाप्रतिकारः प्रवीचारः''अर्थात् यह पीड़ा का प्रतिकार मात्र है। प्रवीचार वास्तव में सुख नहीं है। दुख का प्रतिकार मात्र है। इसमें सुख मानना यह आपकी मान्यता हो सकती है। देखो! घर में क्या होता है? किसी को क्षुधा है तो क्षुधा में पीड़ा है। किसी को पिपासा है तो उसमें भी पीड़ा है। इनका प्रतिकार आवश्यक होता है। क्षुधा सम्बन्धी पीड़ा का प्रतिकार करने के लिए भोजन देते हैं, पिपासा की पीड़ा का प्रतिकार करने हेतु पानी देते हैं। आप स्वयं दृष्टि लगाना चाहें, विचार करना चाहें तो कीजिए कि आपने तो पीड़ा का प्रतिकार किया, इसमें यदि कोई सुख का अनुभव करना चाहता है, उसमें सुख मानने लगता है तो यह मान्यता मात्र है, जो कि गलत है। वेदना हो रही थी, भूख सता रही थी, किसी ने लड्डू खा लिया, किसी ने वाटी खा ली, किसी ने रोटी खा ली, किसी ने और कुछ खा लिया, क्या किया ? वेदना हो रही थी उसे शान्त कर दिया। किसी को रोटी का स्वाद आया, किसी को लड्डू का, किसी को बाटी का, लेकिन तीनों ने भिन्न-भिन्न पदार्थों के स्वाद से भूख को ही शान्त किया

है। वेदना का प्रतिकार मात्र ही तो हुआ है। हमेशा के लिए भूख ही समाप्त हो गई हो, ऐसा तो नहीं है, जिससे आप सुखी हो रहे हो। ऐसा है क्या? नहीं।

आचार्यों ने मुनियों की आहारचर्या में पाँच प्रकार की वृत्तियाँ बतलाई हैं। उनमें से एक 'अक्षम्रक्षन' नामक वृत्ति है। इसका क्या अर्थ होता है? इसका अर्थ होता है कि जैसे-मानलो आपको गाड़ी चलाना है, तो गाड़ी की धुरा में ओंगन देना आवश्यक होता है, चाहे वह तेल का हो, ग्रीस हो, उसे लगा दो तो गाड़ी चलने लगती है। ओंगन कोई घी का नहीं दिया जाता। कोई कहे अठ-पहरा घी लगा दो, तो नहीं, वह आवश्यक नहीं है। अतः तेल या ग्रीस लगाते हैं। कोई-कोई तो डामर भी लगा देते हैं जिससे आवाज न हो। इसी प्रकार मुनिराज भी जब भीतर पेट से आवाज आने लग जाती है, तो उसे बन्द करने के लिए ओंगन के समान भोजन देते हैं। तात्पर्य यह है कि पीड़ा के प्रतिकार के लिए जिन वस्तुओं को नियुक्त किया गया है उनमें सुख ढूँढ़ना मूर्खता नहीं तो क्या है? मूलतः क्या किया जा रहा है इस बात पर ध्यान दो, फिर ''एतत् सुखं वासनामात्रमेव'' यह सुख वासना मात्र है यह समझ में आ जायेगा। अतः यह सुख नहीं सुखाभास है, यह भी समझ में आ जायेगा।

आचार्य आगे कहते हैं कि ये समस्त भोग कैसे हैं? ये भोग आपको उत्तेजित करते हैं। जैसे कि आपत्तिकाल में रोग आपको उत्तेजित करते हैं। जिस समय आपत्ति अर्थात् दरिद्रता हो और भयानक रोग हो जाये तो उस समय एक-एक क्षण निकालना मुश्किल हो जाता है, उसी प्रकार ये भोग भी आपको उद्वेजित करते हैं। इनका कोई अन्त नहीं होता। 'योगसार' अथवा 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थ में आचार्य योगीन्दुदेव ने लिखा है कि राम, पाण्डव आदि जो सम्यग्दृष्टि हैं वे विचार करते हैं, प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवन्! ऐसा पुण्य न बंधे, जिस पुण्य के द्वारा विषय सामग्री की ओर मन चला जाये। आप लोग सोचते हैं कि भगवान् हमारे यहाँ ऐसा पुण्य आ जाये, बस फिर क्या? भगवान् को ही भूल जायें। यह वैभव, भोग-सामग्री भगवान् को ही भुला देने वाली होती है। इसके बीच रहते हुए, इसमें सुख मानते हुए आत्मा की ओर दृष्टि लगाने की भी कोई गुंजाइश नहीं होती। कुछ कमी रहती है तो धर्मध्यान, आत्म-चिंतन, आत्मध्यान, विपाकविचय धर्मध्यान आदि कर लेता है, अन्यथा नहीं। बल्कि आत्मध्यान समाप्त होने के ही अवसर होते हैं। शरीर को पूरा का पूरा भोजन मिल जाये तो फिर वह आत्म-चिन्तन को छोड़कर निद्रा में या अन्य किसी चिन्ता में खो जाये तो आत्मध्यान समाप्त हो जाता है। इसलिए विषयों के बीच रहते हुए भी यदि अपनी दृष्टि विषयों की ओर न जाकर आत्मा की ओर चली जाये तो ये सारे के सारे कार्यक्रम सफल हो सकते हैं। अन्यथा ''यह सब वासना मात्र है''। 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' ग्रन्थ में भी आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी लिखते हैं कि-

कर्मपरवशे सान्ते दु:खै-रन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

अर्थात् ये पंचेन्द्रिय सम्बन्धी सुख 'कर्मपरवशे' यानि कर्मोदय पर आश्रित हैं, आधारित हैं। ये हमेशा नहीं बने रहते, किन्तु 'सान्ते' अर्थात् अन्त सहित हैं। इन सुखों को जब भी भोगेंगे तब भोगते, समय तो ये अच्छे लगेंगे लेकिन इनका परिपाक अच्छा नहीं होता। 'दु:खैरन्तरितोदये' अर्थात् ये सुख भीतर से दु:ख से घुले हुए हैं। इन्हें आचार्य समन्तभद्र स्वामी 'शुगरकोटेड' कहते हैं।

जिस प्रकार किसी रोगी को कड़वी औषधि देना है, लेकिन रोगी यदि सीधे, वह खाता नहीं इसलिए गले में से सरका दो। कड़वी है कैसे सरका दें ? नहीं सरकती, तो चबा लो। लेकिन चबाने से तो और अधिक कड़वी लगती है। मुँह कड़वा हो जाता है। उल्टी हो सकती है, अत: ऐसे व्यक्तियों के पेट में गोली पहुँचाने के लिए उसे 'शुगरकोटेड' कर दिया जाता है। अर्थात् ऊपर से मिश्री का लेप कर दिया जाता है, अंदर से कड़वी दवाई भरी रहती है। ऊपर से खाते हैं तो मीठी लगती है। अब वह पेट में पहुँच जाती है और भीतर जाकर घुल जाती है। इसी प्रकार पंचेन्द्रिय के विषय भी 'शुगरकोटेड' हैं। 'दु:खैरन्तरितोदये' भीतर से बहुत कड़वे हैं, दु:ख से मिश्रित हैं। पाप के बीज स्वरूप हैं अर्थात् इनका सेवन करने से पाप का बन्ध होता है, पुण्य का नहीं। भगवान् की भक्ति करते समय पुण्य का बन्ध होता है, लेकिन भोजन करते समय पाप का बन्ध होता है। वह भी आसक्ति के साथ हो तो ज्यादा अनुभाग बंधता है। इसलिए मुनिराज भी आहारचर्या करने के उपरान्त प्रतिक्रमण करते हैं और चौबीस घंटों के लिए प्रत्याख्यान करते हैं। बीच में भोजन कथा भी नहीं करते, क्योंकि वह पाप बन्ध की कथा है, विकथा है। विशेष कथा नहीं। आत्म-कथा को बाधा पहुँचाने वाली होती है। देखो! विचार करो, बार-बार विचार करो कि पंचेन्द्रियों के सुख पाप के बीज हैं, दु:ख से मिश्रित हैं। आप जैसे बीज बोयेंगे वैसे फल काटोगे। बबूल के बीज बोयेंगे तो आम के फल तीन काल में नहीं पा पायेंगे। पंचेन्द्रियों के विषयों के माध्यम से, उपभोग के माध्यम से जो कर्मबन्ध होगा वह पाप का बन्ध होगा। बबूल के पेड़ की जड़ मजबूत होती है, जब वह फलता है तो कांटों के साथ ही फलता है। उसकी छाया भी बहुत कम होती है, कोई पथिक यदि उस छाया में बैठ जाये तो बैठते ही काँटे लग जाते हैं, नीचे पैर में भी लग सकता, ऊपर से भी गिर सकता है, ऐसी कष्टमय स्थिति बनती है कि असहनीय हो जाती है। इसी तरह पंचेन्द्रिय के विषयों की स्थिति बनती है। अत: इस प्रकार के सुख में आस्था नहीं करना चाहिए। रुचि नहीं करना चाहिए। यह निष्कांक्षित अंग का स्वरूप है। सम्यग्दृष्टि के ८ अंगों में से यह एक अंग है।

शरीर में जिस प्रकार आठ अंग होते हैं, उनको एक-एक करके यदि पृथक् कर दिये जाये तो शेष क्या रह जाता है? कुछ नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के एक-एक अंग की यदि कमी होती जायेगी तो सम्यग्दर्शन कोई वस्तु नहीं रह जायेगी। सम्यग्दर्शन की चर्चा तो हम बहुत करते हैं,

लेकिन आठों अंगों की चर्चा की ओर ध्यान ही नहीं जाता। आठों अंगों में 'अंजन चोर' आपसे भी आगे है, क्योंकि किसी भी अंग में उदाहरण के रूप में आपका नाम नोट नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र महाराज जी कहते हैं कि आठों अंगों के साथ ही सम्यग्दर्शन टिक सकेगा, अन्यथा नहीं। एक हाथ कम हो गया तो उसे क्या कहेंगे ? मनुष्य ही कहेंगे लेकिन लूला कहेंगे।

सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध विषयों की तृप्ति से नहीं किन्तु आत्म-तृप्ति से होता है। इन्द्रिय सुख से आत्म-संतुष्टि कभी नहीं हो सकती। इन्द्रिय सुख वास्तव में सुख नहीं है। यह सुख तो दुःख का प्रतिकार मात्र है। दुःख का प्रतिकार करना अलग है और सुख का अनुभव होना अलग है।

लौकिक दृष्टि से लोग कहते हैं कि मैं बहुत सुखी हूँ। सुखी का अर्थ है कि उसके पास दुःख के प्रतिकार करने की सामग्री प्राप्त है तब उसे ऐसा लगता है कि वह बहुत सुखी है और आनन्दमय जीवन व्यतीत कर रहा है आदि। जबकि वास्तव में ऐसा है नहीं। संसारी प्राणी इसी लौकिक सुख की ओर पूर्णरूपेण आकृष्ट है। रात-दिन उसी की प्राप्ति हेतु दौड़ धूप चल रही है। दिन अस्त हो जाता है तो भी प्रकाश का प्रबन्ध करके रात-दिन काम करते हैं। अन्त में काम के फलस्वरूप जो सामग्री प्राप्त होती है उसके द्वारा सुख का अनुभव करते हैं।

कहीं भी देख लो, किसी को भी देख लो, चारों गतियों में संसारी प्राणी केवल इन्द्रियसुख को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। कुछ विरले ही जीव ऐसे हैं जो इन्द्रियसुख प्राप्त करना नहीं चाहते बल्कि इनको केवल दुःख का प्रतिकार समझकर आत्म-साधना करना चाहते हैं और कुछ ऐसे हैं जो उसे सुख ही नहीं मानते केवल शरीर को वेतन रूप देकर अपना काम निकालते हैं। यदि किसी को ऐसा आभास हो रहा हो कि सारा का सारा संसार एक ही ओर भाग रहा है तथा यह जहाँ जा रहा है वही सही है। संसार के सभी जीव सही दिशा में जा रहे हैं। वे सभी ठीक हैं हम कहीं भ्रम में तो नहीं हैं? उसका ऐसा सोचना सही नहीं है, क्योंकि आचार्य कहते हैं कि-यह मोह की महिमा है। मोह के कारण जो गलत है उसे सही मानकर सारा युग उस ओर भाग रहा है और सन्मार्ग से विमुख हो रहा है।

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते हैं कि मोह से ढका हुआ ज्ञान स्वभाव की प्राप्ति नहीं करा सकता। अर्थात् स्वभाव की प्राप्ति हेतु मोह से प्रभावित ज्ञान कार्यकारी नहीं होता -

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥

अन्वयार्थ— **(मोहेन)** मोह से **(संवृतं ज्ञानं)** ढका हुआ ज्ञान **(स्वभावं)** आत्म स्वभाव को **(न हि लभते)** नहीं जान पाता **(यथा)** जैसे **(मदनकोद्रवैः)** नशीले कोदों के खा लेने से **(मत्तः पुमान्)** मूर्च्छित/बेखबर मनुष्य **(पदार्थानां)** पदार्थों को ठीक तरह नहीं जान पाता।

पुरुष यहाँ उन्मत्त बना हो, जिसने मदिरापान किया,
निज-का पर-का हिताहितों का, उसे कहाँ? हो ज्ञान जिया।
मोह-भाव से घिरा हुआ यदि, जिसका भी वह ज्ञान रहा,
स्वभाव को फिर नहीं जानता, यथार्थ में अज्ञान रहा ॥७॥

Deluded by infatuation the knowing being is unable to acquire adequate knowledge of the nature of things, in the same way as a person who has lost his wits in consequence of eating intoxcating food is unable to know them properly !

Note - Infatuation- likes and dislikes, etc.- deprive us of that purer form of mental serenity which is necessary for the acquisition of true knowledge, for as is well known, lucidity of the intellectual facalty is clouded when the mind is strongly agitated by passions and desires and wrong convictions and beliefs.

विवेचना—जीव का ज्ञान मोह से ढका हुआ है, ऐसा कहने का मतलब यह नहीं है कि नीचे कोई पदार्थ है और ऊपर कोई दूसरा पदार्थ लाकर ढक दिया हो। 'संवृत' का अर्थ ढका हुआ तो होता है, पर वहाँ ऐसा अर्थ नहीं लेना, किन्तु यहाँ उसका अर्थ है कि—मोह के द्वारा स्वभाव का विभाव रूप से परिवर्तित हो जाना। स्वभाव नीचे सुरक्षित है, ऊपर से मोह चादर की भाँति डला हो, ऐसा समझना ठीक नहीं है। मोह से संवृत ज्ञान का अर्थ है—ज्ञान का मलिन हो जाना, विकृत हो जाना, मिथ्या हो जाना। जैसे कोई व्यक्ति शराब पी लेता है तो उसकी बुद्धि उलट जाती है। वह डॉक्टर भी क्यों न हो, अपना कार्य करने में सफल नहीं हो पाता। एल॰ एल॰ बी॰ करने वाले भी अपना कार्य ठीक से नहीं कर पायेंगे, उस समय जबकि उनका ज्ञान शराब के नशे से प्रभावित है तब। शराब पीने के उपरान्त जैसे लौकिक ज्ञान की यह दशा हो जाती है उसी प्रकार मोह रूपी मदिरा पीने के उपरान्त ज्ञान विकृत हो जाता है फलतः स्व क्या है? पर क्या है? हित किसमें निहित है? अहित किसमें ? इसका उसे तिल मात्र भी ज्ञान नहीं होता। एक बार मदिरापान करने पर घण्टों तक उसका प्रभाव बना रहता है और यदि मदिरापान निरंतर करता चला जाये तो उसका प्रभाव कभी भी समाप्त नहीं होता। मोह की मदिरा एक बार भी पी लेता है तो सागरोपम काल तक भी उसका प्रभाव बना रहता है। ज्यों का त्यों बना रहता है। सोचने की बात है कि हम सुख चाहते हैं, आनन्द चाहते हैं, लेकिन यदि हम मोह मदिरा का सेवन करना नहीं छोड़ेंगे तो ऐसी दशा में हमारा ज्ञान केवलज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? तीन काल में भी संभव नहीं।

उदाहरण के तौर पर देखो! लक्ष्मण का अवसान हो चुका फिर भी मोह के कारण राम,

लक्ष्मण को नहीं छोड़ पाये। लोगों ने बार-बार उपदेश को देकर समझाने का प्रयास किया फिर भी मोह के कारण लोगों को कैसे-कैसे उत्तर देकर हटाते रहे। जब मोह का नशा कम हो गया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वस्तुतः लक्ष्मण का तो अवसान हो चुका है। तब समझ में आया कि मोह की कैसी महिमा है। रामचन्द्र जी सोचे कि अच्छी-अच्छी नीति की बात करने वाले आये, मुझे सही बात समझाने के लिए, पर मैंने तो सभी को यद्वा-तद्वा कुछ भी कहकर विदाकर दिया।

दूसरी ओर देखें, युग के आदि में, तो उस समय भी भरत चक्रवर्ती और बाहुबली दोनों ही तद्भव मोक्षगामी थे। दोनों सर्वार्थसिद्धि से अवतरित हुए। दोनों आपस में सगे भाई। तीर्थंकर जैसे महापुरुष जिनके पिता। दोनों के ऊपर राज्य सत्ता का भार था। जनता भी अपनी सुख शांति हेतु उनकी सेवा में संलग्न थी। फिर भी ऐसी घटना घटी। यदि आज के युग में वैसी घटना घट जाये तो सारा का सारा युग ही क्षुब्ध हो जाये क्योंकि भरत तो चक्रवर्ती माने जाते थे, उन्हें ''मैं चक्रवर्ती हूँ मेरी सभी लोग बात मानते हैं'' ऐसा मोह था, अहंकार था। लेकिन मेरा भाई बाहुबली मेरे कहे अनुसार बात क्यों नहीं मानता ? कैसा है मेरा छोटा भाई ? यह छोटा होकर भी मेरे साथ लड़ना चाहता है। अब इसके साथ और कोई चारा भी नहीं है। युद्ध करने तक को तैयार हो जाता है। समझदार लोग उन्हें देखकर कहते हैं कि यह सब क्या हो रहा है? ये भाई-भाई क्या रहे हैं? ये युद्ध लड़ेंगे तो दोनों के बीच विजयी कौन होगा ? दोनों के बीच युद्ध की तैयारी होने लगी युद्ध में दोनों का तो कुछ नहीं होगा, लेकिन सेना लड़ेगी तो सेना का तो निश्चित विनाश होगा। अतः उन दोनों के बीच समझदार लोगों ने सलाह दी कि तुम दोनों धर्मयुद्ध करो। व्यर्थ में सेना विनाश के कारणभूत युद्ध को मत करो। दोनों ने सलाह को स्वीकार किया कि बिलकुल ठीक है, हमें मंजूर है आप लोगों की बात। धर्मयुद्ध नियुक्त किये गये। दोनों पक्ष तैयार हुए। युद्ध चालू हो गया। तीन प्रकार के युद्ध निश्चित किये गये। तीनों युद्धों में भरत चक्रवर्ती हार जाते हैं। अब क्या! कोई रास्ता नहीं रहा ? चक्रवर्ती के क्रोध का पारा चढ़ गया। ''छोटे भाई से मैं हार गया'' मैं तो चक्रवर्ती, छहखण्ड जीतकर आया और अपने भाई से हार गया, लोग क्या कहेंगे ? यह मेरे लिए शोभा की बात नहीं है। जब तक भाई को नहीं जीतूँगा, तब तक चक्रवर्ती नहीं कहलाऊँगा। ऐसा सोचते हैं कि आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है, भाई नहीं मान रहा है तो उस पर चक्ररत्न चलाऊँगा। अब चक्ररत्न से भी क्या होगा उसने ऐसा कुछ भी विचार नहीं किया। युग के आदि में सीमा का उल्लंघन किया और बाहुबली ने भी सामना करने की ठान ली। यह सब मोह के कारण हुआ। चक्र चलाया गया, चक्र बाहुबली के पास तक आया और परिक्र मा देकर पुनः चक्रवर्ती की ओर चला गया। अब चक्रवर्ती को लगा कि यह मेरी चौथी बार हार हो गई। यह हुण्डावसर्पिणी काल की देन है। इस काल में ऐसे कार्य होते हुए देखने में आते हैं, जिनके बारे में कल्पना भी नहीं होती है। अब क्या करें ? दोनों के पास अवधिज्ञान था, उसका प्रयोग दोनों में से किसी ने भी नहीं किया। यदि

अवधिज्ञान का प्रयोग करते तो भी हो सकता है कि वे यह जान नहीं पाते, क्योंकि जब ज्ञान मोह से संवृत होता है, प्रभावित होता है तब ज्ञान भी जानने में सफल नहीं हो पाता। साधक का मोह जब उपशमित होता है, तब ज्ञान कार्य कर सकता है। क्रोध का पारा उतरना आवश्यक होता है, तभी कार्य की निष्पत्ति हो सकती है, यह सिद्धान्त है। मोह के कारण चक्रवर्ती के दिमाग में भी यह बात नहीं आयी, कि युद्ध होगा तो हार किसकी होगी ? बाहुबली पर चक्र का प्रभाव नहीं पड़ेगा, वंश के ऊपर नहीं पड़ता, वंश पर चक्र अपना प्रभाव नहीं डाल सकता।

कोई प्रश्न करे कि दोनों का ज्ञान काम क्यों नहीं कर पाया ? इसका एक ही समाधान है 'मोहेन संवृतं'। मोह से आवृत होने के कारण ज्ञान वास्तविक तथ्य को नहीं जान पाता। जब तीव्र कषाय का उदय होता है तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी क्यों न हो, महापुरुष भी हो, अवधिज्ञानी हो तो भी उनका ज्ञान व्यर्थ हो जाता है, फिर हम और आप तो किस खेत की मूली हैं? चक्रवर्ती ने मर्यादा का उल्लंघन किया। तीन-तीन युद्धों में हारने के बाद भी भाई पर चक्र चलाया। उन्हें सोचना तो चाहिए था कि जो व्यक्ति मुझे तीन युद्धों में हरा चुका, उस पर यह मेरा चक्र कैसे प्रभाव दिखायेगा? मेरा पुण्य क्षीण हो गया। उसका पुण्य इतना तीव्र है कि चक्र भी वापस आ गया। यह बात उनके दिमाग में क्यों नहीं आई ? इसका एक ही कारण है मोह का तीव्र उदय, कषाय की उत्तेजित अवस्था का होना। उत्तेजित कषाय को शान्त करने का और कोई रास्ता नहीं है। उसके लिए सिर्फ शांति और संयम से बैठना पड़ता है। मोह की बाढ़ आती है तो बड़े-बड़े व्यक्तियों के दिमाग की बिजली गुम हो जाती है। तथा जब मोह शान्त हो जाता है तो छोटे-छोटे व्यक्ति भी बड़े-बड़े कार्य कर जाते हैं। इसका छोटे और बड़े व्यक्तियों से कोई मतलब नहीं है, किन्तु मतलब तो ज्ञान से है। किसी भी कार्य में असावधानी होना, यह मोह से, प्रमाद से प्रभावित ज्ञान का परिणाम होता है और कोई भी कार्य सावधानी से हो रहा है तो यह प्रमादरहित ज्ञान का परिणाम मानना चाहिए। उदाहरण के तौर पर समझ सकते हैं कि-

लड़के को भूख लगी है तो वह माँ से कहता है-माँ! मुझे बहुत तेजी से भूख लगी है। माँ कहती है-बेटा! खीर बन गई है। बेटा कहता है-तो मुझे जल्दी परोस दो। माँ कहती है-बेटा! अभी थोड़ी देर बैठ जाओ, हाथ-मुँह धोकर के आओ। हाथ-पैर को धोकर ही आया हूँ, आप तो जल्दी-जल्दी परोस दो। माँ खीर परोस देती है, पर माँ कहती है-बेटा अभी रुको, जल्दी-जल्दी मत खाओ, अभी नहीं। बेटा कहता है-माँ! मना क्यों कर रही हो ? खाने के लिए ही तो खीर बनाई है ना! हाँ बेटा, खाने के लिए ही बनाई है। तो फिर मना क्यों करती हो ? गुस्सा होकर कहता है-हमें नहीं खाना, लो तुम्हीं खा लेना। फिर भी माँ की ममता कहती है-बेटा! खीर खाने को मना नहीं कर रही हूँ, थोड़ी देर से खाना। थोड़ी ठण्डी होने पर खाना। बेटे को बात समझ में आती है वह सावधानी से किनारे-किनारे से खीर ठण्डी करके खाना प्रारम्भ करता है, क्योंकि यदि गरम-गरम

खीर खाता तो अतिक्रमण स्वरूप हाथ-मुँह जल जाता और दुःखी हो जाता। अतः माँ जैसा कहती है वैसा मानकर बेटा खीर का सेवन करके खुश हो जाता है।

इसी प्रकार संसारी प्राणी का ज्ञान जब तीव्र मोह से प्रभावित होता है तो वह जिनवाणी माँ का सम्बोधन सुनना भी पसंद नहीं करता। बल्कि वह जिनवचनामृत को भी कड़वी घूँट कहकर पीने से निषेध करता है, क्योंकि मोह से संवृत ज्ञान होने के कारण उसे हित समझ में नहीं आता। जब तक प्राणी मोह कर्म से बंधा है और उदय से जीवन प्रभावित रहता है, तब तक उसे अपना हित समझ में आ ही नहीं सकता, लेकिन जब ज्ञान तीव्र मोह से प्रभावित नहीं होता या मोह का प्रभाव कम होता है तब उसे इतना समझ में आता है कि मेरा हित मेरी ही गलतियों के कारण नहीं हो पाया। जो कुछ भी दुःख, कष्ट, अशांति हो रही है, यह सब मेरी ही असावधानी का परिणाम है। उसी का प्रतिफल मुझे भोगना पड़ रहा है। इस प्रकार कड़वी घूँट को भी पीना स्वीकार करता है, जिसके परिणाम स्वरूप भीतर की तीव्र कषाय का ज्वर बाहर निकल आता है।

मोहावृत बुद्धि के सैकड़ों उदाहरण देखने को मिलते हैं। मोह के कारण बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। बड़े-बड़े व्यक्तियों के द्वारा भी अनर्थ हो जाते हैं। चूँकि मोह का प्रभाव रहता है। इस स्थिति में क्या करें, जिससे मोह का प्रभाव कम हो सके? आचार्य कहते हैं कि-केवल संयम रखना आवश्यक है। मोह के कारण सीतारानी, राम, पाण्डव आदि के सामने समस्या आयी। मोह के कारण भरत चक्रवर्ती को समस्या का समाधान समझ में नहीं आया। पर बाहुबली को समझ में आ गया। 'ओ...हो' राज्य के लिए ऐसी घटना घटित हो सकती है? मोह के कारण संसारी प्राणी पंचेन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करता चला जाता है। भाई-भाई के बीच में ही नहीं, पिता-पुत्र के बीच में भी संघर्ष हो जाते हैं। ऐसा क्यों ? ऐसा ही होता है मोह के कारण। न भाई दिखता है, न पिता दिखता है, अंधा हो जाता है, आँखों से कुछ भी नहीं दिखता। बस वही वस्तु दिखाती है जो चाहिए अन्य सभी वस्तुयें दिखती ही नहीं हैं, क्योंकि उसे उनसे कोई मतलब नहीं रहा। वास्तविक तथ्य को भी वह नहीं समझ पाता। इसीलिए "**मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि**" कहा है।

अपने आपको भुलाने वाला मोह ही है, दूसरा कोई नहीं। मोह रूपी मदिरा के नशे के कारण यह भूल हो रही है। अब पुनः भूल न हो, इसीलिए शांति के साथ संयम धारण करना चाहिए। पञ्चेन्द्रिय के विषयों की कभी पूर्ति नहीं हो सकती। उसके द्वारा हमारी तृष्णा कभी समाप्त नहीं हो सकती, किन्तु तृष्णा दुगुनी ही होती जाती है। "खारा पानी पीने से कभी प्यास बुझती ही नहीं" यह कहावत है। लवण मिश्रित पानी से पेट तो भर जायेगा, प्यास भी बुझी जैसी लगेगी, लेकिन पाँच मिनट बाद पुनः तीव्र वेदना होना प्रारम्भ हो जाती है, कण्ठ सूखने लगता है। उसी प्रकार आप पंचेन्द्रिय के विषयों से तृष्णा की लालसा को समाप्त करना चाहोगे तो वह तीन काल में संभव नहीं। वह तो अग्नि को बुझाने के लिए तेल, घी और ईंधन के समान है। जिससे अग्नि बुझती नहीं, किन्तु

और अधिक भभकती है। ''सागर में कितनी भी नदियाँ मिल जायें लेकिन वह कभी तृप्ति का अनुभव नहीं करता, एक इंच भी नहीं बढ़ता। बढ़ भी जाये यह संभव है, ईंधन से अग्नि बुझ जाये यह भी संभव है, लेकिन पंचेन्द्रिय के विषयों द्वारा मोह का गर्त, तृष्णा का गर्त कभी भरा नहीं जा सकता।'' कहा भी है–पूजन में भी आप पढ़ते हैं कि–

''तृष्णा की खाई खूब भरी पर रिक्त रही वह रिक्त रही।'' - युगल

तृष्णा की खाई भरने की दिन रात बहुत चेष्टा की पर रिक्त रही वह रिक्त रही। तीन लोक की सम्पदा से भी वह भर नहीं सकती। पंचेन्द्रिय के विषयों की यह कथा है, इसकी कोई सीमा नहीं। इन विषयों की कथा अनन्त काल की है, आज भी है, आगे भी रहेगी। जो व्यक्ति इस मोह को समाप्त करना चाहता है उसे हाथ में संयम की खड्ग लेना अनिवार्य है उसके बिना मोह जाने वाला नहीं है और मोह के नष्ट हुए बिना साधक कैवल्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। यही सार है कि मोह को समाप्त करो, अन्यथा विषयों की लालसा से कभी तृप्ति होने वाली नहीं है। इसे गाँठ बाँधकर रख लीजिए। सब लोग विषय-सामग्री को इकट्ठा कर रहे हैं, इसलिए हमको करना पड़ रहा है। नहीं करेंगे तो लोग क्या कहेंगे कि देखो यह कैसा पागल है? पैसा मिल रहा है, मिल सकता है फिर भी ले नहीं रहा है, यह तो पागल हो गया है! क्योंकि कहते हैं कि दो ही व्यक्ति पैसा नहीं लेते– ''एक भगवान् और एक पागल''।

जितने भी पुराणपुरुष हुए हैं उनको भी अनाप-शनाप बहुत वैभव मिला। जिसका कोई पार नहीं रहा। कहाँ तक उनकी धरती है? समुद्र को भी पार कर गई, ऐसे चक्रवर्ती-जो षट्खण्डाधिपति, त्रिलोकाधिपति-तीर्थंकर आदि भी इन विषय भोगों से संतुष्ट नहीं हुए। फिर हमारी और आपकी तृप्ति तो त्रिकाल संभव है ही नहीं।

जो संसारविषै सुख हो तो तीर्थंकर क्यों त्यागै॥ ८॥ वैराग्यभावना

आप कौन से तीर्थंकर हैं बताओ ? कुछ नहीं। वस्तुतः हमारा मोह से संवृतज्ञान ही हमें सता रहा है। उन समस्त महापुरुषों ने सोचा, समझा, चिन्तन किया। ज्ञान से मोह के प्रभाव को दूर किया और विचार किया कि इस धरती के अनन्त मालिक हो चुके हैं। तीर्थंकर भी अनन्त हो चुके, चक्रवर्ती भी अनन्त हो चुके, उन सभी ने सोचा कि जो कुछ है सब कुछ मायामय है, इन्द्रजाल है। इन्द्रियसुख भी मृग-मरीचिकामय हैं, इनके ऊपर हमारा अधिकार नहीं हो सकता। ऐसा दृढ़ निश्चय कर सब कुछ छोड़कर चले गये और संसार से मुख मोड़ लिया। शांति का अनुभव किया, संयम की साधना की, फलतः ज्ञात हुआ कि यह सब पर द्रव्य है, मेरा नहीं हो सकता। अध्यात्म तो यहाँ तक कहता है कि जब आत्मा इनको ग्रहण नहीं कर सकता, तो छोड़ने की कोई बात ही नहीं है। लेकिन मोह के प्रभाव से यह अध्यात्म समझ में नहीं आ पाता। सब कुछ छोड़ने वालों के पास आकर कई

लोग पूछते हैं कि आपने सारा का सारा छोड़ दिया, अब कैसा अनुभव हो रहा है? सुख का या दुःख का ? समाधान मिलता है कि दुःख का अनुभव नहीं हो रहा है। हम तो बस इतना ही जानते हैं और आपको भी अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं कि दुःख उत्पादक-सामग्री से मुख मोड़ लो, यही सुख का मार्ग है। यही मोक्ष का मार्ग है अन्य कोई मार्ग नहीं। अपने यहाँ मोक्ष का मार्ग मुड़ने रूप है, केवल ग्रहण करने या छोड़ने रूप नहीं है। कहाँ-कहाँ से मुड़ना है? जहाँ-जहाँ से जुड़े थे वहाँ-वहाँ से मुड़ना है। जिसको ग्रहण करने के भाव किये थे, उनसे दृष्टि को फेर लेना। यही मोक्षमार्ग है मात्र आँख मींचने से हम मोक्षमार्ग में स्थित हो गये, ऐसा नहीं समझना और आँख खोलने मात्र से हम संसार में घुस गये ऐसा भी नहीं समझना। आँख को खोलना और बन्द करना यह तो शरीर की क्रिया है, इस क्रिया मात्र से संसार में प्रवेश या मोक्षमार्ग में प्रवेश हो गया ऐसा नहीं सोचना चाहिए। ऐसी धारणा भी नहीं बनाना चाहिए बल्कि यह सोचना चाहिए कि इन विषयों को मैं कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ? ये मेरे हैं ही नहीं। मुझे इनसे सुख मिलेगा नहीं, मिल सकता नहीं तो मैं इनको ग्रहण क्यों करूँ। इनके माध्यम से तो संकल्प-विकल्प होते हैं, इनसे कर्मों का बन्ध होता है, यह सब मोह के द्वारा ही होता है।

मोह के चक्कर से छूटने के लिए बहुत पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। पुरुषार्थ में भी कोई पहलवानी की आवश्यकता नहीं। यहाँ तो केवल बुद्धि का प्रयोग करना है। मोह से रहित और पंचेन्द्रिय-विषयों से दूर होने का नाम मोक्षमार्ग है। फिर क्या ग्रहण करना ? आप पूछेंगे तो आचार्य कहते हैं कि-ग्रहण कुछ भी नहीं करना। संसार में कुछ ऐसा है ही नहीं जिसे ग्रहण करने का मन बनाया जाये। फिर भी अनन्तकाल से मोह से प्रभावित होने के कारण विषयों को ग्रहण किया और उनमें सुख माना है। अनन्तकाल से इस एक ही कार्य को करने का प्रयास किया है, लेकिन वह भी पूर्ण नहीं हुआ। भोजन करने के उपरान्त लगता है, कि अब हमने भूख पर विजय प्राप्त कर ली। अब भूख नहीं लगेगी लेकिन २-४ घंटे बाद ही फिर भूख का अहसास होने लगता है। सुबह भोजन किया तो शाम को पुनः भोजन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हो गया पर तृप्ति का कोई ठिकाना नहीं।

''मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि'' यदि स्वभाव की प्राप्ति करना चाहते हो तो संयम का आश्रय लेना होगा। पर की ओर देखने की जो इच्छा है उसे नियंत्रित करना होगा। दूसरा अपने आपको देखने का प्रयास नहीं कर रहा है, इसलिए हम भी क्यों करें ? ऐसा सोचना उचित नहीं है। मोह से संवृत ज्ञान अपने आपको देखने का स्वयं प्रयास नहीं करता। यदि दूसरा कोई प्रयास करता भी है तो उसे धन्यवाद भी नहीं दे पाता। मोह के कारण निर्मोहपने का अनुभव नहीं हो पाता। संयम की महिमा से संवृत ज्ञान का आवरण हट सकता है, अन्य किसी प्रकार संभव नहीं, अतः संयम धारण करो।

वह ज्ञान धन्य है! वह घड़ी धन्य है! वह ज्ञानी धन्य है! जिसका ज्ञान भी दर्पण के समान निरीह और निर्विकार बना रहता है। ज्ञान के द्वारा वस्तु को मात्र जानता है, उसे पकड़ने की कोशिश नहीं करता। वस्तु के वियोग में दुःख का अनुभव नहीं करता। धन्य है वह ज्ञान! धन्य है वह ज्ञानी! जिसने अपने आपको पा लिया और संसार को पाने की इच्छा को छोड़ दिया।

संसारी जीव को संसार के दुःखों का अनुभव अनन्तकाल से होता आया है यह महा-मोह का परिणाम है। मोह ने जीव के ज्ञान को नशे में कर रखा है। फलतः वह परद्रव्य को अपना मानता है। वह माँ को बहिन और बहिन को माँ कहता है, कभी-कभी माँ को माँ और बहिन को बहिन भी कहता है, लेकिन उसे निर्णय नहीं रहता कि किसको क्या कह रहा है। उसे भेदविज्ञान नहीं रहता। जैसे कोई शराब के नशे में डूबा शराबी। मोह के कारण ही हम अपने आपको अपना नहीं पा रहे हैं और जो अपना नहीं है उसे दिन-रात अपनाते चले जा रहे हैं। दादा को चिन्ता है नाती की। पिता को चिन्ता है पुत्र की। माँ को चिन्ता है बेटी की। सबको एक दूसरे की चिन्ता है, अपनी चिन्ता किसी को भी नहीं है।

महाराज! अपनी चिन्ता क्यों करें ? आचार्य उमास्वामी महाराज ने स्वयं तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र लिखा है-

''परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ ५/२१ ॥''

इसका अर्थ मोही प्राणी ऐसा करता है कि एक-दूसरे की चिंता करो। हाँ नाती का उपकार करो, नाती आपका उपकार करे। यह तो कहा है लेकिन उसी की चिंता में, करोड़ों रुपये एकत्रित करने में दिन-रात लगे रहने को नहीं कहा है। मैं चला जाऊँगा तो नाती का क्या होगा ? यही चिंता सताती रहती है। अड़ोसी-पड़ोसी नाती की ओर देखते तक नहीं। उसका कोई ख्याल नहीं करते। इसलिए जब तक मैं हूँ इसको हरा-भरा बनाये रखूँ। इसके उपरान्त कौन क्या करेगा, क्या पता ? सौ साल के वृद्ध होने पर भी नाती की चिन्ता करते हैं, अपनी चिन्ता नहीं करते।

धन्य हैं, वे जो संसार के रहस्य को जान गये और वे भी धन्य हैं जो जानने के प्रयास में जागृत हो गये। मोही प्राणी तो मोह की नींद में सोया रहता है। उसे जगाना बड़ा कठिन है। सोने वाले को फिर भी जगा सकते हैं लेकिन जो सोने का बहाना करके सोया है, उसे जगाना अत्यन्त कठिन है। जगे को जगाने की कोई आवश्यकता ही नहीं। तीर्थंकर जब दीक्षित होते हैं तब वे स्वयं दीक्षित होते हैं। उनके साथ हजारों राजा-महाराजा दीक्षित हो जाते हैं, लेकिन तीर्थंकर उनकी तरफ देखते तक नहीं। ऐसा क्यों ? वे अपना कार्य करते हैं, दूसरों की चिन्ता नहीं करते। हाँ कोई उन्हें देखकर अपना कार्य कर ले यह अलग बात है। पूर्व में लोक-कल्याण की भावना करते ही हैं, उसी के फलस्वरूप तीर्थंकर बनने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर लोककल्याण की भावना भाते हैं और आप चिन्ता करते हैं। आपमें और तीर्थंकर में यही बड़ा अन्तर है।

मोह के कारण माँ-पिता सोचते हैं कि यह मेरा बेटा, जल्दी-जल्दी बड़ा हो जाये, दस से बीस साल का हो जाये। माँ पिता की सोच पर बेटा कहता है कि माँ मैं दस साल के भीतर बीस साल का कैसे हो जाऊँगा ? फिर भी माँ सोचती है कि नहीं, मेरा बेटा तो जल्दी-जल्दी बड़ा हो जायेगा। मेरा बेटा होशियार हो जाये नादान है इसे ज्ञान प्राप्त हो जाये। आपका सोचना बिल्कुल ठीक है परन्तु ज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि एक डिबिया से निकालकर दूसरी डिबिया में रख दी जाये। एक का ज्ञान दूसरे में फिट कर दिया जाये। आजकल जैसे ऑपरेशन होता है-एक की आँख दूसरे के लिए फिट कर दी जाती है। आँख का दान तो फिर भी संभव है लेकिन ज्ञान का इस प्रकार लेन-देन नहीं हो सकता। मोह के कारण ऐसा सोचा जाता है। सभी लोग इस प्रकार एक दूसरे के उपकार के प्रति भावना करें, करना ही चाहिए; लेकिन वह भी एक सीमा तक रहना चाहिए। अन्यथा हम एक-दूसरे के अहित का अपराध भी कर सकते हैं। मोह के कारण सब कुछ संभव है। मोही व्यक्ति, शराबी व्यक्ति के समान वस्तु स्थिति को पहचान नहीं पाता। दुनिया में कितना भी महान् पुरुषार्थ किया जाये लेकिन यदि मोह से प्रभावित पुरुषार्थ है तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। दुनिया को जानना कोई जानना नहीं माना जाता किन्तु अपने आपको जानना सही जानना माना जाता है। दुनिया में किसी को भी अपना सही परिचय नहीं है। सब एक-दूसरे का परिचय पाने में लगे हैं। सबको सबका पता है लेकिन अपने आपके क्षेत्र में लापता हैं। आप कौन हो ? कहाँ से आये हो ? क्या गुण-धर्म है? आपको कुछ नहीं पता। दूसरों के बारे में कुछ पूछो तो खूब लम्बी तालिका बनाकर दे देते हैं। इसमें तो सभी स्पेशलिस्ट हैं लेकिन ये सभी अज्ञानी हैं, मोही हैं और मोह के द्वारा अपने स्वभाव को नहीं जानते। इसीलिए तो आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने कहा है कि-

''मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।''

मोह से आच्छादित हुआ ज्ञान स्वभाव को प्राप्त नहीं कर सकता।

उत्थानिका—आगे की कारिका में आचार्य कहते हैं कि ये शरीर, गृह, स्त्री आदि सर्वथा अन्य हैं, मेरे से पृथक् हैं, फिर भी मोही प्राणी इन्हें अपना मानता है-

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥

अन्वयार्थ— (वपुः गृहं) शरीर, घर **(धनं दाराः)** धन, स्त्रियाँ **(पुत्राः मित्राणि)** पुत्र, मित्र और **(शत्रवः)** शत्रु **(सर्वथा)** सब तरह से **(अन्यस्वभावानि)** अन्य स्वभाव वाले हैं परन्तु **(मूढः)** मोही प्राणी इन्हें **(स्वानि प्रपद्यते)** अपना समझता है।

धन-तन केतन वतन उपावन, मात-पिता सुत-सुता अरे!
परिजन पुरजन सहचर अनुचर, अग्रेचर रिपु तथा रहें।
सुन-सुन सब ये आतम से अति भिन्न-स्वभावी-ज्ञात रहे,
मूढ इन्हें नित निजी मानते भव में भटके भ्रान्त रहें॥८॥

All the objects, the body, the house, the wealth, the wife, the son, the friend, the enemy and the like, are quite different in their nature from the soul; the foolish man, however, looks upon them as his own.

Note - The wise always perceive themselves as different from the objects of the world whose relations are transient and temporary and perish after a time. The Self, however, is unperishing and eternal, and will pass away, on death, into some other form of life, leaving his newly-formed relations of a transient phase of life, in the course of his eternal wandering career, mourning his loss Some times the relations depart plunging us in mourning. Hence, the *acharya* points out that the relations and, like them, the other objects which either leave us or are themselves left behind, on death, are all different from the Self in their nature, for otherwise they will always accompany the soul and cause it pleasure at all times and under all conditions.

विवेचना—आचार्य अपनी बात शरीर से ही प्रारम्भ करते हैं, अन्य दूसरी वस्तुओं का कथन बाद में किया। शरीर क्या है? शरीर शरीर है, यह ज्ञान सही है। लेकिन शरीर मेरा है, ऐसा समझना मोह का परिणाम है। पूर्वमोह का संस्कार है। शरीर मेरा है, इसकी धारणा बनी हुई है। इसीलिए शरीर की संतति प्राप्त होती रहती है। लेकिन जो शरीर से निर्ममत्व हो जाता है वह शरीर संतति से मुक्त हो जाता है। देखो, परिजन वाले पुलिस हैं, क्योंकि वे पुलिस के समान काम करते हैं। कहीं जाना है तो पहले बताकर जाओ कि कहाँ जा रहे हो ? बेटा कहता है कि पिता जी मैं भी साथ में चलूँगा। गृहलक्ष्मी कहती है कि कहीं नहीं जाना है, जाना भी है तो मेरे बिना नहीं जा सकते इत्यादि विचार चलते रहते हैं। घर घर नहीं है किन्तु 'कारागृह' है। जिसको आप पसीना बहा-बहाकर श्रम करके बनवाते हो। आचार्य कहते हैं कि वह तो कारागृह है। जेल है। मतलब यह हुआ कि आपने जेल का निर्माण किया। 'वनिता बेड़ी' पत्नि को बेड़ी की संज्ञा दी है। बेड़ी कहाँ पर पहनाई जाती है? पाँव में। जिसने बेड़ी पहिन ली हो तो वह चल नहीं सकता, हथकड़ी होती तो चल भी लेता। नहीं समझे ? जो हाथ में डाली जाती है, उसको बेड़ी नहीं कहते। कहते तो हैं कि पाणिग्रहण हो गया, लेकिन स्थिति ऐसी है कि जिसका पाणिग्रहण होता है, मानो उसके पैरों में बेड़ी डल गई।

इसका नाम विवाहबन्धन है। 'वनिता' बेड़ी है, हथकड़ी नहीं। हथकड़ी पहने हुए अपराधी कई बार जेल से भाग जाते हैं, लेकिन पैरों में जब बेड़ी पड़ जाती है तो वे भाग नहीं सकते। आप सब मिलकर एक जेल में ही रह रहे हो। छोटे जेल में रहो या बड़े जेल में, बात तो एक ही है। अरे! इसे तो रहने को कुटिया मिली, मुझे तो ६-६ खण्ड का मकान मिला। ऐसा सोचकर लोग बड़े खुश होते हैं लेकिन उन्हें सोचना चाहिए कि वह तो छोटे जेल में है, अतः छोटा अपराधी है। मैं तो इतने बड़े जेल में हूँ अतः उससे बड़ा अपराधी हूँ।

एक बार हम लोग विहार कर रहे थे। एक भैंस को एक व्यक्ति चला रहा था, लेकिन वह चल नहीं पा रही थी। मुझे देखकर दया आ गई। मुझे लगा देखो, यह क्या कर रहा है? कितना निर्दय है? ऊपर से मार भी रहा है। उसके पैर को भी बाँधा है। उससे पूछा-ऐसा क्यों कर रहा है? उसने बताया कि-यह मारती ज्यादा है, अतः उसे एक तरफ से सींग से और एक पैर से इस प्रकार से बाँधा है कि वह चल तो सकती है, पर भाग नहीं सकती। सरकती-सरकती जा रही है। मैंने सोचा, इसकी यात्रा कैसी होगी ? इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि यह संसारी प्राणी अपराध करता है तो कारागृह में बन्द कर दिया जाता है। पैरों में बेड़ियाँ डाल दी जाती हैं। हाथों में हथकड़ी डाल दी जाती हैं। इसके साथ और भी साधन अपनाये जाते हैं। जैसे हाथी के लिए अंकुश होता है, ऊँट के लिए नकील होती है, घोड़े के लिए लगाम होती है, साईकिल के लिए ब्रेक होता है, आप लोगों के लिए क्या होता है? संयम होता है। सोचो, विचार करो कि ये सारे के सारे किसी न किसी बन्धन से ही चल रहे हैं, इसीलिए ठीक चलते हैं। यदि किसी पर कोई बन्धन नहीं होगा तो क्या होगा ? संयम ही एक मात्र मनुष्य की सुरक्षा के लिए बन्धन है और कोई भी बन्धन, बन्धन नहीं है। असंयम तो मोह के गर्त में ढकेलने वाला है। यदि आप अपनी आत्मा की रक्षा करना चाहते हो तो संयम के माध्यम से कर सकते हो, अन्यथा नहीं।

घर, मित्र, शत्रु, पुत्र, पत्नि, वैभव, धन ये सारे के सारे पदार्थ आत्म स्वभाव से पृथक् हैं, सबको ऐसा विश्वास होना चाहिए। लेकिन जो मोही/मूढ़ होता है, वह समस्त पदार्थों को अपना मानता है। शरीर मेरा नहीं है, ऐसी धारणा बनाकर शरीर से मोह छोड़कर साधना में तत्पर रहता है तो वह शरीर से छूट सकता है, लेकिन शरीर को अपना मानने वालों की स्थिति कैसी होगी ? पृथक् को अपृथक् मानने वालों से छहढाला में पं० दौलतराम जी कहते हैं-

पुद्गल नभ, धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान ॥२/३॥

उक्त जितने भी द्रव्य हैं वे सब आत्मद्रव्य से पृथक् हैं फिर भी मोही प्राणी उनके गुण धर्मों को नहीं जानता। उसके लिए पुनः पं० दौलतराम जी कहते हैं-

''ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान ॥''

सबसे ज्यादा खतरनाक है–देह में अपने आपका अनुभव करना। मैं खा रहा हूँ, मैं पी रहा हूँ, मैं बैठा हूँ, मैं जा रहा हूँ, मैं बोल रहा हूँ, मैं कह रहा हूँ, ये सब जितने भी विकल्प हैं वे सभी आत्मा को शरीरमय मानने वालों के हैं। शरीर सम्बन्धी क्रियाओं को लेकर ही आप लोगों की सुबह से शाम हो जाती है। यही कार्यक्रम चलता रहता है। ''ज्ञानी तो वह है जो शरीर को पृथक् करके आत्मा को देखने का प्रयास करता है और हमेशा इसी पुरुषार्थ में लगा रहता है कि शरीर सो मैं नहीं हूँ।'' शरीर में घटन-बढ़न कुछ भी हो वह मेरा नहीं है। इस प्रकार धीरे-धीरे जानोगे, चिन्तन करोगे, तो उदासी आयेगी और आत्मज्ञान पुष्ट होगा, अन्यथा नहीं। सब कुछ कार्य शरीर के आधीन होकर करो और मोक्षपुरुषार्थ सम्बन्धी सुख-सुविधा चाहो तो यह उचित नहीं है। मोक्षमार्ग के लिए कोई पूछे कि–शार्टकट है या लांग ही लांग है? न शार्टकट है न लांग। मोक्षमार्ग तो राइट कट है। सही-सही चलो, नहीं तो फिर घूम करके आना ही पड़ेगा। सही मार्ग का अर्थ यह है कि शरीर से मैं पृथक् हूँ, मेरा अस्तित्व पृथक् है। प्रत्येक क्रिया के साथ इसी पृथकता का अनुभव करने का प्रयास करके चलना, यही मोक्षमार्ग का उपाय है।

वपुर्गृहं...शरीर के बाद घर की बात आती है। आप सभी अपने-अपने घर की बात कर रहे हो। घर में रहने वाले लोग जिनके पास घर नहीं है उन्हें देखकर क्या कहते हैं? कि देखो। इनका जीवन कैसा है? रहने को घर ही नहीं है। कोई पूछताछ तक करने वाला नहीं है। हम तो कितने भाग्यवान हैं? सोचिये, विचार करिये! जिनके पास रहने को घर नहीं है, उन्हें लोग बेघर कहते हैं। लेकिन वास्तव में देखें, तो घर वाले कोई नहीं हैं सभी बेघर हैं अथवा किराये के घर में हैं। यह शरीर भी किराये का घर है। कौन ऐसा है यहाँ जो स्वाधीन जीवन जी रहा हो ? मात्र सिद्ध परमेष्ठी स्वाधीन होकर अपने घर में जी रहे हैं। वे शरीरातीत हैं। आत्मा ही उनका निजी गृह है। यह गृह तो गृह नहीं कारागृह है। आप लोग वैराग्य भावना में बोलते हैं कि–

घर कारागृह वनिता बेड़ी, परिजन जन रखवाले।१४।

इसलिए आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने कहा–''मूढ़ः स्वानि प्रपद्यते''। वीतराग सन्तों ने उन सभी को मोही, मूढ़ या अज्ञानी कहा है। वह सुजान नहीं अनजान है। जीवन क्या है? आत्मा क्या है? शरीर क्या है? इन सबका उसे समीचीन ज्ञान नहीं होता। लेकिन सन्तों ने जिन्हें ज्ञानी कहा है, वे हमेशा-हमेशा इन सब पदार्थों से बचते रहते हैं। कभी भी मेरा-तेरा नहीं करते, क्योंकि ज्ञानीजन कभी भी पर-पदार्थों में मेरा-तेरा नहीं करते।

सुबह से शाम तक आप सभी लोग अन्य पदार्थों के साथ कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वामित्व भाव रखते हैं। इनको जितना-जितना छोड़ोगे उतना-उतना ही आप मोक्षमार्ग के निकट होते चले जाओगे। इनके जितने निकट रहोगे, उतने ही मार्ग से दूर होते जाओगे। सोचना चाहिए कि मेरे आत्म-तत्त्व से भिन्न शरीर, गृह, वनिता, पुत्र, पुत्री, माता-पिता आदि जितने भी पदार्थ हैं उनका

आत्मा से मात्र संयोगी सम्बन्ध है। आत्मा तो इन सबसे पृथक् है। यह सब बाहरी दृश्य है और आत्म-तत्त्व अंदर का दर्शन है, भीतरी दृश्य है। इसलिए आत्मा आँखों के द्वारा देखने में नहीं आता। रसना के द्वारा चखने में नहीं आता। नासिका के द्वारा सूंघने में नहीं आता। कानों से सुनने में नहीं आता। वह तो भीतर रहता है, बाहरी जितने भी पदार्थ हैं, वे सब मोह के कारण अपने जैसे लगते हैं। ''संसार की मूल भित्ति इसी मान्यता पर खड़ी होती है।

प्रत्येक कार्य के लिए कोई न कोई कारण अवश्य होता है। संसार रूपी महाप्रसाद जो आज तक मजबूती के साथ खड़ा हुआ है। इसकी एक ईंट भी नहीं हिली। प्रत्येक जन्म में उसे सुरक्षित रखने का ही प्रयास चलता रहा। विषय-कषाय रूपी रसायन का प्रयोग किया जाता है जिसके द्वारा वह मजबूत बना रहता है। इसको ब्रह्मा या महावीर भगवान् जैसे भी आ जायें तो नहीं हिला सकते। इससे यह निश्चित हो जाता है कि भगवान् महावीर स्वामी जी के बल से भी आपके मोह का बल अधिक मजबूत है, क्योंकि उनके बल से भी यह डिगने वाला नहीं है, धराशाही होने वाला नहीं है। यह सब क्यों होता है? इतनी मजबूती कहाँ से आती है? आचार्य कहते हैं- यह सब मोह के कारण, अज्ञान के कारण होता है।

उत्थानिका—शरीर आदिक पदार्थ जो कि मोहवान् प्राणी के द्वारा उपकारक एवं हितकारक समझे जाते हैं, वे सब कैसे हैं? इसको आगे के श्लोक में उल्लिखित दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं-

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥

अन्वयार्थ— (नगे नगे) वृक्ष-वृक्ष पर **(दिग्देशेभ्यः)** दिशाओं और देशों से **(एत्य)** आकर **(खगाः)** पक्षी [संध्या के समय] **(संवसन्ति)** ठहर जाते हैं तथा **(प्रगे प्रगे)** प्रातः **(स्वस्वकार्यवशात्)** अपने-अपने कार्य के वश से **(देशे दिक्षु)** भिन्न-भिन्न देश, दिशाओं में **(यान्ति)** चले जाते हैं।

दिशा-दिशा से देश-देश से, उड़-उड़ पक्षी दल आते,
डाल-डाल पर पात-पात पर, पादप पर निशि बस जाते।
अपने-अपने कार्य साधने, उषा काल में फिर उड़ते,
दिशा-दिशा में देश-देश में, कहाँ देखते फिर मुड़के ॥९॥

The birds gather together to pass the night, on a tree, from various places in different direction in the evening; but at the earliest moment at the break of day they depart in the pursuit of their diverse purposes, for different places in all directions.

Note - The world is like a tree where the birds gather together to pass the night; in the morning they are gone. In the same way friends and rela-

tions are formed in this world, as if for the night; at the break of day we part company from them, each one going his own way, Who, then, but the foolish will suffer himself to be entangled with such 'roostintime ties ?

विवेचना—दिशायें दस प्रकार की होती हैं। मूल में चार दिशायें हैं, चार विदिशायें, एक ऊपर और एक नीचे, इस प्रकार ये दस दिशायें मानी जाती हैं। इन दसों दिशाओं से सभी जाति के पक्षी आकर बस जाते हैं। एक-एक वृक्ष पर रहते हैं, डाल-डाल पर, पात-पात पर बैठ जाते हैं। संध्या के समय आप देख सकते हैं कि सब्जी मण्डी में जैसी आवाज होती है, वैसी ही वे सभी पक्षी चूँ-चूँ आदि रूप में कलरव करते हुए सब अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। कब तक बैठते हैं? जब तक पूरी रात नहीं होती। जिस प्रकार यात्री स्टेशन पर अपने-अपने स्थान से आकर एकत्रित होते हैं, आपस में पूछताछ करते हैं, गाड़ी आ गई क्या ? प्लेटफार्म पर बैठकर गाड़ी की प्रतीक्षा करते हैं। गाड़ी आने पर सब कुछ छोड़-छाड़ कर गाड़ी में बैठकर जाने को तैयार हो जाते हैं। इस समय कोई किसी की कुछ नहीं सुनते। अपनी-अपनी धुन में रहते हैं। उसी प्रकार ये सारे के सारे पक्षी दिशा-दिशा से आ जाते हैं, बैठ जाते हैं। कौन कहाँ कब चले जाते हैं? आचार्य कहते हैं–''प्रगे-प्रगे देशे दिक्षु यान्ति'' प्रातःकाल होने पर वे सभी दिशाओं में जिस किसी क्षेत्र मे ंचले जाते हैं। यह उदाहरण परक एक कारिका है। इसमें तो मात्र पक्षियों को उपदेश दिया है, आपको कुछ नहीं कहा, ऐसा नहीं समझना। यह तो उदाहरण रूप है लेकिन उपदेश तो सभी को दिया है।

इस क्षेत्र (रामटेक) पर लोग कहाँ-कहाँ से आये ? कोई नागपुर से, कोई सिवनी से, कोई उस पार से, कोई इस पार से आ गये। जब यहाँ से जाओगे तो कोई किसी को कुछ पूछता नहीं। आपके जाते समय यदि कोई कहे आप मत जाइये, आज का मुहूर्त अच्छा नहीं है, आज आपका जाना ठीक नहीं रहेगा, तो आप कह देते हैं कि मुहूर्त ठीक हो या न हो हम तो जा रहे हैं। इसी प्रकार संसारी प्राणी संसार में आ जाते हैं। कोई पचास साल के लिए, कोई साठ साल के लिए, कोई सौ साल के लिए, कोई पन्द्रह साल के लिए आते हैं और खूबी तो यह है कि जब आते हैं तो मंगलगीत होते हैं और जाते हैं तो दंगल गीत होने लग जाते हैं यानि रोते-रोते शोक मनाते हैं। मोह हमेशा हमेशा अपना काम करता रहता है।

यह जीव हमेशा शरीर को संवार कर, सहेज कर, शृंगार करके नया-नया बनाने का प्रयास करता है। नया जैसा लगने लग जाता है लेकिन शरीर तो हमेशा शीर्ण स्वभाव वाला ही है, वह तो पुराना ही होता चला जाता है। आत्मा कभी जन्म नहीं लेती, न कभी मरती है। आत्मा का शरीर नहीं है, किन्तु इस शरीर में रहकर आत्मा मोहित ज्ञान के माध्यम से अपने स्वभाव को न जानकर, मोह के प्रभाव में आता है और जो अपना नहीं है उसी को अपना कहता है। इष्ट पदार्थों का वियोग हो जाता है तो रोने लग जाता है और अनिष्ट पदार्थों का संयोग होता है तो भी रोने लग जाता है। इष्ट

सामग्री की सुरक्षा और अनिष्ट सामग्री के प्रतिकार में इसका पूरा का पूरा जीवन निकल जाता है। अपने-अपने कार्य के वशीभूत हो करके अपने-अपने देश चले जाते हैं। आप लोग भी आते हैं, चले जाते हैं। तीर्थंकरों के वंश में भी लोग आए और चले गये, लेकिन आत्म स्वभाव के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं कर पाये।

'महापुराण' का उल्लेख हो सकता है कि चक्रवर्ती की ९६००० रानियाँ होती हैं, उनमें से ३२००० रानियाँ तो म्लेच्छखण्ड से आती हैं शेष ६४००० आर्यखण्ड की होती है। म्लेच्छखण्ड पाँच होते हैं, आर्यखण्ड एक होता है। म्लेच्छखण्डों से उतनी रानियों का आना यह एक नियोग होता है। कोई भी चक्रवर्ती हो तो उसको ३२००० हजार रानियाँ म्लेच्छ खण्ड से ही आयेंगी क्योंकि चक्रवर्ती का प्रभाव ही ऐसा होता है। वह षटखण्डाधिपति होता है जिससे म्लेच्छखण्ड भी प्रभावित होता है। फलतः वहाँ के राजा अपनी-अपनी कन्याओं का दान करते हैं। मुख्य ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि जब चक्रवर्ती धार्मिक कार्यों में लीन होता है तो ९६००० रानियाँ भी उसके साथ रहती हैं। वे ३२००० रानियाँ उस समय अपने आपको म्लेच्छखण्ड से आयी हुई नहीं समझतीं बल्कि वे भी संगति में आकर धर्म-परायण हो जाती हैं। प्रत्येक धर्म कार्य में सम्मिलित होकर वे भी आत्मा परमात्मा की चर्चा करने लग जाती हैं। सोचने की बात है, आप लोगों को सोचना चाहिए कि म्लेच्छखण्ड की होने के बाद भी धार्मिक कार्यों में लीन रहती हैं। यदि कोई कहे कि उन्हें अपनी वंश परम्परा नहीं छोड़नी चाहिए। तो आचार्य महाराज कहते हैं कि शरीर का वंश अलग है,आत्मा का वंश अलग है। आत्मा को हंसा कहा है। आप लोग भी कहते हैं कि बगुले की रीति को नहीं अपनाना चाहिए, किन्तु अपनी नीति को ही सुरक्षित करके रहना चाहिए। आप लोग जिस देश में रहते हैं वहाँ के सारे के सारे काम करने लग जाते हैं चाहे धार्मिक हों या अधार्मिक। सोचने की बात है कि चक्रवर्ती के यहाँ म्लेच्छखण्ड की भी सभी रानियाँ इतनी शिक्षित और संस्कारित हो जाती हैं कि म्लेच्छखण्ड की परम्परा की बात तक नहीं करतीं। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि शरीर में रहकर आत्मा को केवल शरीर की परम्परा की ही बात नहीं करना चाहिए। शरीर तो भोग सामग्री है ऐसा मोही प्राणी मानता है, लेकिन सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से तो यह शरीर योग की सामग्री है। सम्यग्दृष्टि जीव इस शरीर के माध्यम से शरीरातीत होने का प्रयास करता है, जबकि मोही प्राणी मात्र भोग का विषय बनाकर अपना जीवन गुजार देता है और भविष्य में उसका जीवन गर्त में पड़ जाता है। शरीर में रहने पर भी आत्मा अपनी और शरीर की स्थितियों को समझ नहीं पाता। आप सब को भी विचार करना चाहिए कि हम सभी को इस पिंजरे में रहते-रहते बहुत काल व्यतीत हो गया, बहुत दिन हो गये, अब तो कम से कम आत्मा की खबर ले लेना चाहिए और आत्मा की चर्चा कर लेना चाहिए।

आचार्य पूज्यपादस्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में ''आर्या म्लेछाश्च''॥ ३/३६ ॥ इस सूत्र की

व्याख्या करते हुए आर्यों का लक्षण बताया है कि ''गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः'' ॥१७१॥ जो गुणों के द्वारा मान्यता को प्राप्त हो अथवा गुणी व्यक्तियों के साथ रहता हो वह आर्य माना जाता है। यह लगभग १५०० वर्ष प्राचीन ग्रन्थ है। वह आचार्य उमास्वामीजी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र पर टीका ग्रन्थ माना जाता है।

आगे ध्यान दीजिए कि शरीर का जन्म हुआ यह तो निश्चित है, लेकिन जन्म लेने वाले का जन्म नहीं हुआ। शरीर में जन्म अवश्य हुआ। इसका अर्थ यह है कि आत्मारूपी हंसा एक पिंजरे से दूसरे पिंजरे में गया है। इसलिए पिंजरे के माध्यम से वह पहचान में आने लगा। शरीर जन्म लेने के उपरान्त कुछ समय तक बढ़ता चला जाता है फिर पुष्ट होता जाता है। पुद्‌गल अपना परिचय अपने स्वभाव पूरण-गलन क्रिया से देता रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के निमित्त से जिस देश में पुष्ट होता है फिर अपने आप उसी देश में रहकर बिखरना प्रारम्भ कर देता है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के द्वारा परिणमन/परिवर्तन होता रहता है। फिर यह बड़ा हो गया, यह छोटा है आदि व्यवहार होता है। 'राजवार्तिककार' आचार्य अकलंकस्वामी जी कहते हैं कि पर से सम्बन्ध-सम्बन्धी होने के कारण आत्मा में अनेकता आ जाती है। अनेकान्त हमेशा पर सापेक्ष होता है इसी को लेकर प्रायः हम व्यवहार में कहा करते हैं कि यह बड़ा हो गया, यह छोटा है, यह दुबला हो गया, यह मोटा है, इस प्रकार की उपाधियों से व्यक्ति की रीति-नीति का परिचय होता है। उसके आचरण से रहन-सहन एवं वेशभूषा से उसकी पहचान करते हैं। जीव की विभिन्न अवस्थाओं में भेद डालकर यह व्यवहार होता है।

मैं कह रहा था कि ''**गुणैर्गुणवद्‌भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः**'' अर्थात् गुणों के द्वारा जो मान्यता को प्राप्त होता है वह आर्य माना जाता है। गुण से क्या तात्पर्य है? गुण से तात्पर्य है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अर्थात् अच्छे संस्कार, अच्छे विचार, अच्छे आचार, इन गुणों के विकास होने पर हम कह सकते हैं कि आत्मा का विकास हो रहा है। इन गुणों के पूर्ण विकास का अवसर आत्मा को मनुष्य गति में ही प्राप्त होता है। मनुष्यों में भी आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए मनुष्यों को यह अवसर प्राप्त होता है। इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि जो म्लेच्छखण्ड में उत्पन्न मनुष्य हैं वे मुनि नहीं बन सकते। हाँ, इतना जरूर है कि वहीं रहते हुए मुनि नहीं बन सकते। कोई धर्म कार्य नहीं कर सकते। वहाँ तो केवल षट्कर्म चलते हैं। असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या वहाँ पर इन षट्कर्मों पर आधारित व्यापार चलता रहता है, किन्तु धर्म से उनका कोई सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं होता।

प्रश्न—म्लेच्छखण्डों में धर्म का सम्बन्ध क्यों नहीं रहता ? क्या वे म्लेच्छखण्ड के योग्य धर्म का पालन करते होंगे ?

समाधान—आचार्य महाराज कहते हैं कि ''धर्म षट्कर्मों पर आधारित नहीं होता। धर्म तो

गुणात्मक इकाई है जो आत्मा से संबंधित है। आर्यखण्ड में ही उसकी प्राप्ति होती है।'' धर्म आत्मा की वस्तु है न कि शरीर की या क्षेत्र की। क्षेत्र की अपेक्षा जब कोई म्लेच्छखण्ड का मनुष्य इधर आ जाता है और यहाँ आकर धर्म की बात करने लग जाता है, धर्म को स्वीकार करने लग जाता है तो उसको भी आत्मविकास का अवसर प्राप्त हो जाता है। अपना विकास कर लेता है। लेकिन आप लोग यहाँ पर रहकर भी उन गुणों की ओर दृष्टिपात नहीं कर पाते। बल्कि जीवन को आदि से लेकर अन्त तक षट्कर्मों में ही गंवा देते हैं। भीतरी सम्यक् गुणों की बात ही नहीं करते, तब भी आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने आप लोगों को 'क्षेत्रार्य' की कोटि में रखा है। उन्होंने आर्यों के पाँच भेदों का वर्णन किया है। जो कुल परम्परा से आर्यखण्ड में उत्पन्न हुआ वह 'क्षेत्रार्य'। जो उच्चजाति में उत्पन्न हुआ वह 'जात्यार्य' जो चारित्र धारण करके रहता है वह 'चारित्रार्य' है। जिसको सम्यग्दर्शन प्राप्त है वह 'दर्शनार्य' कहलाता है। मात्र आत्मतत्त्व की चर्चा करने वाले को दर्शनार्य नहीं कहते, किन्तु जो भीतरी आत्म-तत्त्व की परख करने वाला होता है, जो आत्मतत्त्व का श्रद्धान करता है, उसे दर्शनार्य कहा है। उस आत्मतत्त्व की ओर जिनकी दृष्टि नहीं है वे शेष चार आर्यों में आ जाते हैं। अन्तिम एक कर्मार्य होते हैं- कर्म से आर्य 'कर्मार्य'।

आचार्य कहते हैं-''हम अनन्तों बार इस आर्यखण्ड में जन्म ले चुके हैं, अतः क्षेत्रार्य तो अनन्तों बार बन चुके, लेकिन शेष आर्यों में गिनती नहीं हुई। पक्षी बनकर यहाँ पर बैठ तो गये, लेकिन बिना कुछ लाभ उठाये हम चल दिये कहीं और अन्यत्र।'' वृक्ष के फल कितने मीठे हैं, खा नहीं पाये। कुछ ऐसे पक्षी होते हैं जो स्वादिष्ट भोजन इत्यादि के लिए कभी सोचते ही नहीं। उनके लिए तो सड़ा गला मांस ही चाहिए, इसी के माध्यम से वे अपना जीवन निर्वाह कर लेते हैं। मीठे पदार्थों की ओर देखते तक नहीं। उन्हें सूँघते तक नहीं हैं। संसारी प्राणी ऐसा ही है। मोही होने के नाते विषय-कषायों में ऐसा फँसा है कि धर्म की बातें सुनने समझने में नहीं आती। इसलिए ''देशे दिक्षु प्रगे प्रगे'' मनुष्य जीवन को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। इस प्रकार अनन्त काल से भटकता आया है। कहाँ से आये हो ? सोचो, विचार करो। अरे! इतना भी ज्ञात नहीं कि कहाँ से आए हो? बोलो-बोलो। कहीं न कहीं से तो आए हो। हाँ, महाराज कहीं न कहीं से तो आए ही हैं पर अभी कहाँ से आए, यह हमें ज्ञात नहीं है। कभी नरकों से आ जाते हैं, कभी तिर्यञ्चों से, कभी मनुष्यों से, तो कभी देवों से आकर मनुष्य बन जाते हैं। मनुष्य बनने का द्वार तो चारों गतियों से खुला है।

विचार करो! जब नरकों में रहते हैं तो वहाँ क्षेत्रगत प्रभाव होगा ही। वहाँ भले ही किसी ने सम्यग्दर्शन की उपासना की हो, लेकिन चूँकि पूर्व में नरकायु का बन्ध कर लिया हो, तो उसे नरक में जाना अनिवार्य हो जाता है। वहाँ जाते ही ''परस्परोदीरित-दुःखाः ॥ ३/४ त० सू० ॥'' परस्पर उदीरित दुःख का अनुभव करना पड़ता है। ऐसा क्यों ? क्षेत्र का प्रभाव है। जैसे यहाँ किसी व्यक्ति का अवसान हो जाता है तो उसके यहाँ कुछ व्यक्ति बाहर से बैठने के लिए आ जाते हैं। उस समय

उस घर में सदस्यों को रोना ही पड़ता है। यह उस काल का एवं परिस्थिति का प्रभाव रहता है। क्षेत्र, काल उसका ऐसा ही है। इसी प्रकार नारकियों को सम्यग्दर्शन भी हो और अवधिज्ञान भी, तब भी उनको ''मैं शुद्ध-बुद्ध निरञ्जन स्वरूप आत्मतत्त्व हूँ'' यह विचार नहीं आता। क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी क्यों न हो, उसे भी वहाँ पर इस प्रकार का तत्त्व चिन्तन नहीं होता। ऐसा क्यों ? यह क्षेत्र का प्रभाव है। इसलिए कभी-कभी आत्मा को कर्म के उदय में ऐसे कार्य न चाहते हुए भी करना पड़ते हैं। क्षेत्र की बात है कि वहाँ हमेशा एक दूसरे से लड़ाई-झगड़े, छेदन-भेदन आदि होते रहते हैं। वहाँ की परम्परा कैसी है? कि वहाँ पर जन्म होते ही जाति-स्मरण हो जाता है जिसके फलस्वरूप सामने जो नारकी खड़े दिखते हैं, वह उनको पहचान लेता है, यह तो माँ का जीव है, लेकिन क्षेत्र के प्रभाव से वह सोचता है कि यह माँ नहीं, यह तो महान् वैर को करने वाली है। जब मैं छोटा था, कोमल था तब यह हाथ में काजल लगाकर मेरी आँखें फोड़ना चाहती थी। लेकिन यह तो मेरा भाग्य था कि आँखें फूट नहीं पाईं। माँ तो काजल लगाकर आँखों को स्वस्थ रखने के लिए यह क्रिया करती थी लेकिन नरक अवस्था में ज्ञान उल्टा ही विचार करता है। कुअवधि ज्ञान से नारकी जीव हमेशा अच्छी बात को भी गलत मानकर चलता है। सागरों पर्यन्त आयु को भी नारकी जीव ''हित को अहित और अहित को हित'' रूप में मानकर व्यतीत करता रहता है। और अपने आत्मबोध से वंचित रहता है। वहाँ पर अवधिज्ञान भी है, वेदना भी बहुत है लेकिन इस वेदना से आत्मा को कुछ नहीं हो सकता ऐसा ज्ञान होना कठिन है।

अतः संसारी प्राणी को सोचना चाहिए कि कल्याण की बात किसी के द्वारा भी समझ में आ रही हो तो उसे और अधिक गहनता से समझने का प्रयास करना चाहिए। अन्यथा अवसर चूक जाने पर कभी समझना चाहोगे और प्रयास भी करोगे तो भी समझ नहीं पाओगे। फिर उस समय पश्चाताप ही हाथ लगेगा। फलतः आपका भी वही हाल होगा जैसा कि पक्षियों का होता है। वे भव-भव में जाकर आते रहेंगे। पुनः वहीं-वहीं जाना आना होता रहेगा। आत्मबोध होने पर यह भ्रमण छूट सकता है। आत्मबोध नहीं होने के कारण ही मोह के वशीभूत हो पर पदार्थों के प्रति आसक्ति का भाव रहता है, सब पर-पदार्थों को उन्हें ग्रहण कर सञ्चित करने का प्रयास चलता रहता है जबकि भूधरदास कृत बारह भावना में आप लोग स्वयं प्रतिदिन पढ़ते हो कि-

आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय ॥४॥

कोई वृद्ध मर जाता है, तो क्या कहा जाता है? आज हमारे दादा जी, बाबा जी चले गये। कहाँ चले गये ? अकेले कैसे चले गये ? उनको तो आँखों से दिखता नहीं था। ऊपर चढ़ने की हिम्मत भी नहीं थी। कानों से सुनाई नहीं देता था। उनकी तो चलने की भी स्थिति नहीं थी। कहाँ चले गये? कहाँ से चले गये ? रास्ता ज्ञात हो तो बता दो, हमें उनके साथ जाना जरूरी था। कोई बात नहीं,

अभी भी रास्ता बता दो रास्ते में मिल जायेंगे तो हम उन्हें चलने में सहयोग कर देंगे। कोई समझाता है कि वे तो चले गये। एक समय में ही जहाँ पहुँचना था, पहुँच गये। तुम वहाँ साथ देने नहीं जा सकोगे। जैसा आयुकर्म बंधता है, उसके उदयानुसार उनकी गति होती है। आप सभी मिलकर एक इंच भी उन्हें इधर-उधर नहीं कर सकते। एक समय भी आगे-पीछे नहीं कर सकते। जिस व्यक्ति को जितनी दूरी तय करना है, उसमें इंच भर भी कमीवेशी नहीं कर सकते। सात-सात राजू की दूरी भी एक समय में पार की जा सकती है। इस प्रकार संसारी प्राणी शरीर के आश्रित होकर पुनः पुनः अकेला ही जन्म-मरण करता है। तभी तो कहा है-आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय। आते दम भी अकेला जाते/मरने दम भी अकेला रहता है। फिर भी इन दोनों अवस्थाओं के बीच में यदि अकेला हो जाता है तो घबड़ा जाता है। जब जीवन का प्रारम्भ भी अकेले किया, उसका अन्त यानि मरण भी अकेले ही करोगे फिर बीच में यदि कुछ समय को अकेले हो जाते हो तो घबराहट का अनुभव क्यों करते हो ? ऐसा क्यों सोचते हो कि अरे! हमें तो कोई पूछने वाला ही नहीं है। आचार्य कहते हैं कि कितनी बार तो पूँछ लगी मिली है, अब पूँछ लगाने का भाव क्यों करते हो ? आचार्यों ने इस प्रकार अनेक बार समझाया, पर जिसे राग की बहुलता होती है, मोह की बहुलता होती है उसे यह सब कुछ समझ में नहीं आता। इसीलिए उसका कल्याण भी नहीं हो पाता। लेकिन जिसे वैराग्य हो जाता है, उसे आचार्यों की बात एक बार में ही समझ में आ जाती है और वह अपना कल्याण भी कर लेता है।

सुनिये! एक प्रसंग सुनाता हूँ-चक्रवर्ती की ९६००० रानियाँ होती हैं। जिनमें से ३२००० म्लेच्छखण्ड से आने वाली होती हैं। म्लेच्छखण्ड में रहते हुए अपने वंश में वे कोई धर्म नहीं करती थीं, लेकिन जबसे चक्रवर्ती के वंश में आती हैं तो वे सभी धर्मपारायण हो जाती हैं, क्योंकि चक्रवर्ती के वंश में एक नियम रहता है कि ''उनके यहाँ पर कोई भी अधर्मी नहीं हो सकता।'' उनके वंश में गूंगा, बहरा, लंगड़ा इत्यादिक नहीं होते। यहाँ तक सुनते हैं कि उनके वंश में कोई अकालमरण को प्राप्त नहीं हो सकता। इसके उपरान्त भी उसकी पटरानी जो पुत्ररत्न से रहित होती है फलतः रूपवान होती है चूँकि रूप का अभिमान, बहुत बड़ा अभिमान, उसमें पाया जाता है। उसके फलस्वरूप वह छठवीं पृथ्वी में जाकर जन्म लेती है। इस प्रसंग को इसलिए सुना रहा हूँ आप लोगों को ''दिग्देशेभ्यः खगाः एत्य'' वाली बात है। कहाँ-कहाँ से जीव आते हैं? किन-किन व्यक्तियों के साथ रहते हैं? और अन्त में क्या-क्या करके कहाँ-कहाँ चले जाते हैं? मुझे विश्वास नहीं होता कि इतना पुण्यशाली धार्मिक चक्रवर्ती का वंश, परिवार, उसका स्वयं का पुण्यमय जीवन और उसके साथ वर्षों तक रहकर भी वह पटरानी अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में कृष्ण लेश्या के साथ कैसे रह जाती है? छठवीं पृथ्वी में कैसे चली जाती है? इस कथानक को आप लोगों को एक बार नहीं, बार-बार पढ़ना चाहिए।

एक मोक्षगामी जीव चक्रवर्ती जिसकी ९६००० रानियाँ, ३२००० मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा सम्मान पाने वाला, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, अठारह करोड़ रथ, नौ निधियाँ, चौदह रत्न, पिता जी तीर्थंकर, छोटे भाई कामदेव, स्वयं चक्रवर्ती जिसका धर्ममय व्यक्तित्व उसके साथ रहने वाली वह पटरानी। कैसा उसका हिसाब-किताब रहा होगा ? भावों का कैसा लेखा-जोखा चलता रहता है? चक्रवर्ती के वंश में जहाँ हमेशा शाकाहार, शुद्ध घी, दूध मिलता है। सुबह का भोजन शाम को नहीं खाया जाता और शाम का भोजन सुबह के लिए बच ही नहीं सकता। अतः बासा खाने की बात ही नहीं है, फिर भी ऐसा कौन-सा पाप हो गया होगा, जिससे छटवें नरक की आयु का बन्ध हो गया। मैं तो जब भी यह कथा पढ़ता हूँ, तो सोचता ही रहता हूँ कि यह भावों का कैसा खेल है। उसे स्वरूप का नहीं, मात्र रूप का अभिमान रहता है कि मैं सबसे सुन्दर हूँ। कहीं मेरा रूप कम न हो जाये, ऐसा अपने रूप का इतना अभिमान रहता है कि वह गर्भधारण नहीं करती। संतानहीन रहकर ही चक्रवर्ती को अपने रूप सौन्दर्य द्वारा प्रभावित करने का प्रयास करती रहती है और शेष समस्त रानियों को भी अपने रूप के द्वारा पराजित करने का भाव करती रहती है। अपने को सबसे बड़ी मानती है। वह नहीं समझती कि मेरा वर्तमान तो इतना रूपवान् है लेकिन भविष्य कितना काला/कुरूप। छठवीं पृथ्वी से आगे स्त्रियों का गमन ही नहीं होता। मतलब यह हुआ कि नारी की योग्यतानुसार नरक के अंतिम छोर को उसने छू लिया। कहाँ चक्रवर्ती की पटरानी और कहाँ वे ३२००० रानियाँ म्लेच्छखण्ड की जो आर्यिका बन जाती हैं, वे सद्गति को प्राप्त करती हैं। अगर आर्यिका नहीं बनती तो बताते हैं कि वे सभी रानियाँ अष्टमी, चतुर्दशी, आष्टाह्निकपर्व आदि में शुद्ध वस्त्र पहिनकर पूजन, चिन्तन, मनन में लीन रहती हैं।

सोचो, विचार करो कि भाव अलग हैं और दृश्य अलग है। भीतर का अलग और बाहर का दृश्य अलग है। जिस प्रकार वस्त्र को परिवर्तित करके आप दूसरे वस्त्र पहनते हो उसी प्रकार एक गति से दूसरी गति में जीव जाता है तो अपने शरीर को पुराने वस्त्र की भाँति छोड़ देता है और दूसरे शरीर को नवीन वस्त्र की भाँति ग्रहण कर लेता है। मनुष्य से नारकी के वेश को धारण करना अच्छा नहीं, क्योंकि यह लज्जा की बात है। लेकिन नारकी से मनुष्य वेश को धारण करे तो अच्छा है, क्योंकि इसमें उसकी उन्नति हो गई। वैसे ही निगोद से मनुष्य होना बहुत अच्छा है, विकास है लेकिन मनुष्य से निगोद होना ये अवनति है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने 'भावपाहुड' में कहा है कि यदि मुनि हो करके तिल-तुस मात्र भी परिग्रह रखता है तो निगोद का पात्र बनता है। साथ में यह भी कहा कि यदि कोई देव-गुरु-शास्त्र की किसी भी कारण वश अवहेलना करता है तो उसका कषाय प्रचुर जीवन होता है। निगोद में कुछ ऐसे जीव रहते हैं कि जो अभी तक निगोद से निकलकर ही नहीं आये। उनके लिए आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती स्वामी जी ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है कि "**भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥१९७॥**" वे निगोदिया

जीव प्रचुरित कषाय वाले होते हैं इसलिए निगोदवास को नहीं छोड़ पाते। सभी प्रकार की कषायें उनमें पाई जाती हैं। वे वहाँ पर अन्धत्व का अनुभव करते हैं, वहाँ पर ज्ञान भी नहीं है। ज्ञान की अपेक्षा वे जघन्यता का अनुभव करते हैं। एकेन्द्रिय होते हैं उसमें भी यदि अपर्याप्तक हों तो एक इन्द्रिय सम्बन्धी पर्याप्ति को भी पूर्ण नहीं कर पाते कि मरण हो जाता है, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति भी पूर्ण नहीं कर पाते अर्थात् श्वास तक नहीं ले पाते कि मरण हो जाता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि देखो! मनुष्य से निगोद में चले जाना कितना अवनत जीवन हो गया और निगोद से मनुष्य बन जाये तो कितना उन्नत जीवन हो गया। यह सब भीतरी भावों का दृश्य अपने सामने फलीभूत होकर आता है। अब इस ओर दृष्टिपात् करिये और दुर्लभता से पाने योग्य पर्याय मिली है तो इसका अभिमान मत करिये। आचार्य समन्तभद्र स्वामीजी, ने 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में आठ मदों के व्याख्यान में एक 'रूप' मद को भी व्याख्यायित किया, कोई कुल का मद करता है, कोई ज्ञान का मद करता है, कोई जाति का मद करता है, कोई पूजा, तप आदि का मद करता है। अरे! जो ज्ञान मोक्षमार्ग में कर्मों से बचने के लिए प्रकाश का कार्य करता है ज्यादा कुछ नहीं करता उस ज्ञान का क्या अभिमान कर रहे हो, इसका अभिमान करोगे तो सम्यग्दर्शन रूपी गुण कलंकित हो जायेगा, जीवन में अंधेरा छा जायेगा। छहढाला में आप पढ़ते हो, क्या लिखा है?

मद धारै तो यही दोष वसु, समकित को मल ठानै। ३/१४।

यानि मद धारण करने से समकित मलिन हो जाता है। समकित को मल ठानै अर्थात् समकित कोमल हो जाता है ऐसा अर्थ नहीं करना। वज्र के समान सम्यग्दर्शन भी मद के द्वारा भिद जाता है, कलंकित हो जाता है। नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है इसलिए मदों को नहीं करना चाहिए।

जिस प्रकार आप लोग घर में अपने वस्त्रों की, बर्तनों की, आभूषणों की नूतनता व स्वच्छता बनाए रखने के लिए उन्हें धूल आदि से बचाये रखते हैं और लगी हुई धूल को अच्छे ढंग से धोते रहते हैं। मालिस, पॉलिस करते रहते हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन मटमैला न हो जाये इसलिए कषायों से, मदों से हमेशा बचना चाहिए। पर्याय बुद्धि बहुत खतरनाक है उससे भी बचना चाहिए। 'दर्शन विशुद्धि' भावना के द्वारा सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने का प्रयास करना चाहिए।

उत्थानिका—आचार्य आगे के श्लोक में शत्रुओं के प्रति होने वाले भावों को ''ये हमारे शत्रु हैं'', 'अहितकर्ता हैं' आदि अज्ञानपूर्ण बतलाते हुए उसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। साथ ही ऐसे भावों को दूर करने के लिए प्रेरणा भी करते हैं–

विराधकः कथं हन्त्रे जनाय परिकुप्यति।
त्र्यङ्गुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥१०॥

अन्वयार्थ— (विराधकः) अपकार करने वाला मनुष्य **(हन्त्रे जनाय)** मारने वाले मनुष्य के

लिए **(कथं परिकुप्यति)** क्यों क्रोध करता है **(त्र्यङ्गुलं)** तीन अँगुली वाले उपकरण को **(पद्भ्यां)** पैरों के द्वारा **(पातयन्)** गिराता हुआ मनुष्य **(स्वयं दण्डेन)** स्वयं लकड़ी के बेंट (डंडे) द्वारा **(पात्यते)** गिराया (झुकाया) जाता है।

हत्यारा यदि हत्या करता, तुम क्यों? उस पर क्रोध करो,
हत्यारे तो तुम भी हो फिर, कुछ तो मन में बोध धरो।
त्र्यंगुल को निज पैरों से जो, कोई मानव गिरा रहा,
उसी समय पर उसी दण्ड से, स्वयं धरा पर गिरा अहा ॥१०॥

Why should the evil-doer become angry with him who takes revenge on him ? He who pulls down the *trangura* with both his feet is himself felled to the ground through its instrumentality ! This is but just ! It there fore, does not become one to get angry !

Note - The trangura is an instrument so constructed that if a man holds it with both his hands and then tries with his feet to pull it down to the ground, it will overthrow him at once. The *acharya* likens the action of an evil-doer to the result of pulling down the *trangura*. The evil one experiences at this moment from the hands of an enemy is sure enough the result of one's own evil-doing in the past. It is that evil which like the *trangura* has rebounded on oneself and is responsible for one's suffering. Surely, this is but justice, pure and simple. Where is then room for anger in this ? The point is that in this world evil is caused by evil, what is experienced now as an evil, experience is sure enough the resultant of an evil act done by us in the past. The experiencer of evil is thus him self proved to be the doer of evil and the cause of his own suffering. Still it is necessary to punish the evil-doer, for otherwise it will be destructive of society and good order. The wise man should, however, so control himself that he should do his duty, but should not allow himself to be carried away by passion in its discharge. The judge, for instance, should so deport himself as to punish the prisoner who is proved to be guilty, but while doing so he should maintain his own serenity of mind and should not allow his decision to be influenced by anger. The result of anger is very harmful for the soul; it tends to undesirable conditions in the next rebirth. Hence, the judge who allows his mind to be *swayed* by passion will be incurring the liability for a painful hereafter,

while the judge who merely discharges his duty and remains calm and collected and of an unruffled temperament will be avoiding that liability and will also be shortening his own bondage as the result of passionlessness.

विवेचना—उक्त कारिका में यह कहा जा रहा है कि तुम अपने आवेग को दूसरों के ऊपर थोपना चाहते हो, यह तुम्हारा कितना अज्ञान है? दूसरा कोई मारने के लिए आता है उसे देखकर तुम उसे मारने के लिए आवेश में आ जाते हो, यह कितना विस्मयकारी दृश्य है, या कितना अज्ञानपूर्ण दृश्य है? क्यों तैयार हो जाते हो उसे मारने के लिए ? आचार्य कहते हैं कि संसारी प्राणी कषाय के आवेग में मात्र उपरिल शरीरगत चेष्टा देखकर ऐसा करने को तैयार हो जाता है। उसकी आत्मा के साथ उसका कोई परिचय नहीं होता है। शारीरिक चेष्टा को देखकर उसे वैरी के रूप में समझकर सभी एक दूसरे को मरने मारने को तैयार हो जाते हैं। जबकि निश्चय से देखा जाये तो मूलतः कोई किसी का वैरी नहीं है, यह तो मोह के कारण ऐसा होता है। उदाहरण के तौर पर जैसे—मान लो कोई रोगी है वह अस्पताल में भरती हो गया, पेट की पीड़ा उसे सता रही है, डॉक्टर अभी तक आया नहीं है, प्रतीक्षा में है, समय होने पर जब डॉ॰ आता है, हाथ पकड़ता है, तो हाथ दे देता है, पैर पकड़ता है तो पैर दे देता है, कभी-कभी पीड़ा के कारण हाथ से या लात से मार भी देता है, तो भी डॉ॰ या वैद्य उस पर गुस्सा नहीं करते। क्यों नहीं करते ? क्योंकि वे समझते हैं कि व्यक्ति रोगी है। रोग के कारण प्रहार कर रहा है। लेकिन जब वैद्य की औषधि सेवन करने से स्वस्थ हो जाता है, तब उसे अपनी गलती का भान होता है तो वैद्य के चरणों में गिरता है, क्षमा मांगता है और कहता है कि डॉ॰ साहब आपने बड़ा उपकार किया, हमने तो आपको हाथ भी मारा, लात भी मारी थी। डॉ॰ साहब कहते हैं कि— तुमने नहीं, रोग ने लात मारी थी मुझको भी गुस्सा आ गया तो मैंने भी लात पकड़ी और चिकित्सा चालू कर दी। चिकित्सा करके रोग निकाल दिया। वह रोगी कहता है कि— डॉ॰ साहब, आपने बहुत अच्छा किया। आपने दोनों अच्छे काम कर दिए। हमारे दोनों काम हो गये। कौन से काम हो गये ? एक तो शरीर की चिकित्सा हो गई और क्रोध को जीतने की कला भी मुझको प्राप्त हो गई। ''एक पंथ दो काज'' हो गये। डॉ॰ कभी मरीज को लात नहीं मारता, वह तो शान्त भाव से चिकित्सा करता है। कोई-कोई रोगी हाथ-पांव तो नहीं मारते, लेकिन डॉ॰ साहब को गाली देते हैं। कोई-कोई मरीज डॉ॰ साहब के बारे में गलत सोचता है, दुर्व्यवहार करता है तो उस समय भी डॉ॰ साहब यह सोचते हैं कि इसकी कोई गलती नहीं है, यह तो इसका रोग बोल रहा है अथवा दुर्व्यवहार कर रहा है। इसी प्रकार अपने साथ यदि कोई गलत चेष्टा करता है, गाली देता है, गलत सोचता है तो अपने को यह विचार करना चाहिए कि इसमें इनकी कोई गलती नहीं है, यह तो हमारे कर्म का उदय है। ''विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति'' अतः कोई अपने ऊपर प्रहार करने आ रहा हो, मारने के लिए भी आया हो तो उसके ऊपर क्रोध करना ठीक नहीं है। ठीक क्यों

नहीं है? इसलिए ठीक नहीं है कि क्रोध के कारण वह स्वयं अपने को पुनः कर्म में फंसा रहा है। ''अपने ऊपर स्वयं अपने हाथ से कुल्हाड़ी मार रहा है'' कहते भी हैं कि ''अपने भावों के द्वारा जीव स्वयं अपना ही अहित और हित करता है''। ऐसा उदाहरण देकर संसारी प्राणी को आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सचेत अथवा सावधान किया है।

'त्र्यंगुलं पातयन् पद्भ्यां' त्र्यंगुल खलिहान में होता है। किसान धान को साफ करता है उस समय इसका प्रयोग करता है। जिस प्रकार त्र्यंगुल नामक यंत्र को यदि कोई स्वयं अपने पैरों से जमीन पर गिराता है तो वह बिना किसी की प्रेरणा के, हाथ में पकड़े हुए डण्डे से गिरा दिया जाता है। उसी प्रकार जिसने पहले दूसरे को सताया, कष्ट दिया, तकलीफ पहुँचाई, ऐसा सताये गये उस पुरुष और वर्तमान में अपने को मारने वाले के प्रति क्यों गुस्सा करता है? अतः अहित करने वाले व्यक्ति के प्रति, अपना हित चाहने वाले बुद्धिमानों को द्वेष या अप्रीति नहीं करना चाहिए क्योंकि द्वेष करने से सामने वाले पर कोई प्रभाव पड़े या नहीं, किन्तु द्वेष करने वाले पर तो प्रभाव पड़ता ही है।

आप इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं। जैसे आप रिक्शा चलाते हैं जो तीन पैर का होता है, उसमें से यदि एक पैर निकल जाता है तो आप क्या करोगे ? क्या स्थिति होगी आपकी ? लुढ़क जाओगे, नीचे गिर जाओगे। और यदि स्वयं अपने द्वारा पैर को निकालोगे तो स्वयं गिरने में स्वयं ही कारण बनोगे। उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति क्रोध करता हुआ अपने पास आये और हम भी उस पर क्रोध करें तो यह समझना कि मेरे क्रोध करने से उसको कोई हानि होगी या नहीं। हो सकता है उसे कोई हानि न हो, लेकिन हम क्रोध के प्रभाव से स्वयं कर्मों का बन्ध कर लेंगे जिसका फल भोगने के लिए दुर्गति का पात्र बनना पड़ेगा। दूसरे के भाव करने से सामने वाले का मरण हो, न भी हो, उसका कुछ बिगड़े या नहीं लेकिन भाव करने वाले को इस प्रकार के कर्मबन्ध हो जाते हैं कि जिनका फल भोगते समय आँखों से पानी आता है। कितना भी रोओ कर्मों के सामने, कर्म कुछ भी दया नहीं करता। अशुभ विचारों के समय यदि आयुकर्म बन्ध गया तो और मुश्किल क्योंकि अन्य कर्मों का तो संक्रमण किया जा सकता है। असाता को साता में परिवर्तित कर सकते हैं लेकिन ''आयुकर्म ऐसा कर्म है कि आप जैसे हैं वैसा आपको दिखा देता है, उसे चाहकर भी, पश्चाताप करने पर भी बदला नहीं जा सकता। कहने का मतलब यह है कि जो जीवन पर्यन्त अच्छे भाव करेगा तो उसके खाते में शुभ/पुण्य कर्म आयेंगे और जो हमेशा बुरे विचार करेगा तो उसके खाते में अशुभ/पाप कर्म आयेंगे। यह निश्चित बात है।

आगे इसी को दूसरे उदाहरण के द्वारा समझने का प्रयास करें। जैसे कोई व्यक्ति अपना फोटो/चित्र निकलवाना चाहता है तो फोटोग्राफर को बुलाता है, फोटोग्राफर उस व्यक्ति का सुन्दर चित्र निकालने के लिए संकेत करता है कि भाई साहब! ऐसे बैठ जाओ, ऐसे आसन लगाओ, गर्दन नीचे करो, हाथ इधर रखो, ऐसा करो, वैसा करो, १०-१५ मिनट या आधा घंटे भी लगा दे सावधान

करते-करते और जिस समय बटन दबाता है, वन, टू, थ्री कह देता है उसी समय वह मुख पर (यूँ-यूँ) खुजा लेता है या जमाई आ जाती है या छींक आ जाये, या गहरी श्वास ले ले या और कुछ हो जाये और उसी समय फोटो निकल जाये तो कैसा चित्र निकलेगा ? उस समय जैसी स्थिति रहती है, वैसा ही निकलता है। फोटो निकलने के बाद उसे देखने का भाव रहता है कि जल्दी-जल्दी धोकर दिखा दो। तैयार करके जब दिखाया जाता है, तो देखकर वह कहता है कि यह मेरा चित्र ऐसा है। नहीं-नहीं! यह अच्छा नहीं निकाला। उस चित्र को देकर फोटोग्राफर उससे ५० रुपये मांगता है। तब वह कहता है कि इसके तो पचास क्या, मैं तो पचास पाई भी नहीं दूँगा। फोटोग्राफर कहता है पैसे तो तुम्हें इतने ही देना पड़ेंगे। तुम्हें अपना चित्र लेना है तो ले लो अन्यथा मैं अपने पास रख लेता हूँ लेकिन पैसे तो देना ही पड़ेंगे। वह व्यक्ति कहता है कि तुमने इतना बुरा चित्र क्यों निकाला ? फोटोग्राफर कहता है कि हमने तो वार्निंग दी थी, आपको सचेत भी किया था। बटन दबाते समय तुम्हें अपनी स्थिति सम्हालना थी। हम कहाँ तक सम्हालते ?

आचार्य कहते हैं कि फोटो के समान ही कर्मों की स्थिति भी ऐसी ही होती है। फोटो निकलने के बाद उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है, वैसे ही जैसा कर्मबन्ध हो चुका उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। जिस समय परिणामों के अनुसार जैसी आयु बंध गई, उसके उदय में उसी गति में निश्चित जाना पड़ेगा। जैसे-तिर्यञ्च आयु का बन्ध हो गया तो तिर्यञ्च गति में जाना पड़ेगा। नरकायु बन्धेगी तो नरक गति में जाना पड़ेगा, मनुष्यायु बन्धेगी तो मनुष्य, देवायु का बन्ध हो तो देव बनना ही पड़ेगा। आयु कर्म में किसी भी प्रकार कुछ भी परिवर्तन संभव नहीं होता। स्थिति कम या अधिक हो सकती है। कोई यदि यह पूछे कि महाराज! हमको आयु कर्म का बन्ध कब होगा ? आप यह तो बता दीजिए ताकि हम सावधान रहें, होशियार रहें। इस विषय में तो आपको ''जीवन के आदि से अन्त तक होशियार रहना पड़ेगा'' आपने पूछा, मैंने बता दिया, अब आप मान लीजिये अर्थात् हमेशा सावधान रहिये।

इसे एक उदाहरण के द्वारा समझाता हूँ। मान लीजिये किसी की ८१ वर्ष की उम्र है, तो ५४ वर्ष तक तो आयु कर्म का बन्ध होगा ही नहीं। फिर कब होगा ? ऐसा जानने के लिए यदि वह कोई यंत्र पर खड़ा हो जाये, तो मालूम पड़ जाये। जैसे वजन नापना हो तो मशीन पर खड़े होने से पता चल जाता है। इसी प्रकार आयु किस समय बंधती है यह जानकारी लेने के लिए कोई यंत्र या मशीन सफल नहीं हो सकती। किसी भी व्यक्ति की आयु कितनी है? यह जानने के लिए अथवा आयु बन्ध कब होता है? यह जानने के लिए आज तक कोई यंत्र नहीं बना है और न ही बन सकेगा। इसे तो अवधिज्ञानी ही जान सकते हैं। परन्तु आज तो कोई अवधिज्ञानी मुनिराज भी नहीं हैं जिनसे यह ज्ञात किया जा सके। आयु कर्मबन्ध का काल इतना सूक्ष्म है कि हमें वह समझ में नहीं आ सकता। ५४ वर्ष आयु व्यतीत होने पर आयु बन्ध के ८ त्रिभाग पड़ेंगे। इनमें से किसी भी त्रिभाग में बन्ध हो

सकता है। इनमें भी यदि बन्ध नहीं हुआ तो मरण के अंतिम अन्तर्मुहूर्त जिसे 'असंक्षेपाद्धा काल' कहते हैं उसमें बन्ध निश्चित ही होता है, क्योंकि आयु कर्मबन्ध के बिना जीव कहाँ जायेगा ? पेट्रोल के बिना गाड़ी कैसे आगे बढ़ेगी ? गाड़ी को फिर भी धक्के से थोड़ा आगे बढ़ाया जा सकता है लेकिन आयुबन्ध के बिना जीव किसी भी गति में नहीं जा सकता। इसलिए यदि आयु के त्रिभाग में आयु नहीं भी बँधेगी तो अंतिम अन्तर्मुहूर्तकाल में तो आयु बँधेगी ही बँधेगी।

भरत चक्रवर्ती और बाहुबली दोनों को अवधिज्ञान था लेकिन दोनों का ही ज्ञान काम में नहीं आया। चक्र चलने के उपरान्त उसका परिणाम क्या निकलेगा, यह भी नहीं जान पाये। सोचने की बात है कि वृषभनाथ भगवान् भी एक वर्ष तक बिना आहार के घूमते रहे फिर भी चक्रवर्ती ने अवधिज्ञान नहीं लगाया कि ये क्यों आते हैं? क्यों घूमकर चले जाते हैं? सोचिये, विचार करिये कि चक्रवर्ती को भी यह ज्ञान नहीं था कि महाराज को किस प्रकार पड़गाहन किया जाता है? आप लोग भरत चक्रवर्ती से भी ज्यादा होशियार हैं कि आपके यहाँ से महाराज लौटने भी लग जायें तो आप लोग उन्हें बिठा लेते हैं लेकिन वृषभनाथ भगवान् को कौन इस प्रकार बिठा सकता था। भरत चक्रवर्ती ने अनुमान तक नहीं लगाया कि महाराज क्यों लौट रहे हैं? क्या चाहते हैं?

महापुराणकार 'आचार्य जिनसेन स्वामी' ने तो इतना अधिक सर्वांगीण वर्णन किया है कि आप पढ़ेंगे तो आपकी आँखों में पानी आ जाये। क्या स्थिति है? ३७३ दिन तक आहार नहीं हुआ। ६ माह तक तो उठे नहीं तदुपरान्त श्रावक के घर की ओर आये भी तो पड़गाहन करने की विधि से कोई परिचित नहीं था। सब सोचते रह जाते कि आखिर अपनी क्या गलती हो रही है जो भगवान् के आहार नहीं हो पा रहे हैं, प्रतिदिन गलती हो रही है। वृषभनाथ भगवान् की ही कोई गलती थी क्या ? अगर थी तो क्या गलती थी ? पूर्व जीवन में जब खलिहान में बैलों के मुखों को बन्द करा दिया था जिससे कि बैल खेत से ज्वार, मक्का आदि अनाज न खा सकें। अनाज को बचाने के लिए मुँह बन्द करा दिया। मात्र ५-६ घड़ी (२४ मिनट की एक घड़ी) के लिए मुँह को बन्द किया था उसका प्रतिफल रहा कि उन्हें ६ महीने तक आहार की अनुकूलता नहीं बनी।

भरत चक्रवर्ती, बाहुबली सबके पास अवधिज्ञान था। किसी ने भी, यहाँ तक कि सौधर्मइन्द्र ने भी अवधिज्ञान नहीं लगाया कि भगवान् वृषभनाथ के आहार में अन्तराय आने का कारण क्या है? जब तक साता का उदय नहीं होता तो देव भी आकर सहयोगी नहीं बन पाते। सीता जी जा रही हैं दण्डकारण्य में, सब लोग देखते रह गये, कोई कुछ भी नहीं कर पाया, देव भी तब तक कुछ नहीं करते जब तक सामने वाले का पुण्योदय न हो। लेकिन जब पुण्योदय हुआ तो अग्निकुण्ड भी जलकुण्ड रूप में परिवर्तित हो गया। बाजे बजने लगे। पहले सहयोग क्यों नहीं किया ? उस समय देव ही आ जाते, भले बाजे न बजाते। देव तो केवल साक्षी हैं हमारे पाप और पुण्योदय के। पुण्योदय होता है तो शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और पापोदय होता है तो मित्र भी शत्रु बन जाते हैं।

''शापानुग्रहशक्तिः प्रभावः ॥ स० सि० ४/२०/१८९ ॥'' देवों के पास शाप और अनुग्रह करने की क्षमता होती है, किन्तु वह व्यक्ति के पुण्य और पाप के साथ प्रभावकारी होती है। यदि प्रत्येक देव प्रत्येक प्राणी को शाप देने लग जाये तो मुश्किल हो जायेगी और प्रत्येक देव प्रत्येक प्राणी पर अनुग्रह करे तो सभी हमेशा मालामाल हो जायेंगे लेकिन ऐसा कभी नहीं देखा गया। इतने मालामाल हो जायेंगे कि चक्रवर्ती भी हम सबसे पीछे हो जायेगा। लेकिन ऐसा भी कभी नहीं हुआ। कर्म के संयोग में शाप और अनुग्रह रूप प्रभाव होता है अन्यथा नहीं। इसलिए कोई अपने ऊपर क्रोध करे तो उसके प्रति क्रोध करना स्वयं की कमी है। ऐसा कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करना स्वयं को घातक सिद्ध होता है, स्वयं को अधिक पाप बन्ध होता है।

वस्तुतः संसारी प्राणी निमित्त को लेकर स्वयं रागद्वेष करता है। निमित्त के ऊपर भी राग-द्वेष करता है और स्वयं दुःखित होता है। यह इस कारिका का तात्पर्य है, क्योंकि रागद्वेष करने से आत्मा स्वयं क्षुब्ध होता है। अपने स्वभाव से च्युत होता है। जब स्वभाव से च्युत हो जाता है तो तृप्त होने के स्थान पर तप्त हो जाता है। शान्ति भंग हो जाती है फिर निश्चित है कि वह दुःखी हो जाता है। दुःखी प्राणी पुनः निमित्त को देखकर उस पर टूट पड़ता है। वह इसके ऊपर टूट पड़ता है इस प्रकार दोनों का अवसान भी हो सकता है। दोनों दुःखी तो हो ही जाते हैं। इसमें विस्मय की बात नहीं है कि जो रागद्वेष करता है उसे तत्काल दुःख मिलना प्रारम्भ हो जाता है। कषाय करना आकुलता का प्रतीक है। कषाय नहीं करना आनन्द शान्ति का प्रतीक है। अतः सुख चाहने वाले व्यक्तियों को हमेशा ''अपने-अपने परिणामों को राग-द्वेष से, कषायों से दूर रखने का प्रयास करना चाहिए। ऐसा करने से सम्भव है सामने वाला व्यक्ति भी अपनी कलुषताओं को शान्त कर ले।'' अज्ञानी प्राणी कषाय कर रहा है यह तो ठीक है, यह उसका अज्ञान है लेकिन यदि ज्ञानी भी कषाय करता है तो ज्ञान विकृत होने से वह भी अज्ञानी की कोटि में आ जाता है। उस समय दोनों कषाय करने वाले माने जाते हैं, कौन ज्ञानी ? कौन अज्ञानी ? इसकी पहचान समाप्त हो जाती है। ज्ञानी अगर कषाय करता है तो उसे सम्बोधित किया गया है कि तुम्हारा ज्ञान कहाँ चला गया ? ज्ञान इसलिए प्राप्त हुआ था क्या ? ज्ञान प्राप्ति की सार्थकता तो तब मानी जाती है जबकि रागद्वेष के प्रसंग आने पर भी अपने परिणामों को शान्त रख सकें। उन्हें उत्तेजित न होने दें। सब कुछ शान्ति के साथ सहन कर सकें। अतः ज्ञानी तो तभी है जब ज्ञान को विकृत न होने दे। ज्ञानी की पहचान उसी में है, अन्यथा ज्ञानी-अज्ञानी की पहचान नहीं हो सकती। इसी बात को आगे की कारिका में बताते हैं।

उत्थानिका—यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है कि स्त्री आदि में राग और शत्रुओं में द्वेष करने वाला पुरुष अपना क्या अहित (बिगाड़) करता है? जिससे उनको (रागद्वेषों को) अकरणीय अर्थात् न करने लायक बतलाया जाता है? आचार्य समाधान करते हैं–

रागद्वेषद्वयीदीर्घ - नेत्राकर्षण - कर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

अन्वयार्थ–(असौ) यह **(जीवः)** संसारी प्राणी **(संसाराब्धौ)** इस संसार-समुद्र में **(अज्ञानात्सुचिरं)** अज्ञान के कारण अनादिकाल से **(रागद्वेषद्वयी-दीर्घ-नेत्राकर्षण-कर्मणा)** राग-द्वेष रूपी दो लम्बी डोरियों के खींचने रूप कार्य से अर्थात् घुमायी जाती हुई मथानी की तरह **(भ्रमति)** घूम रहा है।

दधिमन्थन के काल मथानी, मन्थन-भाजन में भ्रमती,
कभी इधर तो कभी उधर ज्यों, क्षण भर भी ना है थमती।
राग-द्वेष की लम्बी-लम्बी, डोरी से यह बँधा हुआ,
ज्ञान बिना त्यों भव में भ्रमता, रुदन करे गल रुँधा हुआ ॥११॥

Tied to the long rope intwined with (the strands of) attachments and aversions, the soul is whirled about in the ocean of *samsara* (transmigratory existence) for immeasurable time, led by ignorance !

Note - Love and hatred, or attachment and aversion, are the causes of bondage and transmigration. The series of births and deaths is unending, except in the case of him who acquires Self-knowledge. Hence the statement that souls wander about in transmigration for time beyond measure. Ignorance of the real nature of the soul and the non-soul, and of happiness and what is not happiness though it may appear to be so, is the producer of loves and hatreds of embodied life. Led by these the soul comes and remains under the sway of *karmic* forces that drag it about in different conditions and grades of existence in the different parts of the world.

विवेचना–संसारी प्राणी अज्ञान के कारण संसार रूपी महान् समुद्र में चिरकाल तक भटकता रहता है अर्थात् गोता खाता रहता है। रागद्वेष रूपी दीर्घ 'नेत्राकर्षण' अर्थात् डोर या रस्सी के माध्यम से जीव घूमता रहता है। जैसे–समुद्र मन्थन के लिए मेरु को दण्ड बनाकर रस्सी को इधर एक तरफ दानव और एक तरफ मानव और देव मन्थन करने लगे। अर्थात् लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि नेतरी की खींचा तानी से जैसे मंथराचल पर्वत को समुद्र में बहुत काल तक भ्रमण करना पड़ा उसी तरह राग-द्वेष रूपी डोर के माध्यम से अज्ञानी जीव/संसारी जीव को अनादिकाल से संसार में घूमना पड़ रहा है। "राग का अर्थ है आकर्षण और द्वेष का अर्थ है अपकर्षण" इन आकर्षण व अपकर्षण के साथ मथानी घूमती रहती है। फलतः संसारी प्राणी चौरासी लाख योनियों में घूमता रहता है।

मथानी यदि धीरे-धीरे घूमती है तो खींचने का कार्य धीरे-धीरे होता है और यदि जोर से घूमती है तो घूमने की गति भी बढ़ जाती है। इस प्रकार अपने संसाररूपी समुद्र मन्थन (भ्रमण) का कार्य राग-द्वेष रूपी नेत्राकर्षण अर्थात् डोरी के द्वारा हो रहा है। वैसे देव और दानव समुद्र का मन्थन क्यों करते हैं? उन्हें ज्ञात था कि मन्थन करने से अमृत निकलेगा। उस अमृत का चस्का अर्थात् अमृत मिलने की आशा में मन्थन चलता रहा। मन्थन के द्वारा लक्ष्मी, सरस्वती, हीरे, मोती, माणिक आदि रत्न भी मिलते हैं तो विष भी मिलता है। उसी प्रकार यहाँ पर आप भी संसार रूपी समुद्र का मन्थन कर रहे हैं। जिसमें राग-द्वेष रूपी इसकी डोरी है, आप स्वयं मथानी के रूप में हैं। आपकी क्या इच्छा है? सुख मिल जायेगा, परन्तु अभी तक सुख मिला नहीं। संसार परिभ्रमण रुका नहीं। अज्ञानता मिटी नहीं। मान लो किसी ने कुछ कह दिया कि संसार में सुख है। उस पर आप लोग रात-दिन विश्वास करके प्रयास करते जा रहे हैं। एक भव नहीं, दो नहीं, लाखों, अरबों भव हो गये लेकिन सुख की उपलब्धि नहीं हुई, क्यों नहीं हुई ? इस बात पर विचार किया कभी आपने ? आचार्य कहते हैं कि जब तक राग-द्वेष रूपी आकर्षण (डोरी) नहीं छूटेगी तब तक संसारी प्राणी की भटकन कैसे रुक सकती है? मथानी की गति जब तक पूर्णतः नहीं रुकेगी, तब तक दही या मट्ठा का हलन-चलन कैसे रुक सकता है? सोचो/विचार करो। जब तक रस्सी बन्धी है, उसे एक ओर से खींच लिया जाता है तो दूसरी ओर से छोड़ा जाता है। पहले प्रतिकार हो गया, फिर स्वीकार हो गया। स्वीकार होना राग का कार्य है, प्रतिकार करना द्वेष का कार्य है। जब तक स्वीकार और प्रतिकार चलता रहता है तब तक भ्रमण भी चलता रहता है।

संसारी प्राणी से पर वस्तु का संग्रह एकदम नहीं छोड़ा जाता, छोड़ दे तो बहुत अच्छा होगा ''ऐसा द्वेष करो कि दुनिया की कोई भी वस्तु को मत चाहो और ऐसा राग करो कि अपने को पाकर के सबको छोड़ो।'' लेकिन ऐसा द्वेष तो चाहते नहीं आप और ऐसा राग भी नहीं चाहते कि अपने को पा जायें। दुनिया का राग छोड़ोगे तो अपने को पा जाओगे, दुनिया को पाने की बात सोचोगे तो अपने को नहीं पा पाओगे। आप लोग तो कुछ को चाहते हो और कुछ को नहीं चाहते, यह भी तो अज्ञान है।'' चाहो तो पूरा चाहो, छोड़ो तो पूरा छोड़ो, अपने पास कुछ भी नहीं रखो। यदि राग ही करना चाहते हो तो ऐसा करो कि दुनिया के सभी पदार्थों से बिना पक्षपात के राग करो। अभी आप लोगों को सही-सही राग करना भी नहीं आता, तो छोड़ना कैसे आएगा ? देखकर लगता है क्या स्थिति हो गई आप लोगों की ? राग करना है तो प्रत्येक पदार्थ से राग करो, एक से नहीं और द्वेष ही करना है तो फिर किसी की ओर देखो ही नहीं। परन्तु हम तो ऐसे हैं कि बाहर से तो हम किसी की ओर नहीं देखते, लेकिन भीतर से उसी के बारे में चर्चा करते रहते हैं। विचार चलता रहता है, उसी के बारे में सोचते रहते हैं कि उसने ऐसा किया, उसने वैसा किया। क्या करें ? उसके साथ बात नहीं करना है ऐसी मजबूरी समझकर भीतर-भीतर राग-द्वेष चलता रहता है। भले ही ऊपर-ऊपर

से शान्त दिखे। यह भी तो अज्ञान है, कषाय है। राग-द्वेष का जोड़ा है-जैसे मुद्रा होती है उसमें एक तरफ अंक लिखा रहता है दूसरी तरफ मुद्रा के चिह्न अंकित रहते हैं, उसी प्रकार संसारी जीव रूपी मुद्रा के एक तरफ राग है तो दूसरी तरफ द्वेष है। राग है तो वीतराग अवस्था भी हो सकती है, द्वेष है तो वीतद्वेष अवस्था भी हो सकती है। सिद्ध जीव में यही दोनों अवस्थायें अभिव्यक्त हो जाती हैं।

अज्ञान के कारण संसार का मन्थन करने से कुछ मिलने वाला नहीं है क्योंकि उसमें यदि सुख मिलता होता तो आज तक मिल गया होता। लेकिन राग-द्वेष के साथ संसार को पूरा का पूरा छान लिया फिर भी सुख का अंश भी नहीं मिला। भूधरदास कृत बारह भावना में आप लोग पढ़ते हैं-

दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।
कबहूँ न सुख संसार में, सब जग देखो छान ॥३॥

धनिक अवस्था में भी देख लिया, निर्धन अवस्था में भी देख लिया। धन मिलने के उपरान्त भी देख लिया, धन नहीं मिला तो भी देख लिया। संसार की पूर्णरूपेण सभी अवस्थाओं में रहकर छान-बीन कर ली लेकिन सुख नहीं मिला। क्यों नहीं मिला ? सुख होता तो मिलता, सुख है ही नहीं तो कहाँ से मिलेगा ? यहाँ तो सुखाभास है। उसी को सुख मानकर सभी लोग अधिक-अधिक सुख पाने का प्रयास करते हैं। संसार को छान लिया लेकिन सुख क्यों नहीं मिला ? हमें बताओ। जैसे चक्रवर्ती सोचता है कि हमने छहखण्डों पर विजय प्राप्त कर ली। हम षट्खण्डाधिपति बन गये, अब ऐसा कोई शेष नहीं रहा कि जिसको मैंने जीता न हो। फिर भी अपने ही वंश का व्यक्ति शेष है जिसको जब तक नहीं जीतूँगा तब तक विजेता नहीं कहलाऊँगा। उसी प्रकार पूरा का पूरा तीन लोक छान लिया लेकिन अपनी आत्मा को नहीं छाना तो हमने क्या किया ? बताओ, इसको भी छानो पहले अर्थात् देखो, तभी तो 'सब जग देखो छान' यह कह पाओगे। राग-द्वेष को छोड़ना संसारी प्राणी को बहुत कठिन हो रहा है, इसी के कारण दुःख हो रहा है। आप लोग सुख चाहते हैं? हाँ महाराज! हम सभी लोग सुख चाहते हैं। इसीलिए तो आपकी शरण में उपदेश सुनने आए हैं। ठीक है, शरण में आए अच्छा किया, लेकिन यदि दुःख के कारणभूत राग-द्वेष आपके पास हैं तो सुख आयेगा ही कैसे ? रात्रि-दिन के समान दोनों में विरोध है, रात है तो दिन नहीं, दिन है तो रात नहीं, वैसे ही सुख है तो दुःख नहीं और दुःख है तो सुख नहीं रह सकता।

दूध या दही का विधिवत् मन्थन होता है अर्थात् दूध या दही के साथ विधिवत् प्रक्रिया प्रयुक्त होती है तो ही नवनीत प्राप्त होता है अन्यथा नवनीत पाना संभव नहीं है। आज तक नीर के मन्थन से नवनीत की प्राप्ति संभव नहीं हुई न कभी होगी। शास्त्र-ज्ञान को प्राप्त करके यदि आप उस ज्ञान से दुनिया को छानोगे तो सुख की प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु उसी ज्ञान से यदि आपको छानोगे अर्थात् अपने में खोज करोगे, आत्मिकसुख प्राप्ति के साधन जुटाओगे तो सुख की उपलब्धि संभव है। ज्ञान के द्वारा दूसरे का नहीं अपना मन्थन करो।

जो करने योग्य है वह करोगे तो निश्चित रूप से कार्य हो सकेगा। जिस साधन के द्वारा जिस क्षेत्र में कार्य करोगे तो उस क्षेत्र में वैसा ही कार्य सिद्ध होगा अर्थात् वैसा ही फल प्राप्त होगा। विपरीत क्षेत्र में विपरीत साधनों से विपरीत फल प्राप्त होगा। ज्ञान या सुख की उपलब्धि, उसके योग्य साधनों के जुटाने से होगी। राग-द्वेष, कषाय के साथ ज्ञान या सुख की उपलब्धि तीन काल में संभव नहीं है।

'समयसारकलश' ग्रन्थ में भी कहा गया है कि ''राग-द्वेष से युक्त ज्ञान वस्तुतः अज्ञान ही है और राग-द्वेष से मुक्त ज्ञान समीचीन ज्ञान है'' इसी समीचीन वीतराग ज्ञान से ही मुक्ति हो सकती है। राग-द्वेष रहित ज्ञान ही चारित्र का प्रतीक है। अतः उस ज्ञान को प्राप्त करो जिसमें राग द्वेष न हो, यही ज्ञान चारित्र कहलाता है। इसके अतिरिक्त चारित्र और कोई वस्तु नहीं है। वीतरागी बनकर आप कहीं भी घूम सकते हैं, आपका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। दुनिया के जितने भी कार्य हैं वे कर लीजिये, लेकिन तीन कार्य नहीं करना-राग, द्वेष, मोह।

परीक्षा में पास होने के लिए नकल करने की खुली छूट भी दे दी जाये, दूसरे की कॉपी से नहीं, किताब से ही, तो भी वह परीक्षार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होने योग्य प्रश्नों को हल नहीं कर सकेगा, क्योंकि पाँच सौ पृष्ठों की किताब है, पाँच प्रश्नों के उत्तर निकालना हैं और ३६५ दिन तक इधर-उधर की बातों में समय निकाला हो, तो आप किताब देखकर भी प्रश्न हल नहीं कर सकते, क्योंकि उस किताब में कौन से पृष्ठ पर कौन से प्रश्न का हल हो सकता है यह भी ज्ञात होना आवश्यक है। जब यह ज्ञात होगा तभी तो किताब खोलकर नकलकर पाओगे और पास हो पाओगे, अन्यथा कैसे ? इसी प्रकार पूरे जीवन भर तक तो शास्त्र पढ़े, इधर-उधर के पृष्ठ पलटे, लेकिन ''क्या करना है क्या नहीं'' यह ध्यान ही नहीं रखा। राग, द्वेष, मोह ये तीन काम नहीं करना। इतनी बात का ध्यान नहीं रखा तो शास्त्र पढ़कर भी हम सफल नहीं हो पायेंगे। अतः राग मत करो, द्वेष मत करो, मोह मत करो यही मुख्य उपदेश है।

''छोड़ो तो सब कुछ छोड़ो, पकड़ो तो सबको पकड़ो'' अर्थात् किसी से राग-द्वेष मत करो। राग-द्वेष को छोड़े बिना आप कितना भी जप, तप, त्याग आदि करो, उसका कोई मायना नहीं होता। संसारी प्राणी अज्ञान के कारण संसार रूपी सागर में भ्रमण कर रहा है। राग-द्वेष के कारण सांसारिक वस्तुओं की ही याचना की है इसलिए वही मिलती आयी है। आज तक सुख प्राप्ति का कोई साधन ही नहीं जुटाया इसलिए वह कैसे प्राप्त हो ? मोक्ष की कामना की होती तो मोक्ष मिलता, लेकिन आज तक उसे पाने की कल्पना भी नहीं की तो कैसे मिलता ?

मोक्ष-प्राप्त करने के लिए कोई कार्य नहीं करना पड़ता, किन्तु जो करते हो उसे करना बन्द करना है, शांति के साथ हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाओ, यह भी नहीं होता है। क्यों नहीं होता, क्योंकि उछल-कूद मचाने में माहिर हैं। बन्दर तो बन्दर है-उछल-कूद मचाता ही है, लेकिन मानव

मन इससे भी ज्यादा उछल-कूद करता है, मानव मन बन्दर से भी अधिक चंचल है। कितना चंचल है तो आचार्य महाराज बताते है- ''वैसे वानर....बन्दर वैसे ही चंचल होता है और यदि उसकी पूछ में बिच्छू काट दे और जहर की दाह को मिटाने पानी की तलाश में जाये और मानलो पानी के स्थान पर उसे शराब मिल जाये वह उसे पी ले तो क्या होगा ? उसका नशा और बढ़ जायेगा। फिर यदि पागल हो जाये तो और क्या होगा ? अब तो चंचलता की कोई सीमा नहीं। अब बैठने की बात ही नहीं। बैठता तो पहले भी नहीं था, लेकिन चंचलता बढ़ जाने के कारण स्थिरता का अभाव सा हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि मानव का मन तो इससे भी अधिक चंचल होता है। बन्दर यदि पाप करता है तो वह कौन से नरक तक जा सकता है यह स्पष्ट उल्लेख या उदाहरण नहीं मिला फिर भी बहुत कम पृथ्वियों को पार कर पायेगा। शेर एक से पंचम पृथ्वी तक जा सकता है। शेर का पञ्चम पृथ्वी तक जाना अलग वस्तु है क्योंकि वह क्रूर प्राणी है बन्दर में इस प्रकार की क्रूरता नहीं पायी जाती।

मानव का मन बहुत चंचल होता है। उलझा हुआ होता है। वह शान्त बैठा सा प्राणी लगता है लेकिन कभी-कभी इतना अशान्त हो जाता है, इतनी अधिक क्रूरता और चंचलता बढ़ जाती है कि सभी नरकों को पार कर अंतिम पृथ्वी में पहुँच जाता है। वैसे तो मानव अत्यन्त सभ्य प्राणी माना जाता है। कोई भी काम करता है तो सोच-विचार कर करता है, उसका मस्तिष्क कभी खाली नहीं रहता। भीतर ही भीतर कोई न कोई गणित चलता रहता है। मन का पूरा-पूरा उपयोग करता है। लेकिन जब विवेक के स्तर से नीचे उतर जाता है तो सबसे ज्यादा पतन का मार्ग यही चुनता है। सुख-दुःख के जितने भी अंतिम छोर हैं, उन सबका सम्पादन मनुष्य के द्वारा ही होता है।

अन्त में यही कहना चाहूँगा कि रागद्वेष से आकृष्ट होकर यह संसारी प्राणी भ्रमण करता आया है। संसाररूपी समुद्र का बहुत मन्थन किया, लेकिन इसके फल-स्वरूप हाथ में नवनीत प्राप्त नहीं हो पाया, किन्तु हमेशा निराशा का ही फल मिला है, उसकी आशा पूर्ण नहीं हुई। बार-बार यही सोचता आया है कि-

आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों।
जल्दी-जल्दी क्या पड़ी है, अभी तो जीना बरसों ॥

एक न एक दिन फल मिल ही जायेगा। आशा के ऊपर आसमान टिका है। महाराज! हम तो आशावादी हैं। आज फल मिले या न मिले पर हम तो एक न एक दिन प्राप्त करके ही रहेंगे। क्या प्राप्त करके रहेंगे भैया ? पानी के मन्थन से नवनीत मिलने वाला है क्या ? नहीं। संसार के किसी भी पदार्थ का मन्थन कर लीजिए सुख शान्ति मिलने वाली नहीं है। यदि सुख-शान्ति मिलने वाली होती तो आज तक मिल जाती।

धन्य हैं, बड़े भाग्यवान् हैं वे, जिन्होंने इस रहस्य को जाना और संसार समुद्र के मन्थन को

छोड़कर अपने आपका मन्थन कर लिया। समयसार, गोम्मटसार का आलोकन, चिन्तन, मनन अलग है, लेकिन सारभूत समय अर्थात् आत्म-तत्त्व का मन्थन करना अलग है। आज तो समयसार के ऊपर शोध छात्र डॉक्टरेट और डी॰ लिट्॰ की उपाधियाँ प्राप्त कर रहे हैं, उन्हें तो कम से कम सारभूत तत्त्व मिलना चाहिए। जो कम्पोजिंग करते हैं, उनके लिए तो और भी जल्दी उपलब्धि होना चाहिए। 'समयसार' ग्रन्थ के पढ़ने से, पढ़ाने से रागद्वेष छोड़ने की बात समझ में तो आ सकती है, लेकिन उपाधियों के पीछे दौड़ने वाला व्यक्ति समयसार का चिन्तन, मनन करके भी रागद्वेष नहीं छोड़ सकता। आत्मतत्त्व का चिन्तन अलग वस्तु है और उसकी अनुभूति अलग है।

राग-द्वेष को छोड़ दो, इसका अर्थ है राग-द्वेष के लिए जो कारणभूत पदार्थ हैं, उन पदार्थों को भी छोड़ दो। छोड़ने के बाद उसकी याद भी मत करो, तब कहीं जाकर अपने को जीवित समयसार उपलब्ध हो सकेगा। वीतराग भाव से वीतरागी के जो भी शब्द निकलते हैं वे सभी समयसार मय होते चले जाते हैं। आत्मानुभूति करने में ही जिसको शान्ति अथवा हित का अनुभव होता है वह व्यक्ति बाह्य पर पदार्थों में निमग्न नहीं हो सकता, क्योंकि उसे भीतर से बाहर आना रुचता ही नहीं है। जिसको जिसमें रस आता है वह उसी का मन्थन करता चला जाता है। संसारी प्राणी ने आज तक आत्मा से भिन्न पर पदार्थों का मन्थन किया है और आगे भी उसे उसी का रस प्राप्त हुआ है उसी को पुनः प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है, किन्तु सही वीतरागी, विज्ञानी अपने को ही जानता देखता रहता है, वह सोचता है कि आत्म-मन्थन करने में यदि कोई बाधा आ रही है तो उसे टालना चाहिए। फलतः निश्चित रूप से एक न एक दिन वह आत्मसम्पदा मिल ही जायेगी। इस भावना से वह क्या करता है? उसे आगे की कारिका द्वारा बताया जा रहा है-

उत्थानिका-यहाँ पर शिष्य पूछता है कि स्वामिन्! माना कि मोक्ष में जीव सुखी रहता है, किन्तु संसार में भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है? कारण कि संसार के सभी प्राणी सुख को ही प्राप्त करना चाहते हैं। संसार में ऐसी क्या खराबी है? जिससे कि संत पुरुष उसके नाश करने के लिए प्रयत्न किया करते हैं? इस विषय में आचार्य कहते हैं-हे वत्स सुनो!

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः प्रचुराः विपदः पुरः॥१२॥

अन्वयार्थ-(भव-पदावर्ते) संसाररूपी पैर से चलने वाले घटीयंत्र में **(पदिका इव)** रहट के डण्डे के समान **(यावत्)** जब तक **(विपद्)** एक विपत्ति **(अतिवाह्यते)** समाप्त की जाती है **(तावत्)** तब तक **(अन्याः प्रचुराः)** दूसरी बहुत सी **(विपदः)** विपत्तियाँ **(पुरः भवन्ति)** सामने आ खड़ी हो जाती हैं।

भरे रीतते कुछ भरते घट, तब तक यह क्रम चलता है,
घटी-यन्त्र का परिभ्रमण वह, जब तक रहता चलता है।
इसी भाँति भवसागर में भी, एक आपदा टलती है,
कई आपदायें आ सन्मुख, मोही जन को छलती हैं॥१२॥

The *Samsara* (transmigratory condition) is like a wheel at a well, where before one bucketful of distress is got over a large number of afflictions overtake the soul !

Note - The thoughtful mind only discovers the world to be full of misery and pain in all conditions. No one thinks of associating happiness with the conditions of existence in the lower grades of life. The treses are rooted to the spot and remain perpetually exposed to the inclemency of seasons; they are further subjected to all kinds of afflictions in the shape of cutting. Piercing, burning, uprooting and the like. The smaller insects are destroyed by the thousand by the careless movements of their bigger fellow-beings. No one cares for their writhings and suffering. The birds and beasts and fishes are seized and devoured mercilessly by animals and men. Man himself is a constant prey to the fear of death, and lives in perpetual dread of calamity and misfortune. Those even who may be regarded as favourites of fortune are troubled with many kinds of mental and bodily troubles of their own and of their relations and friends. And at the end of a career, even where it has been the least undesirable, there is nothing more comforting than the grave or the burning pyre to look forward to. Death and the blankness of death ever stare the thinking being in the face. Human life is short and the best of its conditions is ephemeral and fleeting; you have hardly celebraterd the advent of a joy when its place is taken by affliction in some form or other. Those who are unlucky spend their whole time in crying and lamentations. Their suffering ceases enen to excite the pity of the passers by, by its frequency. Some of them actually experience all the excruciation horrors of hell-life without being in hell, Kings and millionaires and potentates are no exceptions; they are subject ot the painand misery which the flesh is heir to. To *acharya* therefore, justly says that this world of transmigratory life is so full of suffering and pain that you have

hardly got-over one affliction when its place has been filled up with a dozen others. The wise should, therefore, only seek to obtain release from the world to obtain *nirvana* where there is eternal peace and joy and life unending.

विवेचना—घटीयंत्र जिसे रहट बोलते हैं, उसमें डिब्बे होते हैं। उनकी एक माला बनी रहती है, जिसे बैलों से, मशीन से या नौकरों से चलाया जाता है। वह जब घूमता है तो घूमने से डिब्बे भरते जाते हैं और खाली होते जाते हैं। इसी प्रकार संसारी प्राणी एक विपत्ति को लाँघता है तो पाँच सौ विपत्तियाँ आकर के खड़ी हो जाती हैं। गर्मी गई, कि सर्दी आ गई, गर्मी में स्वेटर अंदर रख दी जाती है, ठंड में वे ही बाहर आ जाती हैं। ठंड में कूलर, पंखा का प्रयोग बन्द हो जाता है। उकावली चालू हो जाती है, ऐसे ही जीवन में साता जाती है, तो असाता आ जाती है और असाता जाती है तो साता आ जाती है। जिंदगी ऐसे ही निकलती जा रही है–

सूरज चाँद छिपे, निकले ऋतु फिर-फिर कर आवे।
प्यारी आयु ऐसी बीते, पता नहीं पावै॥ १/४॥

(मंगतराय कृत बारह भावना)

छह ऋतुयें में तीन मौसम आते हैं और वर्ष निकल जाता है। दूसरे वर्ष में भी इसी प्रकार से मौसम आ जाते हैं। जीवन के आदि से लेकर अन्त तक वे सभी मौसम बने रहते हैं। वर्ष रहेंगे, अयन रहेंगे, ऋतुयें रहेंगी, मास रहेंगे, पक्ष रहेंगे, वार रहेंगे, सोलह तिथियाँ रहेंगी, रात-दिन रहेंगे, बस इसी में जीवन समाप्त हो जायेगा। आपत्तियाँ टलती नहीं, रात-दिन आदि मौसम के समान कोई न कोई आपत्तियाँ बनी ही रहती हैं। उनको टालने-टालने के प्रयास में ही यह संसारी प्राणी जिन्दगी के अथ से इति की ओर पहुँच जाता है। एक दिन राम नाम सत्य हो जाता है, अब क्या होगा ? यहाँ से कहीं दूसरे स्थान पर जाना होगा, वहाँ पहुँचने पर उसका संसार पुनः प्रारम्भ हो जाता है और वहाँ पर पुनः हाय-तौबा होना प्रारम्भ हो जाता है। कुछ दिन के लिए वहाँ पर रोना-धोना चलता है, फिर सब भूल जाते हैं। तुम्हारे रोने से उस पर कोई असर नहीं होता, फिर भी लोगों को कुछ समझ नहीं आता। किसी के शरीर पर एक बूँद शहद की मिल जाती तो पाँच सौ मक्खियाँ उसे काट लेती हैं। वह मूर्च्छित हो जाता है। उस व्यक्ति का जीवन समाप्त हो जाता है। फिर क्षणिक जीवन को अमरता प्रदान करने का प्रयास करता है। यह उसका सम्यक् प्रयास नहीं है।

राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति हमेशा बहुत आनन्द व शान्ति से रहते होंगे, ऐसा एकान्त नहीं है। किन्तु सबसे ज्यादा आपत्तियाँ उनके साथ होती हैं। आप लोग तो आठ घण्टे काम करके मुक्त हो जाते हैं, लेकिन वे तो चौबीस घंटे व्यस्त रहते हैं। फोन पर फोन आते रहते हैं। रात के बारह बजे या दिन के दो बजे भी समाचार आते रहते हैं, समस्या के रूप में समाचार आते रहते हैं। उनको

सुलझाने में वे हमेशा व्यस्त रहते हैं। ऊपर से सुख शान्ति दिखती है। जैसे ऊपर से तो पंखा चल रहा हो और इधर से लू आ रही है तो पंखे की ठण्डी हवा भी लू में परिवर्तित हो जाती है। कभी-कभी आप लोग ही कहते हैं कि अभी पंखा मत चलाओ, पंखा बन्द कर दो। क्यों ? क्या बात हो गई ? तो कहते हैं कि पंखा चलाने से क्या लाभ, हवा तो गर्म आ रही है। यह तो बाहर की प्रकृति प्रदत्त गर्मी या लू की बात है, लेकिन जब मस्तिष्क में गर्मी आ जाती है तो कहना ही क्या ? बाहर से ठण्डा-ठण्डा बर्फ भी लगा दो तो वह भी गर्म हो जाता है, वह भी पिघल जाता है, लेकिन भीतरी गर्मी शान्त नहीं होती।

आत्मा में जब तक संकल्प-विकल्प या उत्तेजक विचार चलते रहते हैं तो बाहर में कितने भी शीतोपचार कर दो तो भी कुछ नहीं होता। उसको अच्छे वचन सुनाओ, अच्छा ठण्डा-ठण्डा पानी पिलाओ, ठण्डाई पिलाओ, आइसक्रीम खिलाओ, शीत उपचार, वैय्यावृत्ति आदि कुछ भी करो, कुछ नहीं होगा क्योंकि उसके मन में संकल्प-विकल्पों की गर्मी है। इसलिए वह तपता ही रहता है। हवादार भवन में भी उसे पीड़ा का अनुभव होता है, उसका उपयोग पीड़ा की ओर ही जाता है, भवन, शीत-उपचार या सुख-सुविधा की ओर नहीं। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान है, सुख है, शान्ति है, सब कुछ है लेकिन उसे न जानकर अन्य वस्तुओं को ही जानने में, परखने में लगा रहता है। अन्यत्र सुख या दुःख के क्षेत्र में जब मन लगा रहता है तो सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाले कर्म भी बन्धते रहते हैं, जिनका फल भी कभी सुख रूप होता है तो कभी दुःख रूप होता है। ऐसी स्थिति में इसी क्षेत्र में कर्ता, कर्म, क्रिया का व्यवहार चलता रहता है। भीतरी आत्मतत्त्व में/अध्यात्म के क्षेत्र में उपयोग का व्यापार नहीं चलता क्योंकि भीतरी आत्मतत्त्व में पञ्चेन्द्रिय के विषय नहीं मिलते इसलिए ज्ञान के माध्यम से बाहरी तत्त्व का अवलोकन करता रहता है। फिर उसमें राग-द्वेष भी करता रहता है, यही अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण जब तक एक विपत्ति टलती है, तब तक सामने अनेक विपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं। ऐसा कभी नहीं समझना कि यहाँ एक न एक दिन कभी तो शांति के साथ विपत्ति रहित जीवन का अनुभव कर पायेंगे।

आज कौन सा काल चल रहा है? पंचम काल जिसका नाम दुःखमा काल है, फिर कलिकाल तो है ही। संस्कृत में कलि का अर्थ-झगड़ा, संघर्ष, कलह होता है। जब काल ही दुःखमा है तो सुख कैसे मिलेगा ? अर्थात् इस काल में दुःखों की कष्टों की क्षति या पूर्ण रूप से अभाव कैसे हो सकेगा ? दुःखमा काल में शारीरिक या मानसिक कोई भी दुःख कष्ट होता है वह सहन करने योग्य होता है, लेकिन जिस दिन से असहनीय दुःख मिलना प्रारम्भ हो जायेंगे तो समझो उस दिन से दुःखमा काल की समाप्ति हो जायेगी, फिर दुःखमादुःखमा काल आ जायेगा। जैसे-नरकों में हमेशा दुःख ही दुःख मिलते हैं वैसे ही दुःखमा-दुःखमा काल में भी यहाँ पर असहनीय दुःख मिलता है। उस समय मनुष्यों की संख्या बहुत कम रह जाती है। यहाँ तक कि बहत्तर जोड़ों को सुरक्षित रखा जाता है।

जो तिर्यञ्च होते हैं वे भी दु:ख ही दु:ख का अनुभव करते हैं। प्राय: नीचे नरक से आते हैं और नीचे नरक में ही चले जाते हैं।

दु:खमा काल संध्याकाल के समान है। संध्याकाल में तो कुछ दिखता है किन्तु रात्रि को कुछ दिखता नहीं है। दु:खमा-दु:खमा काल रात्रि के समान है जिसमें धर्म नाम की कोई वस्तु नहीं दिखती। अत: इस पञ्चम काल में हम थोड़े दु:ख से बच सकते हैं। आज नारकी जीवों जैसा दु:ख तो नहीं है क्योंकि जब तक असि-मसि कृषि आदि आजीविका के साधन रहते हैं, तब तक यहाँ सुख की सामग्री मिलती रहती है, लेकिन छठवें काल में असि, मसि आदि षट्कर्म समाप्त हो जाते हैं। विद्या, शिल्प आदि सब समाप्त हो जाते हैं। मकान आदि समाप्त हो जाते हैं, तब व्यक्ति वृक्षों के ऊपर रहेंगे या बिलों में घुसकर रहेंगे। रात में मिट्टी खायेंगे और लड़-भिड़कर मरेंगे और दूसरों को मारेंगे। मांस-भक्षण करेंगे। इस काल में हमेशा-हमेशा अति दु:ख ही दु:ख रहता है। अभी इस काल की बहुत गनीमत है अर्थात् इस काल का बड़ा उपकार है आप लोगों पर, कि अभी इतना दु:ख नहीं है। छठवें काल में तो हँसने का भी समय नहीं मिलेगा। हमें तो ऐसा लगता है कि उस काल में हंसने वाली कोई मुद्रा ही नहीं दिखेगी। अभी तो हंसने वाले बहुत लोग मिल जाते हैं, उस समय साता का उदय बहुत कम रहेगा। उस समय यहाँ धर्म-कर्म कुछ भी नहीं रहेगा। आज इतना रोना नहीं है जितना उस काल में रहेगा। इसलिए अभी थोड़ा रो करके शान्ति रख करके सुख प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। कम से कम इस काल में सुख प्राप्ति के साधन तो उपलब्ध हैं। भले ही पूर्ण सुख की प्राप्ति न हो फिर भी एक प्रकार से पञ्चम काल अपने लिए अच्छा है। अभी यहाँ दु:ख से थोड़ा बचकर सुख सम्पादन के साधन तो जुटाये जा सकते हैं। यह बात अलग है कि पूर्ण सुख का सम्पादन नहीं किया जा सकता। आत्मिक सुख प्राप्ति का भी आंशिक सम्पादन किया जा सकता है। इसलिए दु:खमा-दु:खमा काल आने के पहले ही 'अरिहन्त सिद्ध' भजो, भले ही रोते-रोते भजो, कोई बात नहीं। अब आगे ऐसा काल आने वाला नहीं है कि जिसमें हम शांति के साथ बैठ सकें और 'अरिहंत-सिद्ध' करके आत्महित कर सकें। पुण्य कमा सकें। अत: इस काल में अभी अरिहंत-सिद्ध करके कुछ पुण्य कमा लो, जिससे छठवें काल में यहाँ न रहना पड़े। तब तक अन्य किसी क्षेत्र में रहकर समय पास करके, बाद में यहाँ आकर रत्नत्रय की आराधना कर सकते हैं। एक सौ सत्तर कर्म भूमियाँ हैं। पाँच भरत, पाँच ऐरावत इन दस क्षेत्रों में यह पंचम काल स्थित है शेष एक सौ साठ भूमियों में हमेशा दु:खमा-सुखमा काल चलता है, ये सभी भूमियाँ सुरक्षित हैं। इन भूमियों में यहाँ जैसा विपदाओं का चक्र नहीं होता।

जैसे प्रथम कक्षा में बहुत सरल शिक्षण रहता है, दूसरी कक्षा में पहुँचता है तो किताबें बढ़ जाती हैं, विषय भी बढ़ जाते हैं। शिक्षक के कहने पर गृह कार्य अर्थात् घर में शिक्षण का अभ्यास बढ़ाकर विद्यार्थी आगे-आगे की कक्षा में बढ़ते जाते हैं तो पीछे-पीछे की कक्षा सरल लगती जाती

है। प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी से कहा जाता है कि इतना अध्ययन करने की क्या आवश्यकता है? तुम तो अपने आप ही पास हो जाओगे। तुम्हारे पास बहुत प्रतिभा है। लेकिन विषय इतने अधिक बढ़ते जा रहे हैं कि विद्यार्थी यदि ३६५ दिन भी अध्ययन करे तो भी समय कम पड़ता है। फिर भी कुछ विद्यार्थी अपना समय सोते-सोते निकाल देते हैं, लेकिन जब परीक्षा सामने आती है तो उनको लगता है कि प्रश्न पत्र में जो आया है वह तो कोर्स में था ही नहीं, फिर परीक्षा में कैसे आ गया ? साथ ही मास्टर के प्रति सोचते हैं कि तुम पास करवा दो, नहीं तो आपकी छुट्टी करवा देंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे विषय बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे दुःख कष्ट का अनुभव भी बढ़ता जाता है। उसी प्रकार जैसे-जैसे पञ्चेन्द्रियों के विषय बढ़ते जाते हैं तो उनका संवर्द्धन, संरक्षण आदि भी बढ़ता जाता है, उसमें तत्सम्बन्धी विपत्तियों का भी संवर्द्धन होता जाता है और उनका सामना करने हेतु दुःख की भी वृद्धि होती चली जाती है।

उत्थानिका—फिर शिष्य का कहना है कि भगवन्! सभी संसारी प्राणी तो विपत्ति वाले नहीं हैं, बहुत से सम्पत्ति वाले भी दीखने में आते हैं! इसके विषय में आचार्य कहते हैं—

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

अन्वयार्थ— **(दुरर्ज्येन)** बड़ी कठिनाइयों से कमाये जाने वाले तथा **(असुरक्ष्येण)** सुरक्षित न रहने वाले **(नश्वरेण)** विनश्वर **(धनादिना)** धन, पुत्रादिकों के द्वारा **(स्वस्थंमन्यः)** अपने आपको स्वस्थ (सुखी) मानने वाला **(कः अपि जनः)** कोई भी मनुष्य **(सर्पिषा)** घी को खाकर **(ज्वरवान् इव)** ज्वर से पीड़ित मनुष्य की तरह मूर्ख होता है।

जिनका अर्जन बहुत कठिन है, संरक्षण ना सम्भव है,
स्वभाव जिनका मिटना ही है, ये धन-कंचन-वैभव हैं।
फिर भी निज को स्वस्थ मानते, धनपति धन पाकर वैसे,
ज्वर से पीड़ित होकर जो जन, घृत-मय भोजन कर जैसे ॥१३॥

He who regards himself as happy on account of the possession of wealth and other like objects of desire, that are obtained with great trouble, that require a lot of botheration in their protection and that are after all perishable, is like the fool who eats clarified butter when suffering from fever and then thinks that he is enjoying good health !

Note - *Ghee* (clarified butter) only goes to aggravate fever, so that he who eats ghee in that condition and regards himself as healthy because of his eating *Ghee* is a big fool. Precisely the same is the case with the man

who considers himself happy because he is surrounded by the objects and sources of pleasure. These, too, aggravate the heat and fever of lust, and depart sooner or later without producing anything like satisfaction, that is happiness and rest and peace. The *acharya*, therefore, points out that is is an act of folly to regard oneself as happy when enjoying material prosperity and the like, which, it is further pointed out, are acquired with a lot of trouble and exertion and which, involve a great deal of additional trouble in guarding and protecting, and which, notwithstanding all this worry and trouble, are ultimately bound to depart, being perishable by nature.

विवेचना—जिस तरह ज्वर से पीड़ित मनुष्य ज्वर की दाह मिटाने के लिए घृत का पान कर यदि अपने को स्वस्थ माने तो यह भ्रम है क्योंकि वास्तव में वह स्वस्थ नहीं है और न ही घृतपान करने से स्वस्थ हो सकता है। अपितु उल्टा दुःखी ही होता जाता है। उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य भी धनादि इष्ट वस्तुओं के समागम से अपने को सुखी मानता है पर वास्तव में वह सुखी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धन के उपार्जन में बहुत कष्ट होता है। उससे अधिक कष्ट उसके संरक्षण में होता है। यहाँ आप लोगों की बात कही जा रही है। आप लोग स्वयं अनुभूत हैं इस बात से कि धन के अर्जन करने में कितनी अधिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है? सुख-सुविधा से धनार्जन नहीं होता। रात-दिन पसीना-पसीना बहाकर के एक-एक पाई करके कैसे धन कमाते हैं, इसका स्मरण तो किया करो, क्योंकि जो धन अर्जित करता है उसी को यह ज्ञान रहता है कि कितनी कठिनाईयाँ आती हैं? थोड़ा भी धन आ गया तो अब उसकी सुरक्षा कठिन है। ताला लगाओ। ट्रेजरी में रखो इत्यादि। इन साधनों से धन की सुरक्षा फिर भी सम्भव है लेकिन धर्म की सुरक्षा ताला लगाने से नहीं होगी।

धन को पेटी में कितना भी सुरक्षित रखो, धन तो नष्ट होता ही है क्योंकि जब भाग्य पलट जाता है तो धन यूँ ही निकल जाता है। धन को हाथ का मल कहते हैं। धन नष्ट होने पर व्यक्ति हाथ मलता रह जाता है।

लोभ करना कषाय है, इसको छोड़ने का प्रयास करो। यही एकमात्र जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। अन्यथा जीवन जैसा मिला वैसा ही चला जायेगा। अतः निमित्त के ऊपर क्षुब्ध नहीं होना चाहिए। संसारी प्राणी और मनुष्य की यह सबसे बड़ी कमी है। विशेष रूप से मनुष्य को ही यह बात समझने की आवश्यकता है। जब मनुष्य के पुण्य का उदय होता है तो वह प्रशंसा का पात्र बनता है अन्यथा आलोचना का पात्र बन जाता है। अपने कर्म का उदय ही अपने को दण्डित करता है और अपने कर्म का उदय ही अपने को निन्दित करता है। कर्म का फल नोकर्म के सहयोग से मिलता है। तो कर्म क्या है? जैसे पर्दा या कपड़े में फिल्म नहीं होती किन्तु फिल्म का रिफलेक्शन पर्दे पर पड़ता

है वैसे ही नोकर्म में फल देने की शाक्ति नहीं होती किन्तु नोकर्म के बिना कर्म अपना फल देने में समर्थ नहीं होता। चूँकि नोकर्म द्वारा कर्मफल अनुभूत होता है इसलिए आप लोग नोकर्म पर टूट पड़ते हैं। यह आपका अज्ञान है। यह नोकर्म तो सफेद वस्त्र के समान है जिस पर रील का रिफलेक्शन आ जाता है। रील समाप्त हो जाती है तो रिफलेक्शन भी समाप्त हो जाता है, फिर कोरा सफेद पर्दा मात्र रह जाता है, उस कोरे पर्दे, को कोई देखना नहीं चाहता क्योंकि पर्दे पर कुछ रहता ही नहीं। कर्म रील के समान है जबकि नोकर्म पर्दे के समान है, जिस पर कर्म की फल रूपी फिल्म दिखाई देती है। लेकिन मोह के कारण अज्ञानी मोही प्राणी कर्म की ओर दृष्टि न करके नोकर्म को ही देखने का प्रयास करता है। कर्मों को पकड़ो, उन पर विश्वास करो तो कर्मों को समाप्त करने के साधन भी आपको मिलेंगे। कर्मों को पकड़ने का मतलब यह है कि कर्मों के बारे में विचार करो कि ये कर्म कैसे आये, क्यों आये ? कब आये ? कब तक जायेंगे ? कैसे जायेंगे ? क्या-क्या इन कर्मों के प्रभाव हैं? यह जानोगे तो निश्चित रूप से इनसे मुक्त हो सकोगे। कर्मों को समाप्त करने की प्रक्रिया को स्वीकार करने का नाम ही मोक्षमार्ग है। नोकर्म शरीर भी है, इसको जो प्राप्त करता है, उससे जो ममत्व भाव रखता है, वह शुचितम पदार्थों के बीच भी अशुचिता का अनुभव करने लगता है।

"आत्मा तो शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से शुद्ध-बुद्ध निरञ्जन स्वभाव वाला है फिर भी कर्मोदय के कारण शरीर का योग पाकर अशुद्ध हो जाता है। फलतः समीचीनता को जानना छोड़ देता है, जिससे शुद्धत्व की पहचान नहीं कर पाता, इसलिए केवलज्ञान को भी प्राप्त नहीं कर पाता। अर्थात् जो अपने को नहीं जान पाता वह सबको नहीं जान सकता। आचार्यों ने कहा ही है कि "जो एगं जाणदि सो सव्वं जाणदि" जो एक आत्मतत्त्व को जानता है वही सबको जान सकता है।

स्वभाव नैमित्तिक नहीं होता। अतः वह अन्तरहित रूप होता है, किन्तु विभाव पर कृत होता है, नैमित्तिक होता है, अतः तात्कालिक होता है, त्रैकालिक नहीं हो सकता। जब तक यह जीव संसार दशा में रहता है तब तक वह अनन्ततत्त्व का पूर्ण का ज्ञाता हो ही नहीं सकता। अपूर्ण को ही जानता रहता है। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए 'श्रीसमयसारजी' ग्रन्थ में लिखा है कि-

सो सव्वणाणदरिसी, कम्मरएण णियेण वच्छण्णो।
संसारसमावण्णो, णवि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

अर्थात् वह ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव वाला जीव भी अपने कर्मों से ऐसा बँधा हुआ है, जिससे वह संसार दशा को प्राप्त है, फलस्वरूप वह जीव सबको सर्वदा नहीं जान सकता। यह कर्मोदय की दशा की बात है।

प्रश्न उठता है कि संसारी प्राणी को यह कर्म की दशा कैसे प्राप्त हुई ? तो इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि शरीर के योग से ही सब कुछ होता है। शरीर के बिना आत्मा की यह दशा बन नहीं सकती। जिस शरीर के बारे में आप लोग बार-बार सोचते हैं कि मुझे अच्छा शरीर मिल जाये, अच्छा वैभव मिल जाये। लेकिन आचार्य कहते हैं कि ये सारी की सारी वस्तुयें, ये सभी वैभव मात्र संसारी प्राणी के लिए हैं वही इन चीजों को प्राप्त करने की इच्छा रखता है। इच्छाओं की पूर्ति होने से प्राप्त हुए शरीर, धन-वैभव और अन्य वस्तुओं से ममत्व बढ़ता जाता है, फलतः कर्म बन्धन भी दृढ़ होता जाता है। इसलिए इसकी प्रार्थना वृथा है **'तदर्थं प्रार्थना वृथा'** ऐसा कहा भी है, क्योंकि इसी के कारण संसारी प्राणी को अशुभता का अनुभव करना पड़ रहा है। पावन होते हुए भी अशुचिता का अनुभव करना पड़ता है।

उत्थानिका—फिर भी शिष्य पूछता है कि बड़े आश्चर्य की बात है कि जब ''इतनी मुश्किलों से यह सम्पत्ति कमायी जाती है एवं धनादिक सम्पत्ति दोनों लोकों में दुःख देने वाली भी है, तब ऐसी सम्पत्ति को लोग छोड़ क्यों नहीं देते ?'' आचार्य उत्तर देते हैं—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।
दह्यमान - मृगाकीर्ण - वनान्तर - तरुस्थवत् ॥१४॥

अन्वयार्थ— (दह्यमान-मृगाकीर्ण-वनान्तर-तरुस्थवत्) अग्नि से जलते हुए मृग आदि जीवों से भरे वन के मध्य वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य के समान **(मूढः)** मूर्ख प्राणी **(परेषां)** दूसरे की **(विपत्तिम् इव)** विपत्ति के समान **(आत्मनः)** अपनी विपत्ति को **(न ईक्षते)** नहीं देखता है।

वन में तरु पर बैठा जैसा, मन में चिंतन करता है,
वन्य-जन्तु अब जले मरे सब, आग लगी वन जरता है।
पर की चिन्ता जैसी करता, अपनी चिन्ता कब करता?
मूढ़ बना तन पुनि-पुनि धरता, मरता है पुनि-पुनि डरता ॥१४॥

The fool is not warned by seeing distress overtake others, he acts like the man who, seated on the top of a tree in the midst of a burning forest, sees deer and other living things perish, but does not think that the same fate is soon to overtake him !

Note - The *acharya* here gives us a true description of the individual blinded by the lusts of the world, who though surrounded by calamity and distress all round is still unable to check himself in time to turn to the true side of life, taking no warning by the fate of others.

विवेचना—हिरण, सिंह, व्याघ्र आदि अनेक जीवों से भरे हुए वन में आग लग जाने पर उससे

बचने के लिए यदि कोई मनुष्य, किसी ऊँचे वृक्ष की शाखा पर बैठकर यह समझता है, कि मैं तो ऊँचे वृक्ष पर बैठ गया हूँ, अतः यह अग्नि मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती, ऐसा सोचकर निश्चिन्त हो जाता है, परन्तु उस अज्ञानी जीव को यह ज्ञात नहीं रहता कि जिस प्रकार इस वन के सभी जीव मेरे देखते-देखते जल रहे हैं उसी प्रकार थोड़ी देर में मैं भी भस्म हो जाऊँगा।

ठीक इसी प्रकार यह अज्ञानी प्राणी धनादि के निमित्त से दूसरों पर आई हुई विपत्तियों का बार-बार स्मरण करता है लेकिन मदिरा के नशे में उन्मत्त हुए मनुष्य के समान अपने ऊपर आई हुई विपत्तियों को भूलकर स्व-हित का ध्यान नहीं रख पाता।

लोक में भी देखा जाता है कि कोई भी धनिक दूसरों की विनष्ट होती हुई सम्पत्ति, गृह आदि को देखकर कभी भी यह विचार नहीं करता कि यह काल रूपी अग्नि, जिस तरह उसकी धन-सम्पत्ति को विनष्ट कर रही है उसी प्रकार मुझे भी नहीं छोड़ेगी। मेरी भी धन सम्पत्ति को वह काल रूपी अग्नि नष्ट कर देगी।

उत्थानिका—फिर भी शिष्य का कहना है कि हे भगवन्! क्या कारण है कि लोगों को निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नहीं देतीं ? आचार्य महाराज समाधान देते हैं—'लोभात्' लोभ के कारण। हे वत्स! धनादिक की गृद्धता-आसक्ति से धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्ति को नहीं देखते हैं, कारण कि—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष - हेतुं कालस्य निर्गमम्।
वाञ्छतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५॥

अन्वयार्थ— (कालस्य निर्गमम्) समय का व्यतीत होना **(आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष-हेतुं)** आयु क्षय और धनवृद्धि का कारण है **(वाञ्छतां धनिनां)** धन चाहने वाले धनवान् पुरुषों को **(जीवितात्)** अपने जीवन से भी **(सुतराम्)** अधिक तरह **(धनं इष्टम्)** धन इष्ट होता है।

काल बीतता ज्यों-ज्यों त्यों-त्यों आयु कर्म वह घटे बढ़े,
धन का वर्धन धनी चाहते, प्रतिदिन हम तो बनें बढ़े।
कहें कहाँ तक धनी लोग तो, जीवन से भी जड़ धन को,
परम-इष्ट परमेश्वर कहते, धन्यवाद धन-जीवन को ॥१५॥

Time is the cause of the shortening of the duration of life as well as of the increase of wealth: the amassers of wealth (thus) love money more than their lives.

विवेचना—अनादिकाल से इस आत्मा पर लोभ कषाय का तीव्र संस्कार जमा हुआ है, उसी के कारण यह आत्मा धन को अपने जीवन से भी अधिक प्रिय समझता है। यद्यपि काल का व्यतीत

होना और आयु का क्षय होना ये दोनों ही धनवृद्धि में कारण हैं, तो भी धनवृद्धि की लिप्सा के कारण धनिक जन बीतते हुए समय की तथा क्षय होती हुई आयु की परवाह नहीं करते वरन् धनवृद्धि में काल के बीतने को श्रेयस्कर समझते हैं। यही कारण है कि धनी लोग धनादि से समुत्पन्न विपत्तियों का कोई विचार नहीं करते। यहाँ तक कि वे उन्हें विपत्तियाँ ही नहीं समझते। यह सब लोभ का ही प्रभाव है। यदि विचार करते भी हैं तो धन की अभिवृद्धि और उसके संरक्षण का ही विचार करते हैं और उन्हीं के कारणभूत साधनों को जुटाने का प्रयास करते हैं। आगत विपदाओं का कोई ख्याल नहीं करते। यह सब लोभकषाय कर्म के उदय जन्य अविवेक एवं धनलिप्सा का ही माहात्म्य है। आचार्य बार-बार सम्बोधन करते हैं कि एकमात्र धन प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन जीने की सुविधायें जिससे प्राप्त होती हैं, उस पुण्य एवं पवित्र विचारों को बनाए रखने हेतु धर्म-अपनाने का भी पुरुषार्थ करना चाहिए।

उत्थानिका—यहाँ पर शिष्य का कहना है कि धन, जिससे पुण्य का उपार्जन किया जाता है, वह निंद्य-निंदा के योग्य क्यों है? पात्रों को दान देना, देव की पूजा करना आदि क्रियायें पुण्य के कारण हैं, वे सब धन के बिना हो नहीं सकतीं। इसलिए पुण्य का साधन रूप धन निंद्य क्यों ? वह तो प्रशंसनीय ही है इसलिए जैसे बने वैसे धन को कमाकर पात्रादिकों में देकर सुख के लिए पुण्यसंचय करना चाहिए। इस विषय में आचार्य कहते हैं–

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः सञ्चिनोति यः।
स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

अन्वयार्थ— **(त्यागाय)** दान करने के लिए तथा **(श्रेयसे)** अपने सुख प्राप्त करने के लिए **(यः अवित्तः)** जो निर्धन मनुष्य **(वित्तं सञ्चिनोति)** धन को संग्रहीत करता है **(सः)** वह (मनुष्य) **(स्नास्यामि)** मैं स्नान करूँगा **(इति)** इस विचार से **(स्वशरीरं)** अपने शरीर को **(पङ्केन विलिम्पति)** कीचड़ से लिप्त करता है।

निर्धन धन अर्जित करता है, दान हेतु यदि वह नाना,
दान कर्म का ध्येय बनाया, कर्म खपाना शिव पाना।
कार्य रहा यह ऐसा जैसा, अपने तन पर करता है-
लेप पंक का कोई मानव, ''स्नान करूँगा कहता है'' ॥१६॥

The poor man who accmulates wealth so as to be able to acquire merit and the destruction of evil *karmas* by spending it in charity is like the man who covers himself with filth in the expectation that he is going to bathe his body thereafter !

Note - The acquisition of wealth is accompanied by so much evil do-

ing and evil-thinking that it itself implies a lot of sin accruing to the soul: what purposte can then, be served by charity and good works there after. The man who enters a drain full of filth in the hope that he will have a good bath afterwards covers himself for a certain with filth. Whether he will be able to wash it off thereafter is an entirely different matter !

विवेचना—संसार के अधिकांश भोले प्राणियों की यह धारणा होती है कि धन प्राप्ति के लिए नीच से नीच कार्य भी करना पड़े तो भी उसे करके धन सञ्चय तो कर ही लेना चाहिए। जो व्यक्ति यह सोचकर कि धन-प्राप्ति से जो पापास्रव होगा उसे पात्र-दान, देवपूजा, गुरुभक्ति, सेवा, परोपकार आदि सत्कार्यों में लगाकर पुण्य प्राप्त कर लेंगे तो पाप धुल जायेगा; लेकिन ऐसी धारणा उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार मानो किसी मनुष्य का शरीर साफ-सुथरा था, बाद में वह यह समझकर कि मैं नहा लूँगा पुनः साफ-सुथरा हो जाऊँगा। इस आशय से अपने शरीर में कीचड़ लपेटता है तो उसका ऐसा करना उचित नहीं है। उसी प्रकार पाप करके धन सञ्चय करके मनुष्य यह विचार करे कि अपने धन को दानादिक कार्यों में खर्च कर दूँगा ऐसा सोचकर जिस किसी भी कलुषित, अन्यायमार्ग से धनार्जन करता है तो वह अज्ञानी माना जाता है क्योंकि इस प्रकार के कार्यों से मनुष्य की इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती।

यदि कदाचित् भाग्यवश धन मिल भी जाता है तो अच्छे कार्यों में लगने की बहुत कम संभावना रहती है। धन का उपार्जन शुद्ध साधनों से हो ही नहीं सकता। जैसे कहा जाता है कि स्वच्छ व निर्मल जल से नदियाँ नहीं भरती किन्तु गन्दले व मलिन जल से ही परिपूर्ण होती हैं। उसी तरह सज्जनों की संपदा शुद्ध न्याय मार्ग से कमाये हुए धन से नहीं बढ़ती। धन सम्पदा में निन्दित मार्ग का आश्रय लेना ही पड़ता है। अतः विवेकी जनों का कर्त्तव्य है कि जहाँ तक बने वे नीति-मार्ग से ही धनोपार्जन करें। ज्ञानी तो इसी प्रकार का विचार करता है।

धनिक जन धन की अतृप्ति वश दुःखी होते हैं और धनार्थी धन की अप्राप्ति में दुःखी हैं, केवल आकिञ्चन मुनि ही सुखी है। ऐसी स्थिति में आप लोगों को विचार करना चाहिए कि धन की प्राप्ति उपादेय कैसे हो सकती है? यदि तू निर्धन है तो धन-संग्रह की आकांक्षा मत कर, क्योंकि जिस धन को तू उपादेय पुण्योत्पादक मानकर धन प्राप्त करने की इच्छा करता है उसी धन को राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार अतृप्तिकारक मानकर, मोहवर्धक, पापबन्धक मानकर छोड़ देते हैं और वीतराग अकिञ्चन कृति रूप मुनि लिंग को धारण कर लेते हैं। जो आत्म-वैभव एवं आत्म-स्वभाव की प्राप्ति का प्रधान कारण है।

यदि आप भी अष्टम-वसुधा सम्बन्धी मोक्ष सुख को प्राप्त करने की भावना करते हो, तो अपनी विवेक बुद्धि के द्वारा पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का परित्याग करके अपने स्वरूप को

पहचानने का प्रयत्न करो।

उत्थानिका—फिर शिष्य कहता है कि हे भगवन्! धन के कमाने में यदि ज्यादातर पाप होता है और दु:ख का कारण होने से धन निंद्य है, तो धन के बिना भोग और उपभोग भी तो नहीं हो सकते। इसलिए उनके लिए धन होना ही चाहिए और इस तरह धन प्रशंसनीय माना जाना चाहिए। इस विषय में आचार्य कहते हैं कि ''यह बात भी नहीं हैं'', अर्थात् ''पुण्य का कारण होने से धन प्रशंसनीय है'' यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित नहीं है, यह पहले ही बताया जा चुका है। ''भोग और उपभोग के लिए धन साधन है'' यह जो तुम कह रहे हो, सो भी बात नहीं है, यदि कहो क्यों ? तो उसके लिए कहते हैं–

आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं क: सेवते सुधी:॥१७॥

अन्वयार्थ— (आरम्भे) प्रारम्भ में **(तापकान्)** सन्ताप देने वाले **(प्राप्तौ)** प्राप्त हो जाने पर **(अतृप्ति-प्रतिपादकान्)** तृष्णा को बढ़ाने वाले तथा **(अन्ते)** अन्त में **(सुदुस्त्यजान्)** बहुत कठिनाई से छूटने योग्य **(कामान्)** विषय भोगों को **(क: सुधी:)** कौन बुद्धिमान् पुरुष **(कामं)** बड़ी रुचि से **(सेवते)** सेवन करता है।

प्राप्त नहीं हो जब तक, तब तक, महा ताप कर काम-सभी,
किन्तु प्राप्त हो जाने पर तो, कभी तृप्ति का नाम नहीं।
अन्त-अन्त में तो क्या कहना? जिनका तजना सरल नहीं,
सुधी रचे फिर काम-भोग में? जिनका मन हो तरल कहीं ॥१७॥

What ! will any wise man indulge in the pleasures of the senses which cause trouble in their acquisition, enkindle lust and desire at the moment of enjoyment and are very painful at the time of parting ? Should a wise man do so, he would not abandon himself to the lustful feeling.

Note - According to the degree of foresight developed by them, men fall into three classes, namely, the short-sighted, the far-sighted and the farthest-sighted. The first class is that of fools, as all will agree. The second is that of men who are worldly wise. They are learned and thoughtful, but only in matters pertaining to the world, and the concerns of the immediate life that comes to an end after some three score years and ten, when their wisdom also perishes.The third class comprises those few but deeply thoughtful souls who have understood the nature of life and know that the

soul survives the physical death. They are familiar with the true nature of things and know that there is no rest or peace for the soul outside nirvana. They are the farthest-sighted, for this reason; we may also call them *Dharma*-sighted, for *Dharma* signifies the ultimate Truth and the nature of things. Of these Knowers of the true nature of things it is said that they will not indulge in sensual lusts, knowing them to be the causes of suffering and pain, though not appearing to be such to the first or the second classes of men. Should a knower of Truth be found to indulge in the pleasures of the world, he would not abandon himself altogether to resist the forces of *Karmic* infatuation engendered in the past. The point is this that the knowledge of Truth changes the angle of vision of the wise one who may not be able to resist the temptation but who will detest himself all the time for his failings, where the fool will simply plunge himself head long in the whirling vortex of pleasures and lusts.

विवेचना—जीवन की आदि, मध्य और अन्त इन तीनों अवस्थाओं में से यदि एक भी अवस्था में भोग-सामग्री के द्वारा सुख मिल जाये तो भोगों को अच्छा माना जा सकता है किन्तु भोग-सामग्री में तो लेश मात्र भी सुख नहीं है क्योंकि भोग के विषय आरंभ, कृषि आदि षट्कर्मों से सम्पादित होते हैं। इन कार्यों के करते समय शरीर, इन्द्रिय व मन को अत्यन्त कष्ट होता है। श्रम के फलस्वरूप जब इनकी प्राप्ति हो जाती है तो भी तृष्णा नागिन अपनी चपलता से जगत को अशान्त करती रहती है। इनका हमेशा-हमेशा भोग करने पर भी कभी तृप्ति नहीं होती, बल्कि अतृप्ति ही बनी रहती है। अतृप्ति में खेद व व्यग्रता होती है। अग्नि में कितना भी तृण-काष्ठ क्यों न डाला जाये लेकिन अग्नि कभी तृप्त नहीं होती। नदियों का कितना भी जल समुद्र में डाला जाये तो भी समुद्र कभी तृप्त नहीं होता। अग्नि और समुद्र कदाचित् ईन्धन और जल से तृप्त हो भी जायें परन्तु संसारी मोही प्राणी भोगों से कभी तृप्त नहीं हो सकता। भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' में कहा भी है कि ''भोगो न भुक्त्वा वयमेव भोक्ता''। ज्ञानी भी भोगों का सेवन करता है लेकिन आसक्ति के साथ नहीं करता। कदाचित् दाल में नमक ज्यादा हो जाता है तो अज्ञानी तो उसको खारी बताता है। खारी क्यों हुई ? इसका विकल्प भी करता है लेकिन ज्ञानी दाल के खारेपन का स्वाद बतलाता है, दाल को खारी नहीं बतलाता।

''जो संसार विषै सुख होता तीर्थंकर क्यों त्यागैं ॥८॥'' वैराग्यभावना

उदाहरण के लिए पञ्चबालयति तीर्थंकरों ने कुमारावस्था में ही भोगों को भोगे बिना छोड़ दिया और आत्म-साधना में लीन हो गये। 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में आचार्य गुणभद्रस्वामी जी ने

कहा है कि किन्हीं मनुष्यों ने तो विषय-सामग्री अर्थात् भोगों को तृण के समान समझकर त्याग दिया और उसे अन्य अर्थीजनों को दे दिया, उसका स्वयं ही परित्याग कर दिया, कुछ ऐसे भी मनुष्य हुए हैं जिन्होंने भोगों को दुःख रूप समझकर ग्रहण ही नहीं किया। ये तीनों प्रकार के त्यागी उत्तम हैं, परन्तु इनमें सर्वोत्तम वह माना जाता है जिसने वैभव को, भोग-सामग्री को ग्रहण ही नहीं किया।

वज्रदन्त चक्रवर्ती के पुत्रों ने पिता जी के वैरागी होने पर स्वयं भी उसी मार्ग का अनुसरण किया क्योंकि उन्होंने विचार किया कि दूसरों के द्वारा भोगी सम्पदा को पुनः भोगना उचित नहीं है। वे पिता के साथ दीक्षित हो जाते हैं। भरत चक्रवर्ती तो भोग-भोगते हुए भी अन्तरंग से उदासीन रहे। राज्य कार्य करते हुए भी भावों की विशुद्धि में कोई अन्तर नहीं आने दिया। यही कारण है कि भरत चक्रवर्ती दीक्षा लेते ही केवलज्ञान के पात्र बने। अज्ञानी जीव ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि उसका भोगों के प्रति तीव्र राग होता है।

भोग और उपभोग तो अशुभ कर्म के कारण हैं और धन भोग-सामग्री का उत्पादक है अतः धन को प्रशस्त कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि वह भी अशुभ कर्म और संक्लेश परिणामों का जनक होता है।

उत्थानिका—अब आगे कहते हैं कि हे जीव! तू जिस प्रकार शरीर के उपकार के लिए अनेक दुःखों के साथ वस्तु प्राप्ति की इच्छा करता है, उस शरीर के स्वरूप का भी तो विचार करो कि शरीर का स्वरूप कैसा है?

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः सन्ततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥

अन्वयार्थ—(यत्सङ्गं प्राप्य) जिसका संयोग पाकर **(शुचीनि अपि)** पवित्र पदार्थ भी **(अशुचीनि)** अपवित्र **(भवन्ति)** हो जाते हैं **(स कायः)** वह शरीर **(सन्ततापायः)** सदा विनाशीक बना रहता है अतः **(तदर्थं)** उसके लिए **(प्रार्थना वृथा)** पवित्र करने की कामना व्यर्थ है।

मलयाचल का चन्दन चूरण, चमन चमेली चातुरता,
कुन्द पुष्प मकरन्द सुगन्धी, गन्ध-दार मन्दारलता।
पदार्थ सब ये तन संगति से, गन्ध-पूर्ण भी गन्दे हों,
सदा अहित कर तन का यदि तुम, राग करो तो, अन्धे हो ॥१८॥

By the contact of which even pure objects are rendered impure and which is a constant source of affliction, to seek to provide such a body with the objects of pleasure is vanity !

Note - It is not the nature of the senses to ever attain to anything like a

lasting sense of gratification. The source and store-house of impurity, the body may be surrounded by all sorts of luxuries and things that are expected to give one pleasure; but its cravings only increase while the things which it touches become impure for any other purpose !

विवेचना—शरीर के समागम से शुचिमय आत्मतत्त्व भी अशुचिता का अनुभव करने लग जाता है। शरीर स्वयं अशुचिमय है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध-बुद्ध, निरन्जन, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वाला है। फिर भी कर्म के संयोग से, शरीर के संयोग से आत्मा अशुद्ध अवस्था को प्राप्त हो गया। फलस्वरूप यह आत्मा अपने स्वभाव को छोड़कर विभाव में लगा रहता है। विभाव त्रैकालिक नहीं होता। विभाव अनन्त रूप नहीं होता। किन्तु स्वभाव त्रैकालिक होता है। अनन्त रूप होता है। चूँकि अभी जीव पूर्ण ज्ञाता दृष्टा नहीं है, अतः अपूर्ण होने से अपूर्ण को ही जानता देखता है। जैसा कि कल या परसों आप लोगों को बताया ही था कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने भी 'समयसार' ग्रन्थ में इसी बात का समर्थन किया है कि–

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेण वच्छण्णो।
संसारसमावण्णो, णवि जाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

संसारी प्राणी की यह दशा क्यों हो रही है? आचार्य कहते हैं कि शरीर के योग से ही सब कुछ हुआ है। आप लोग बार-बार यह सोचते हैं कि अच्छा शरीर, अच्छा वैभव मिल जाये लेकिन आचार्य कहते हैं कि आत्मा का हित मात्र अच्छा शरीर पाने की इच्छा से नहीं होगा। इसीलिए ''तदर्थं प्रार्थना वृथा'' अर्थात् शरीर के लिए प्रार्थना करना वृथा है। शरीर से ममत्व को छोड़ो उससे ममत्व कम करने का प्रयास करो, कषायों को छोड़ने का प्रयास करो, यही जीवन को सफल करने का रास्ता है। अन्यथा जैसा आया वैसा ही जीवन बीत जायेगा। इसलिए निमित्त के ऊपर क्षुब्ध व क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। ''निमित्त पर क्षुब्ध होना यह संसारी प्राणी की सबसे बड़ी कमजोरी है।''

''साधना की परीक्षा प्रतिकूलता के समय ही होती है।'' प्रतिकूलता कर्मों के उदय से प्राप्त होती है, अतः उस समय नोकर्म अर्थात् जिसने प्रतिकूलता पैदा की उस पर क्षुब्ध क्यों होते हो ? कर्मोदय तो स्वयं का है। स्वयं किये कर्मों का फल मिल रहा है, ऐसा विचार करो। हाँ, यह बात भी निश्चित है कि कर्म का फल बिना नोकर्म के नहीं मिलता। अतः नोकर्मों पर, निमित्तों पर नहीं टूटना चाहिए, लेकिन अज्ञान के कारण वही सामने दिखता है। इसलिए कर्मों को पकड़ो, उन्हीं को समाप्त करने का प्रयास करो साथ में यह भी ज्ञात करो कि ये कर्म कैसे आये ? क्यों आये ? कहाँ तक इनका प्रभाव है? ये जानोगे तो निश्चित रूप से इन्हें समाप्त करने का प्रयास भी सफल हो सकता है यही मोक्षमार्ग है।

उत्थानिका—फिर भी शिष्य का कहना है कि भगवन्! शरीर हमेशा अपाय वाला है। यदि

धनादिक के द्वारा इस शरीर का उपकार नहीं हो सकता, तो आत्मा का उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्या से नहीं, बल्कि धनादि पदार्थों से भी हो जायेगा ? आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं, नहीं, ऐसी बात नहीं है। कारण कि–

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥

अन्वयार्थ– (यत् जीवस्य) जो कार्य आत्मा के **(उपकाराय)** उपकार के लिए है **(तत् देहस्य)** वह शरीर का **(अपकारकम्)** अपकार करने वाला है तथा **(यत्)** जो **(देहस्य उपकाराय)** शरीर के उपकार के लिए है **(तत्)** वह **(जीवस्य अपकारकम्)** आत्मा का अपकार करने वाला है।

तन का जो उपकारक है वह, चेतन का अपकारक है,
चेतन का उपकारक है जो तन का वह अपकारक है।
सब शास्त्रों का सार यही है चेतन का उद्धार करो,
अपकारक से दूर रहो तुम, तन से कभी न प्यार करो ॥१९॥

Whatever action is beneficial to the soul is harmful to the body, and whatever action is beneficial to the body is harmful to the soul !

Note - The association of the soul and the body being the cause of the pain & misery appertaining to embodied existence, *nirvana* really only signifies the destruction of the fleshy prison of the soul, when the latter, fully exalted and immortal in its own right, is installed in the Temple of Divinity as a God. by the mere process of emancipation from the bondage of matter. Hence, whatever tends to the fattening of the body is necessarily the source of continued affliction to the soul and *vice versa.*

विवेचना–जो जीव का उपकार करने वाला होता है वह शरीर का अपकार करने वाला होता है। जिस पदार्थ के द्वारा जीव का हित होता है उस पदार्थ के द्वारा देह का हित नहीं होता। यदि आप देह को पुष्ट बनाओगे तो आत्मा को दुबला-पतला बना दोगे और यदि आत्मा को पुष्ट बनाओगे तो देह दुबला-पतला हो भी जाये तो कोई चिन्ता की बात नहीं। जीव का उपकारक क्या है? तप है, संयम है, त्याग आदि जीव के उपकारक हैं। खाना, पीना, सोना, ओढ़ना, बिछाना, देखना, दिखाना आदि ये देह के पोषक हैं। आप क्या चाहते हैं। यदि दोनों चाहते हैं, तो यह सम्भव नहीं हो सकता। ''शरीर पुष्ट होगा तो आत्मा पिष्ट होगी यदि आत्मा को पुष्ट बनाना चाहते हो तो शरीर पिष्ट होगा अर्थात् दुबला-पतला हो जायेगा। जो व्यक्ति आत्म स्वभाव से अनभिज्ञ है वह ही शरीर को पुष्ट

बनाने का प्रयास करता रहता है।

तू नित पोखै यह सूखे ज्यों धोवै त्यों मैली। ६/१४। मंगतराय

इस शरीर का जितना भी पोषण करो, यह अपने गुणधर्म को कभी नहीं छोड़ता। यह शरीर जब तक है तब तक इससे धर्मध्यान करो। जो इस शरीर को धर्मध्यान में लगाता है वह ज्ञानी माना जाता है। शेष सारी की सारी अज्ञान की ही बातें हैं। पर्याय बुद्धि के कारण संसारी प्राणी क्या-क्या करता आया है? वर्तमान में भी क्या-क्या करता जा रहा है? जिसका फल भी क्या-क्या भोगता रहता है? इसकी कोई सीमा नहीं है। इस सभी का कारण है अज्ञान और मोह। संसार में भटकन का भी यही कारण है अन्य कुछ नहीं। ज्ञान के माध्यम से वह अपने हित को जान सकता है और अहित को भी जान सकता है। दोनों को जानकर ज्ञान के ही माध्यम से हित को अपना सकता है और अहित से दूर रह सकता है। कषायें अज्ञान की सपोर्टर है कषायों के प्रभाव में आकर आत्मा जो कुछ भी करता है उसके फलस्वरूप आत्मा को ही पिटना पड़ता है।

''पाप आप करो फल दूसरा भोगे'' ऐसा कभी नहीं होता, बल्कि जो जैसा करता है वही उसका वैसा ही फल भोगता है। शरीर को अपना मानना, उसमें पर्याय बुद्धि रखना, यह सबसे निकृष्ट कार्य है। ऐसा करना सबसे बड़ी भूल है। यह संसारी जीव के लिए अभिशाप है। इसीलिए संसार है। यदि भेद विज्ञान आ जाये तो पर्याय बुद्धि हट सकती है। अतः इन शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न हूँ, पृथक् हूँ, प्रत्येक क्षण में ऐसा भाव करना चाहिए। ऐसा ही बार-बार चिन्तन करना चाहिए। यही एकमात्र निर्जरा का साधन है। राग-द्वेषादि भाव हो भी जायें तो उन्हें भी पृथक् समझो और विचार करो कि यह भाव मेरा स्वभाव नहीं है। कर्मों के उदय से यह मेरे भीतर वैभाविक शक्ति काम कर रही है, लेकिन यह मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव तो इन सब विभाव-भावों से पृथक् है। मेरा स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है। कषाय करना मेरा स्वभाव नहीं। अज्ञान के पीछे लग जाना मेरा स्वभाव नहीं, ऐसा समझकर ज्ञानी हमेशा अच्छे कार्य ही करता है।

आप लोग (साधुओं की ओर संकेत) मुझे बताओ कि रत्नत्रय कैसा लग रहा है? वीतराग विज्ञान सुनने में तो बहुत अच्छा लगता है लेकिन-

''आतमहित हेतु विराग ज्ञान तै लखै आपको कष्टदान ॥'' २/६। छहढाला

आत्मा के हितकारक रत्नत्रय या वीतराग विज्ञान को ज्ञानी जीव कभी कष्ट-दायक नहीं समझता। वीतराग विज्ञान रत्नत्रय का फलीभूत पदार्थ है। आत्म-हित के लिए वह नवनीत है। रत्नत्रय के बिना वीतराग विज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। संयम धारण किये बिना आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। जो संयम धारण करेगा उसके विषय-कषायों का निश्चित रूप से त्याग हो जायेगा। ऐसी स्थिति में शरीर शुष्क होगा और आत्मा पुष्ट होगी। आत्मा पुष्ट होगी तो बहुत सारी

समस्यायें अपने आप टलती चली जायेंगी एवं आत्मा हमेशा-हमेशा बलवान होता रहेगा।

जिस देश में सेना तंदुरुस्त रहती है, उसकी आवाज सुनते ही सारे के सारे अन्य दल कांपने लगते हैं। वह देश बलवान माना जाता है जिसमें बलवान सैन्यदल होता है। अन्यथा देश पर कोई भी कभी भी आक्रमण कर सकता है। इसी प्रकार जिसका आत्म-बल मजबूत रहता है, उसको तीनों लोक एवं तीनों कालों में कोई दबा नहीं सकता। राग-द्वेष के कारण ही यह जीव सर्वत्र दबता आया है। लेकिन जब रत्नत्रय धारण कर लेता है तो उसको दबाने वाले राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं और उस समय वह शान्ति से बैठकर रत्नत्रय की साधना को बढ़ाता चला जाता है।

संसारी प्राणी अनन्त की संख्या में हैं और रत्नत्रय के धारक बहुत कम हैं। अंगुली पर गिनने लायक अर्थात् विरले ही होते हैं। पूरे विश्व में क्या ? पूरे ढाईद्वीप में ही अधिकतम मात्र तीन कम नौ करोड़ रत्नत्रय के धारक मुनिराज होते हैं। बाकी अनन्त संख्या वाले सभी सिद्ध होते हैं या असंयमी होते हैं। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीव असंयमी ही रहते हैं, क्योंकि उनमें संयमी बनने की क्षमता या योग्यता ही नहीं होती। संज्ञी पञ्चेन्द्रियों में भी सभी जीव संयम धारण नहीं करते हैं। तीन गतियों को छोड़कर मात्र मनुष्य गति में ही पूर्ण संयम धारण किया जा सकता है। तिर्यञ्चों में असंख्यात तिर्यञ्च पूर्ण संयम को नहीं किन्तु देशसंयम को धारण कर सकते हैं। मनुष्यों में पूर्ण संयम धारण कर सकने की क्षमता तो है परन्तु सभी मनुष्य धारण नहीं कर सकते।

जो जीव के लिए अपकारक होता है वह देह के लिए उपकारक होता है अतः ज्ञानी जीव देह को पुष्ट नहीं करता है, क्योंकि देह के उपकार से देह के पुष्ट होने से जीव का अपकार होता है। ''संयम पालन हेतु स्वस्थ शरीर की आवश्यकता तो होती है पर पुष्ट शरीर की आवश्यकता नहीं।'' साधक देह को पुष्ट नहीं करता किन्तु देह को वेतन देकर उससे काम कराता है। यह शरीर काम करता है तो वेतन देता है और यदि काम करने को तैयार नहीं रहता तो सीधे उसी दिन कह देता है कि अब तुझे वेतन नहीं मिलेगा। इतने दिन तक वेतन दे दिया अभी भी थोड़ा-बहुत काम करोगे तो ही थोड़ा बहुत वेतन मिलेगा अधिक नहीं। यदि शरीर का ख्याल रखकर कोई उसके पक्ष में तर्क रखे, कि शासन रिटायर्डमेंट होने के उपरान्त भी आधा वेतन देता है। भले ही वह व्यक्ति काम करने लायक न भी हो, अतः शरीर भी यदि मांग करता है कि भले ही मैं काम के लायक नहीं रहा फिर भी आधा वेतन तो आपको देना चाहिए ? इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि नहीं, शासन के समान हम दया नहीं कर सकते। हमने तो पहले ही शर्त रखी थी कि जब तक काम करोगे तब तक ही हम वेतन देंगे। जिस दिन से कार्य बन्द कर दोगे तो एक बूँद भी नहीं मिलेगी तुम्हें। क्यों, ऐसा क्यों ? जब सरकार भी वेतन देती है तो आपको भी देना चाहिए। नहीं, क्योंकि सरकार की प्रक्रिया भिन्न है। यह तो 'प्राइवेट कंपनी' है। सरकार में सब चलता है, सरकारी कानून यहाँ पर भी लागू

होना चाहिए ऐसा नहीं है। सरकार की नीति में धर्म-नीति न होने के कारण धन की अवनति, देश की अवनति, संस्कृति की अवनति, धर्म की अवनति होती है।

रत्नत्रय का धारक सुपात्र कहलाता है। रत्नत्रय जिसके पास नहीं है वह अपात्र है। सुपात्र को दान देने से भोगभूमि प्राप्त होती है। दान देने वाला स्वर्ग भी जा सकता है, लेकिन अपात्र को दान देने से कुभोगभूमि मिलती है, जहाँ पर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की भी पात्रता नहीं होती। वहाँ पर मनुष्यों के शरीर की कैसी संरचना होती है। इस विषय में तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में बताया है कि एक हाथ है, तो एक टांग है। कान मिले तो सूप जैसे उन्हीं को बिछाओ उन्हीं को ओढ़ लो। गधे, घोड़े, उल्लू, सूकर, दर्पण आदि के समान मुख मिलते हैं। रत्नत्रय का पात्र शरीर है। रत्नत्रय आत्मा में है लेकिन फिर भी रत्नत्रय के द्वारा शरीर में पात्रता आती है। इसलिए ही शरीर को वेतन दिया जाता है लेकिन उसे पुष्ट नहीं बनाया जाता। जैसे-लैम्प, कैण्डिल, गैसबत्ती के लिए पेट्रोल या तेल दिया जाता है तेल देना उनका वेतन है वैसे आहार देना शरीर का वेतन है। उन सभी को वेतन कब देते हैं, जब तक घर में है तब तक ? नहीं, जब तक वे प्रकाश देते हैं तब तक। अर्थात् जब तक वे प्रकाश देते हैं तब तक उन्हें प्रकाश की सामग्री दी जाती है। प्रकाश देने के योग्य जब नहीं रहते तो उन्हें कचरे में डाल दिया जाता है। इसी प्रकार शरीर की भी स्थिति है।

देह के माध्यम से विषयों का सेवन होता है तो उसी के माध्यम से संयम का पालन भी होता है। तीनों लोकों की सम्पदा भी मिल जाये तो भी सम्यग्दृष्टि जीव कहता है कि मुझे इस सम्पदा से कोई प्रयोजन नहीं है। मुझे तो आत्म-सम्पदा प्राप्त करना है उसके लिए असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा करना आवश्यक है। कर्म-निर्जरा के लिए संयम पालन करना आवश्यक है। संयम पालने में देह कारण है। अन्य तीन गति सम्बन्धी शरीर मुक्ति का साक्षात् कारण, असंख्यातगुणी निर्जरा में कारण नहीं होता। लेकिन इस मानव देह से कर्म निर्जरा करने का यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ है। कर्म काटने का अवसर मिला है। कर्म काटने में यह देह कारण है। इसलिए इसे साधक वेतन दे सकते हैं, देते ही हैं अन्यथा नहीं। देवों से भी बढ़कर आप लोगों का यह शरीर है, कितना महत्त्वपूर्ण है? अन्य सभी शरीर काँच के समान हैं तो मानव शरीर हीरे के समान है क्योंकि इसके माध्यम से संयम का पालन किया जा सकता है। पूर्णरूपेण धर्म का पालन इसी शरीर के द्वारा होता है। इसी दृष्टि से यह मानव देह कथंचित् जीव का उपकारक भी बनता है। इसी के द्वारा रत्नत्रय का पालन होता है। अतः अच्छे ढंग से इसकी व्यवस्था कर देना चाहिए और कर्म-निर्जरा में अपने आपको व्यस्त कर लेना चाहिए। यही एक मात्र बुद्धिमत्ता है। अन्यथा तो ''तदर्थं प्रार्थना वृथा'' अर्थात् एक क्षण भी शरीर के लिए कुछ भी प्रार्थना करना व्यर्थ है।

मानलो, किसी डॉक्टर का एक माह में साठ हजार रुपये वेतन है। इसमें हिसाब लगाइये कि, जब वह एक माह में साठ हजार कमा रहा है तो पन्द्रह दिन में तीस हजार। सात-आठ दिनों में

पन्द्रह हजार। चार दिनों में सात हजार, तो दो दिनों में साढे तीन हजार। एक दिन में लगभग पौने दो हजार, तो एक घण्टे में बासठ रुपये। एक मिनट में लगभग डेढ़ रुपये और एक सेकण्ड में लगभग दो पैसे कमाता है। क्या कम्प्यूटर दिमाग है आपका ? यह तो मामूली सी चीज का हिसाब-किताब हो गया। लेकिन मनुष्य जीवन में जो रत्नत्रय धारण करता है, उसका पालन करता है तो उसने कितना वेतन कमाया ? ऐसा यदि हिसाब लगाना चाहते हो तो आचार्य कहते हैं कि एक सेकेण्ड में भी असंख्यात समय होते हैं, एक-एक समय में अनन्त-अनन्त सम्पदा को कमा सकता है।

इस प्रकार का वेतन तीन लोक में अन्यत्र कहीं न मिला, न मिल सकता है। आप सोचिये, विचार कीजिये, कि जब हम भगवान् महावीर स्वामी के डिपार्टमेण्ट में भर्ती हो जाते हैं तो एक-एक समय में कितना वेतन मिलता है? आपके लिए भी इतना ही मिल सकता है, बस इतनी शर्त है कि दुनिया की तरफ से अपने मन को मोड़ लो और इतना वेतन ले लो। हम पूछते हैं भगवान् महावीर स्वामी से कि और कोई कमीशन भी मिल जायेगा क्या आप लोगों को तो मैं बता दूंगा। इतनी अधिक सम्पदा आपके हाथ में है अब और कमीशन या वेतन की क्या बात करते हो ? जो कुछ भी सम्पति है वह सब तुम्हारी ही है।

दुनिया की सारी की सारी कम्पनियाँ फेल हो सकती हैं, लेकिन भगवान् महावीर स्वामी की कम्पनी ऐसी है कि वहाँ कोई ग्राहक आए तो ठीक, न आये तो भी ठीक, ऐसे कमीशन तो वहाँ मिलते ही रहते हैं। हम तो कमीशन एजेण्ट हैं। कोई ले लो तो ठीक, न ले तो भी ठीक, यहाँ कोई व्यापार नहीं है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव इस मानव जीवन या मानव शरीर को कैसा मानता है? दुर्लभ मानता है। बारह भावना में आप पढ़ते हैं कि-

''**नरकाया को सुरपति तरसै, सो दुर्लभ प्राणी। ११/२४ ॥**''-मंगतराय

स्वर्गों में रहने वाले इन्द्र भी इसके लिए तरस रहे हैं क्योंकि इसी के माध्यम से मुक्ति का सम्पादन होता है। मुक्ति क्या है? शुद्ध-तत्त्व की, शुद्ध-आत्मा की अथवा शुद्धज्ञान की अनुभूति होने का नाम ही तो मुक्ति है। इसकी प्राप्ति मनुष्य जीवन में रत्नत्रय के द्वारा होती है। धन्य है उनका जीवन जिन्होंने इस शरीर को रत्नत्रय की प्राप्ति में सहयोगी बनाया। वे देव भी धन्य हैं जो संयम से तो विमुख रहते हैं, परन्तु शरीर में रहकर भी शरीरातीत आत्मा की बात तो करते हैं। प्रतिक्षण होने वाली इस घटना को या तो वे ही जानते हैं अथवा भगवान् जानते हैं। संसारी प्राणी को ये ज्ञात नहीं हो सकता। ''आत्मा की चर्चा मात्र करने वालों के उत्साह उल्लास को भी जब हम शब्दों से नहीं कह सकते तो आत्मानुभूति करने वालों के उत्साह को तो हम बुद्धि द्वारा सोच भी नहीं सकते।''

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी जी कहते हैं- ''**णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।**''-(समयसार ४),

''अज्जवि तियरणसुद्धो'' (पंचास्तिकाय टीका में उद्धृत) आज भी साधक रत्नत्रय का पालन करके स्वर्ग में इन्द्र पद को प्राप्त करके अथवा लौकान्तिक देव बनकर रत्नत्रय की आराधना का फल प्राप्त कर सकते हैं उसके पश्चात् वहाँ से च्युत होकर मनुष्य जन्म पाकर मुक्ति प्राप्ति के भाजक बन सकते हैं। ऐसी भूमिका मनुष्य जीवन द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतः जीव का उपकारक यह रत्नत्रय धारक शरीर भी हो सकता है। और यदि इस शरीर के द्वारा विषयों में रमण होगा तो यही आत्मा का अपकारक हो जाता है। फलतः यह आत्मा इस शरीर रूपी कावड़िया को लेकर घूमता रहता है। कावड़िया को जानते हो ? कन्धे के ऊपर रखी जाती है, एक तरफ दो घड़े और दूसरी ओर भी दो घड़े भरकर रख लेते हैं, फिर उसे कंधे के ऊपर रखकर चले जाते हैं। उसी प्रकार यह संसारी प्राणी शरीर रूपी कावड़िया में कर्म रूपी घड़े को रखकर घूमता रहता है।

अनन्त काल से इसी प्रकार की यात्रा हो रही है, अतः सोचो विचार करो कि तीन लोक में अपने ऊपर उपकार करने वाला कौन है? रत्नत्रय उपकारक है और उसका सहायक रत्नत्रय धारक यह शरीर भी उपकारक सिद्ध हो जाता है। इसी दृष्टि से आगम में इसको पवित्र, पूज्य और उपकारक कहा है। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने रत्नकण्डकश्रावकाचार ग्रन्थ में लिया है–

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते। १३।

मोक्षमार्ग में उपकरणों का कथन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने जिनलिंग को भी उपकरण कहा है, जो यथाजात रूप है। इसे प्रथम उपकरण माना है। फिर 'गुरुवयणं' गुरु के वचनों को, उनकी आज्ञा को भी उपकरण कहा है। **''विणयं और सुत्तज्झयणं''** को भी उपकरण कहा है। विनय को मोक्ष का द्वार भी कहा है। श्रुत का अध्ययन भी उपकरण है, ये सभी जीव के उपकारक हैं। भले ही देह के अपकारक हों। सम्यग्दृष्टि जीव शरीर का नहीं किन्तु जीव का उपकार करना चाहता है। अतः जीव के उपकारक जो पदार्थ हैं उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। तभी मंजिल को प्राप्त कर पाता है। अतः यही शरीर जीव का उपकारक और अपकारक सिद्ध हो सकता है। हमें इस शरीर को जीव का उपकारक बनाने का ही प्रयास करना चाहिए।

उत्थानिका—जो इस लोक सम्बन्धी फल हैं, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल हैं, उन दोनों ही फलों का प्रधान कारण ध्यान ही है। मतलब यह है कि **''झाणस्स ण दुल्लहं किंपि''** ध्यान के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है अर्थात् ध्यान से सब कुछ मिल सकता है। इस विषय में आचार्य विचार करते हुए विवेक को जागृत करने का निर्देश देते हैं–

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम् ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिनः॥२०॥

अन्वयार्थ— (इतःदिव्यः) एक तरफ दिव्य **(चिन्तामणिः)** चिन्तामणि रत्न और **(इतः)**

दूसरी तरफ **(पिण्याकखण्डकम्)** खली का टुकड़ा **(चेत् उभे)** यदि ये दोनों **(ध्यानेन लभ्ये)** ध्यान के द्वारा प्राप्त होते हैं तो **(विवेकिन:)** बुद्धिमान् मनुष्य **(क्व)** किसमें **(आद्रियन्तां)** आदर करे ?

एक ओर तो चिन्तामणि है, दिव्य रही, मन हरती है,
और दूसरी ओर काँच की, मणिका जग को छलती है।
ध्यान-साधना से ये दोनों, मानो भ्राता! मिलती हैं,
आदर किसका बुधजन करते? आँखें किस पर टिकती हैं ॥२०॥

When the divine wish-fulfilling Jewel and a piece of refuse both are obtainable by meditation, which of these will the man of discrimination choose ?

Note - The man of discrimination will naturally prefer the soul which is like a divine wish-fulfilling Jewel, capable of conferring the inconceivably great boon - the status and the joy of Divinity to a passing pleasurable form of sense-tickling that is like a worthless piece of *khali* (a cake of sesamum seeds from which oil has been extracted) and serves only to prolong and to embitter the bondage of *karmas.*

विवेचना—एक ओर चिन्तामणि रत्न रखा है जो मन को आकर्षित करता है और दूसरी ओर काँच की कणिका है जो जग को छलती है, क्योंकि उससे भी हीरे जैसी आभा का भान होता है। एक ओर कणिका और एक ओर दिव्यांक है। कहने का तात्पर्य यह है कि मान लीजिये ध्यान के द्वारा चिन्तामणि रत्न और काँच का टुकड़ा दोनों प्राप्त हो सकते हैं, तो उनमें से बुद्धिमान् जीव किसकी इच्छा करेगा ? '**क्वाद्रियन्तां विवेकिन:**' आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने विवेकी जनों के सामने प्रश्न रखा है कि तुम्हारी क्या इच्छा होगी। यह प्रश्न इसलिए रखा है कि यदि विवेकी होगा तो चिन्तामणि रत्न प्राप्त करने की इच्छा करेगा। रत्न की ओर ध्यान नहीं जाने पर भी अपने आपको विवेकी मान रहा है तो यह उसका अज्ञान है। अज्ञानी की कोटि में रखने से उसे बुरा लगता है कि इन्होंने मुझे अज्ञानी सिद्ध किया है, लेकिन बुराई का काम करने पर बुरा कहने वालों के प्रति बुरा नहीं सोचना चाहिए। यदि सोचें कि हम अज्ञानी भी नहीं हैं और ज्ञानी भी नहीं हैं तो दोनों बातें एक साथ सिद्ध नहीं हो सकती। कोई भी जीव दोनों संज्ञाओं से रहित नहीं हो सकता क्योंकि वह या तो ज्ञानी होगा अथवा अज्ञानी होगा।

''**क्वाद्रियन्तां विवेकिन:**''? यह एक ऐसा प्रश्न है कि जो अपने आपको विवेकी नहीं होने पर भी विवेकी मानता है उसे तिलमिला देता है। भीतर ही भीतर ठेस पहुँच जाती है। ये कैसा व्यंग

है? अज्ञान के कारण सही-सही मूल्यांकन नहीं होता है परन्तु ज्ञान के द्वारा सही-सही मूल्यांकन होता है। 'खली' का अर्थ धूर्त भी होता है और खली का अर्थ तेल निकलने के बाद शेष निस्सार भूत बची हुई वस्तु भी होता है। खल यानि दुष्ट भी होता है। अर्थ यह हुआ कि शरीर को उपकारक मानना कहाँ तक उचित है? चिन्तामणि रत्न के समान आत्मतत्त्व को छोड़कर शरीर का मूल्यांकन करना अविवेक है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अनेक स्थानों पर ऐसे प्रश्न रखे हैं। एक स्थान पर 'समयसार ग्रन्थ' में भी उपरोक्त कथन को स्पष्ट किया है कि-जैसे एक व्यक्ति कपूर की खेती कर रहा है और एक व्यक्ति प्याज की खेती कर रहा है। प्याज की खेती की सुरक्षा के लिए वह कपूर के वृक्ष को काटकर बाड़ लगाता है, यह उचित है क्या ? प्याज फलेगी तो एकाध हजार रुपये ही मिल पायेंगे जबकि कपूर के एक पेड़ से ही बहुत सारी कीमत मिलेगी। लेकिन कपूर के वृक्ष की कीमत जिसे ज्ञात नहीं है वह व्यक्ति प्याज की खेती की सुरक्षा कपूर के वृक्ष को काटकर करता है। यह ज्ञान है या अज्ञान बताओ ? महा अज्ञान है।

उसी प्रकार एक व्यक्ति को डोर की आवश्यकता पड़ी। इधर-उधर देखा, नहीं मिली तो उसने गले के हार को ही तोड़ दिया और भीतर जो डोर थी उसे लेकर अपना कार्य किया। बताइये यह उसकी मूर्खता है या नहीं ? निश्चित ही यह उसकी मूर्खता है।

ऐसा ही एक और प्रसंग है कि एक व्यक्ति बरसात होने के कारण दल-दल में फँस गया। घुटने तक कीचड़ में फँस गया। घर पर आया सब तरफ देखा पानी नहीं मिला। एक घड़ा अमृत का रखा था उससे ही उसने पैर धो लिए। ठीक है क्या ? नहीं, क्योंकि उसने अमृत की कीमत को नहीं आंका और व्यर्थ ही खर्च कर दिया।

वैसे ही एक व्यक्ति बैठा था। पास की दीवार पर एक कौआ आकर बैठ गया। काँव-काँव करने लगा। उस व्यक्ति को काँव-काँव सुनना अच्छा नहीं लगा। अत: उसे उड़ाने के लिए आसपास में देखा। कंकड़-पत्थर नहीं मिले, तो उसकी अण्टी में जो हीरे की कणिका थी। उसको खोलकर फेंक दिया। कौआ उड़कर चला गया। उसका ऐसा करना ठीक है क्या ? नहीं।

इनमें से किसी एकाध व्यक्ति को तो ठीक कह दो। नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त सभी का कार्य उचित नहीं था, किसी ने भी विवेक से कार्य नहीं किया। अत: जिस प्रकार इन सभी के कार्य उचित नहीं हैं, उसी प्रकार हम और आप सभी के कार्य उचित नहीं हैं। यह सुनकर जो तत्त्वज्ञान रखते हैं उनको भी पसीना आए बिना नहीं रहता। इसी को बोलते हैं हृदयस्पर्शी वाणी। विवेकवान एवं विद्यावान को समयसार का एक शब्द भी कह दो तो भीतर हृदय तक पहुँच जाता है। तत्त्वज्ञान रखने वाला यदि समयसार को पढ़ लेता है तो उसे विषय कषायों से घृणा आए बिना नहीं रह सकती

है। तत्त्वज्ञान होने पर भी जिसको विषय-कषायों से घृणा नहीं होती तो समझो उसका कर्मोदय अतितीव्र है, क्योंकि जब कर्म का तीव्र उदय होता है तो उसे समयसार आदि ग्रन्थों के पढ़ने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होता। कर्मोदय की तीव्रता से उसकी बुद्धि विकृत हो जाती है। फलतः वह तत्त्वज्ञान से विमुख हो जाता है। उस समय उसे सब कुछ ज्ञात होने पर भी कुछ भी समझ में नहीं आता। जबकि तत्त्वज्ञानी तो ऐसा होता है कि एक बार भी सुन ले या पढ़ ले, तो भी पर्याप्त होता है। कहा भी है कि ''समझदारों को इशारा काफी होता है।''

आप लोग भी बोलते हैं न, कि दवाई पेटभर नहीं खायी जाती। पेट भर खा ली जायेगी तो वह औषधि नहीं रहती। वह खुराक बन जायेगी। उसके द्वारा कभी भी रोग का निवारण नहीं हो सकता। उसी प्रकार आचार्य महाराज कह रहे हैं कि-लगातार स्वाध्याय मात्र करते जाओ, घण्टों-घण्टों उपदेश देते चले जाओ। तभी जाकर अपने अन्तस् में ज्ञान की किरण फूटेगी, ऐसी धारणा उचित नहीं है। एक इशारे में ज्ञान की किरण फूटे और विषय कषाय छूटे, ऐसा प्रयास करना चाहिए।

आप लोग कैमरा लेकर आ जाते हैं। फोटो निकालना चाहते हैं। सामने भीड़ के हटते ही आप बटन दबा देते हैं। बटन दबा देने के बाद जब कभी फ्लैश नहीं चलता तो पुनः बटन दबा देते हैं। फिर फ्लैश आ जाता है। फोटो निकल आता है। ऐसा क्यों होता है? एक बार में चित्र नहीं उतरता तो दूसरी बार बटन दबा देते हैं। बटन के साथ कैमरे को ही दबा देते हैं। उसी प्रकार आप लोगों को सोचना चाहिए कि जब आपके कानों तक जिनवाणी की बात आ रही है, तो समझो एक बार बटन दबा दिया गया, फिर भी भीतर से ''**नो एडमीशन विदाउट परमीशन**'' वाली बात होती है क्योंकि सुनने वाला सोचता है कि अभी तो हम गृहस्थ अवस्था में हैं फिर कभी सुन लेंगे। हम तो दिन भर काम करते हैं अतः दिन में नहीं रात में सुन लेंगे। फिर रात में कैसे सुनेंगे ? दिन भर के श्रम से थकान होने के कारण ऊँघते-ऊँघते सुनेंगे। सुनते-सुनते सो जायेंगे। उसके उपरान्त फिर वही कथा, भोजन की कथा। इसमें कहो जिनवाणी माता के श्रवण की बात कैसे संभव है? कहने का मतलब यह है कि हम लोगों की परिणति ऐसी हो गई है, कि हम लोगों के ऊपर जिनवाणी का प्रभाव नहीं पड़ रहा है अतः जिनवाणी सुनने से भी कोई मतलब सिद्ध नहीं होता। भीतर से परिवर्तन लाने के लिए पुनः कैमरे का बटन दबाने की आवश्यकता होती है, तभी कार्य सिद्ध होता है।

एक ओर चिन्तामणिरत्न है तो दूसरी ओर काँच का टुकड़ा है। दोनों ध्यान के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं, लेकिन विवेकी का क्या कर्त्तव्य है? दोनों में से किसको चाहेगा ? किसका आदर करेगा? आचार्य कहते हैं- विवेकी तो हीरे का, रत्न का आदर करेगा। आत्मा हीरे के समान है, दिव्यमणि के समान है, वैसे आत्मा के लिए कोई उपमा नहीं दी जाती है क्योंकि आत्मतत्त्व अनुपम और अतुलनीय है। ऐसे आत्म-तत्त्व को प्राप्त करना चाहोगे तो निश्चित रूप से कल्याण होगा अन्यथा कल्याण नहीं हो सकता।

उत्थानिका—अब वह शिष्य, जिसे समझाये जाने से श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है, पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्य रूप से बतलाया है, वह कैसा है? उस आत्मा का क्या स्वरूप है? आचार्य कहते हैं–

स्वसंवेदन - सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

अन्वयार्थ— (आत्मा) यह आत्मा **(स्वसंवेदन-सुव्यक्तः)** आत्म-अनुभव द्वारा स्पष्ट प्रकट होता है/जाना जाता है **(तनुमात्रः)** शरीर के बराबर है **(निरत्ययः)** अविनाशी है **(अत्यन्तसौख्यवान्)** अनन्त सुख वाला है तथा **(लोकालोक- विलोकनः)** लोक और अलोक को जानने देखने वाला है।

अपने-अपने संवेदन में, अमूर्त हो आतम भाता,
रहा रहेगा त्रिकाल में है, अतः अनश्वर है भ्राता!
तात्कालिक तन प्रमाण होता, अनन्त सुख का निलय रहा,
लोकालोकालोकित करता, सदा लोक का उदय रहा ॥२१॥

This soul can be adequately known by self-contemplation and is of the size of its body, immortal, of an exceedingly blissful nature and the knower of Loka and Aloka !

Note - In this *sloka* the *acharya* has given a brief description of the soul as freed from the bondage of matter. It is, roughly speaking of the size, of its physical body and is indestructible, hence immortal. Knowledge and bliss appertain to it by nature, being but two of its divine attributes. It can be known adequately in self-contemplation, and when established in its natural purity, freed from the corrupting companionship of matter, it is the enjoyer of unbounded joy and the knower of the entirety of things, which consitute what is known as the Lokaloka (Loka= the universe of life and matter+aloka=the infinity of pure space lying beyond the Loka)

विवेचना—आचार्य महाराज आत्मा की जब-जब चर्चा करते हैं तब-तब सहज ही प्रश्न होता है कि आत्मा कहाँ पर है? देखने में कैसे आयेगी? क्या आँखों के द्वारा आत्मा देखने में आयेगी? नहीं, छूने पर भी आत्मा अनुभव में नहीं आती। चखने में भी नहीं आती, क्योंकि रसना इन्द्रिय का वह विषय नहीं है। सुनने में भी आत्मा नहीं आता, क्योंकि सुनने में तो शब्द आते हैं। शब्द आत्मा नहीं और आत्मा शब्दमय नहीं अतः आत्मा सुनने में भी नहीं आता। फिर किसके द्वारा

ग्रहण में आता है आत्मा ? हमारी समझ में नहीं आता ?

आचार्य महाराज कहते हैं कि आत्मा, इन्द्रिय और मन दोनों से ही समझ में नहीं आता। फिर भी आत्मा है या नहीं ? यह बताओ मुझे। आत्मा तो है, यह अनुभव होता ही है लेकिन कैसे बतायें? शब्दों से कह तो सकते हैं, लेकिन दिखा नहीं सकते। उस सत्य को आँखों से दिखा नहीं सकते। मात्र आस्था की आँखों से उसे देखा जा सकता है। वह आँखों से दिखने की वस्तु ही नहीं है।

अतः आचार्य कहते हैं कि "**स्वसंवेदनसुव्यक्तः**" अर्थात् आत्मा स्व (अपने) संवेदन में ही आ सकता है। संवेदन का अर्थ-वेदन करना अर्थात् अनुभव करना। सुख का भी वेदन होता है, दुःख का भी होता है और अपने आपका भी वेदन होता है। सुख-दुःख का वेदन करते समय आप यह अनुभव करते हैं कि मैं दुःखी हो गया, मैं सुखी हो गया, इस प्रकार 'मैं-मैं या हूँ-हूँ' के साथ वाक्य को पूरा करते हैं। 'मैं' और 'हूँ' यह स्वसंवेदन का प्रतीक है। उसके माध्यम से हम समझ सकते हैं कि शरीर में 'आत्म-तत्त्व' अवश्य है। जिसके अभाव में यह शरीर क्या कहलाता है? शव या मुर्दा कहलाता है। जिस प्रकार जब तक तिल में तेल है तब तक उसे तिल कहते हैं, तेल निकलने के बाद उसे खली कहते हैं। खल तो निःसार हो गया, उसमें कुछ सार तत्त्व नहीं रहा। उसी प्रकार इस तन से चेतन निकल जाता है तो आप इस तन को 'शव या मुर्दा' कहते हैं अर्थात् स्पष्ट है कि चेतन 'शिव' के समान है और तन 'शव' है। शव का स्पर्श होने से स्नान की आवश्यकता होती है। स्नान के बिना घर में प्रवेश नहीं कर सकते। जो श्मशान जाते हैं उनसे घर के लोग कहते हैं जाओ- पहले स्नान करो और हाथ से सूखे कपड़ों को छूना नहीं। तात्पर्य यह है कि शव की राख को छूकर आया है इसलिए स्नान करना आवश्यक हो गया। अब उसे राख कह रहे हो, वह तो हमारा भैया था। वे तो हमारे पिता जी थे। नहीं, नहीं अब तो पिता जी नहीं हैं, वह तो अब शव के रूप में है। कहने का मतलब यह है कि आत्मा निकल जाने के बाद वही शरीर अपूज्यनीय, अस्पर्शी बन जाता है। जब तक इसमें चेतनराम रहता है तब तक इसकी कीमत होती है।

हाँ तो विषय यह चल रहा था कि, शरीर अब शव बन गया। इसका अर्थ यह है कि इसमें पहले जब आया था तो यह आत्मा संवेदन में आ रहा था, जिसे नकारा नहीं जा सकता। भले ही उसे दिखाया न जा सके। देखा न जा सके। फिर भी सभी को अनुभव में तो आता ही है अतः यह आत्मा अनुभूत वस्तु है। उसके अभाव में किसी को सुख-शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। संवेदन करने वाला कौन है? इसका बोध भी नहीं हो सकता। सुख-दुःख का संवेदन प्रत्येक प्राणी को होता है, लेकिन इसका संवेदन करने वाला कौन है? इसको कोई नहीं जानता। इसलिए आचार्य कहते हैं कि स्वसंवेदन योग्य आत्म-तत्त्व है, जिसकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता इसलिए इसे पढ़ना चाहिए। आचार्य महाराज हमेशा कहते थे "बहुत नहीं बहुत बार पढ़ो।"

पढ़ने वाला कौन? सुनने वाला कौन? सुनकर चिन्तन करने वाला कौन ? आदि-आदि प्रश्नों

के समाधान में वह आत्म-तत्त्व ही प्रमुख होता है। उसके अभाव में शरीर में कोई क्रिया नहीं होती। न सुनने की, न बोलने की, न खाने-पीने की, न पढ़ने-पढ़ाने की। वह आँखों से देखने में नहीं आता। जो आँखों से देखने में आता है वह जड़ तत्त्व है। देखने वाला आँखों से देखता है, लेकिन आँखों से कभी दिखता नहीं। पाँचों इन्द्रियों से जो वस्तुओं को जानता है, देखता है, सूँघता है, चखता है, सुनता है, स्पर्श करता है, लेकिन स्वयं पाँचों इन्द्रियों का विषय नहीं बनता। आत्मा के पास जानने के बहुत सारे आयाम हैं, उन आयामों का करने वाला जो आत्म-तत्त्व है उसे पहचानो। जिसका अस्तित्व चिरकाल से था, है और आगे अनन्तकाल तक रहेगा। उसको जानना ही सही स्वाध्याय का फल माना जायेगा। इसी को पढ़ो ''एक बार नहीं, कई बार पढ़ो।'' कितना पढ़ा इसका परीक्षण करो, फिर प्रतिफल निकालो। वह मुझे भी बता देना कि प्रतिफल कितना आया।

जैसे क्लास में मास्टर विद्यार्थियों से पूछते हैं कि होमवर्क करके लाये हो या नहीं ? किया है तो ठीक, अन्यथा क्लास में प्रवेश नहीं करने देते। उस समय विद्यार्थी कहता है-आज क्लास में आने दीजिये। मुझे माफ कीजिये। कल से जरूर होमवर्क करके लायेंगे। उसी प्रकार यहाँ पर भी है एक वर्ष में तीन सौ पैंसठ दिन होते हैं। ऐसे कितने वर्ष हो गये साधना करते-करते फिर भी आत्मा देखने में नहीं आया। पाँचों इन्द्रियों से देखने-जानने का प्रयास आज तक विफल रहा। मन भी मोह से प्रभावित रहा, इसलिए मोही मन ने भी आज तक पंचेन्द्रिय के विषयों का ही सेवन किया। उन्हीं का स्मरण किया। उन्हीं की चिन्ता की। इसलिए मन भी आत्म-तत्त्व को जानने में सफल नहीं रहा। इन छहों के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा साधन है ही नहीं जिससे आत्मतत्त्व को जाना जा सके।

अनन्तकाल से भौतिकवाद की चकाचौंध में फँसा हुआ संसारी प्राणी आत्म-तत्त्व से वंचित है अतः वह कहता है कि दुनिया में आत्मतत्त्व नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, यदि होती तो आज तक उसकी जानकारी हो जाती। लेकिन ऐसा सोचना उचित नहीं है। उसे जानने का, उसके परिचय लेने का, उसे अनुभूत करने का आज तक प्रयास किया ही नहीं तो कैसे जानने-देखने में आता ? अतः हमने आज तक उसे नहीं जाना और देखा। इसलिए उसका अस्तित्व ही नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए।

आज सूक्ष्म तत्त्व का शोध हो रहा है। आज ऐसी-ऐसी सूक्ष्म चीजों की गवेषणा हो रही है, जो इन्द्रियों के द्वारा पकड़ में नहीं आती है। गणित, कम्प्यूटर, मशीन आदि से या अन्य मशीनों से खोज की जाती है। पश्चात् उनके प्रतिफल सामने आ जाते हैं। यदि आत्म-तत्त्व मशीनों से गवेषणा योग्य होता, तो निश्चित रूप से वह पकड़ में आ जाता। यहाँ तक कि मरणासन्न व्यक्ति के मरण को देखने का प्रयास किया गया। मरणासन्न व्यक्ति को काँच की पेटी के अन्दर रखा गया कि जब प्राण निकलेंगे या जब शरीर से आत्मा निकलकर जायेगी तो काँच में कहीं न कहीं तो दरार आयेगी! लेकिन आज वैज्ञानिक वस्तुतः जीवात्मक तत्त्व को नहीं पकड़ पाये हैं। काँच में थोड़ी कुछ दरार

आई भी तो उसका कारण उन्होंने सूक्ष्म भौतिक तत्त्व को बताया अर्थात् उनके विज्ञान ने भौतिक तत्त्व को ही स्वीकारा लेकिन चेतनात्मक जीव तत्त्व पकड़ में नहीं आया। अतः विज्ञान ने जीवतत्त्व को नकारने का प्रयास किया। जो दिखता नहीं तो उसे स्वीकार क्यों करें, ऐसी धारणा बनाना उचित नहीं है। इसलिए आचार्यों ने यहाँ हेतु दिया है कि आत्मा स्व-संवेदन द्वारा ही अच्छी तरह व्यक्त होता है। यदि आत्मा होश में आ जाये, ज्ञान में आ जाये तो आत्मा का संवेदन स्वयं आत्मा के द्वारा कर सकता है।

''मैं हूँ, मैं हूँ'' इन संवेदनों के माध्यम से हम आत्मतत्त्व को जान सकते हैं और उसके ऊपर विश्वास भी कर सकते हैं, क्योंकि आत्मतत्त्व दिखता नहीं है, अतः उस पर विश्वास करना भी कठिन है। और यह बात भी निश्चित है कि विश्वास उसी पर किया जाता है जो वस्तु देखने में नहीं आती है।

वस्तु यदि देखने में आ रही हो और पकड़ने में नहीं आ रही हो तो भी उसमें विश्वास करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह साक्षात् दिख रही है। परन्तु जो अनुभव में आ रही हो लेकिन देखने में नहीं आ रही है, तब विश्वास के बल पर अथवा बार-बार संवेदनाओं या अनुभवों के बल पर उसके अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है।

आचार्य कहते हैं कि यह आत्मा ''तनुमात्रः निरत्ययः'' अर्थात् शरीर प्रमाण है। जिसका जितना छोटा-बड़ा शरीर है आत्मा उतने ही बराबर फैलकर शरीर में रहता है। आत्मा के प्रदेशों का प्रभाव शरीर प्रमाण फैला रहता है। एक और विशेषता है इस आत्मा की, कि आज तक इसका जन्म नहीं हुआ इसलिए मर भी नहीं सकता क्योंकि जिसका जन्म होता है वही मरता है। जिसका आदि यानि प्रारम्भ हो या जन्म हो उसी का अन्त होता है। इस प्रकार की अनुभूतियाँ आप सभी को यहीं पर साक्षात् देखने को मिलती हैं। अतः जिसका जन्म नहीं, उसका मरण भी नहीं। तब उसकी सुरक्षा की या उसे सुरक्षित करने के प्रबन्ध की भी आवश्यकता नहीं है। लेकिन शरीर को आत्मा मानकर शरीर की सुरक्षा या प्रबन्ध को यह संसारी प्राणी हमेशा से करता आया है। इसके प्रबन्धन से ही अभिशाप सिद्ध हो रहा है। आत्मा जब मिटता भी नहीं, नया बनता भी नहीं, ज्यों का त्यों बना रहता है, फिर उसका प्रबन्ध किस काम का ? जो कि निरंतर किया जा रहा है।

अस्तित्ववादी को ही यह विश्वास हो सकता है कि जब मिटना ही नहीं है तो संरक्षण किसका ? आगे कहेंगे कि जब मेरा मरण ही नहीं है तो भीति किस बात की ? मरण की हमेशा भीति बनी रहती है। क्यों बनी रहती है? क्योंकि संसारी प्राणी शरीर के मरण को अपना मरण मानता है। उसे यह समझना आवश्यक है कि मर कौन रहा है? जन्म कौन ले रहा है? यह तो केवल शरीर का परिवर्तन होता है। इसमें एक तन का छूटना और दूसरे तन का प्राप्त करना होता है। इस तन का छूटना मरण है और दूसरे नवीन तन का प्राप्त करना जन्म है और कोई विशेष बात नहीं है। अतः

आत्मा को निरत्यय: कहा है अर्थात् यह आत्मा हमेशा अजर-अमर अविनाशी है।

वह आत्मा जब तक शरीर में रहता है तब तक शरीर प्रमाण बराबर फैलकर रहता है। जब शरीर से पूर्णरूपेण छूट जाता है अर्थात् निर्वाण को प्राप्त हो जाता है तो जिस शरीर से मुक्ति की प्राप्ति होती है उस अंतिम शरीर से कुछ कम प्रमाण होकर सिद्धालय में हमेशा-हमेशा के लिए विराजमान हो जाता है। यही इस जीव तत्त्व का स्वरूप है। ''पहले भी आत्मा शरीर में रहा, अभी भी रह रहा है इसलिए आगे भी हमेशा शरीर में ही रहेगा'' ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। यदि पुरुषार्थ किया जाता है तो वह जैसे दूध में से नवनीत पृथक् हो जाता है। उसी प्रकार आत्म पुरुषार्थ से शरीर से पृथक् हो सकता है। इस क्षेत्र में, जिसका विश्वास जिसकी आस्था मजबूत होती है वही सफल हो सकता है। वही इस क्षेत्र में अपने प्रयास को प्रारम्भ कर सकता है।

सच पूछा जाये तो यह बात निश्चित है कि जो व्यक्ति शरीर और आत्मा के पृथक्करण पर अकाट्य श्रद्धान रखता है, अन्य किसी सांसारिक प्रलोभनों से प्रभावित नहीं होता है, तो अल्प समय में ही उसका प्रयास सफल हो सकता है। और यदि समुचित साधन मिल जाते हैं तो अभी न सही, लेकिन आगामी सुयोग्य काल में वह पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त कर सकता है। आज पूर्ण रूप से उचित साधन उपलब्ध नहीं हैं अत: आज पूर्ण सफलता भी प्राप्त नहीं हो सकती।

सुनते हैं, कि कुछ ऐसे साधन आज उपलब्ध हैं जिनसे बहुत अल्पसमय में दूध से घी पृथक् हो जाता है। पहले मुझे विश्वास नहीं होता था कि इतने अल्प समय में घी कैसे बन सकता है लेकिन अब विश्वास होने लगा। कच्चे दूध से डॉयरेक्ट घी निकालते हैं यह अल्प समय वाली विधि है। दूसरी दूध को तपाकर मलाई को निकालकर फिर गरम मलाई से घी निकालना और तीसरी विधि है दूध को तपाकर दही जमाकर नवनीत निकालकर, फिर तपाकर नवनीत से घी निकालना। इनमें क्रमश: समय भी अधिक-अधिक लगता है और इनके स्वाद एवं गन्ध में भी अन्तर होता है। दूध से डॉयरेक्ट जो घी निकलता है उसमें घृत जैसी गन्ध ही नहीं आती। तपाये हुए दूध से या तपे हुए दूध को जमाकर दही से जो नवनीत और उससे घृत निकलता है, उसकी सुगन्ध दूर-दूर तक फैलती है। अल्प समय वाली विधि से निकला घी टिकाऊ नहीं होता। उसके रूप, रस, गन्ध में शीघ्रता से परिवर्तन आ जाता है अर्थात् घी की गन्ध आदि बिगड़ जाती है। लेकिन जो दूध को तपाकर घी निकलता है वह टिकाऊ होता है बहुत दिनों तक उसके रूप, रस, गन्ध आदि में परिवर्तन नहीं आता, सुगंधित बना रहता है, स्वादिष्ट भी रहता है।

जैसे दूध में घृत था। घी का अस्तित्व था। उसे पृथक् किया। उसी प्रकार जो आत्मा शरीर में रह रहा है उसमें भी परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। पुरुषार्थ-पूर्वक उस शक्ति को प्रकट किया जा सकता है। शरीर में रहते हुए भी आत्मतत्त्व शरीर से स्वतंत्र है। हमेशा अस्तित्वमय है, क्योंकि वह कभी भी मरता-मिटता नहीं और नया बनता भी नहीं। अत्यन्त सौख्यवान है। चूँकि

सुख उसका स्वभाव है अतः शरीर में रहते हुए भी वह सुख छिपा हुआ है। अर्थात् शरीर में रहते हुए भी वह सुखस्वरूप है।

आत्मा में संवेदन-शक्ति भी विद्यमान है, वह शक्ति भी व्यक्त होती है। जब आत्मा उपयोग में उपयोग को लगाता है, तो राख में छिपी हुई अग्नि जैसे राख हटाने पर व्यक्त हो जाती है वैसे ही कर्मों के आवरण हटने पर उपयोग की पूर्ण शक्ति अर्थात् केवलज्ञान के रूप में व्यक्त हो जाती है। शरीर में रहता हुआ यह आत्म-तत्त्व पूर्ण पुरुषार्थ नहीं कर पा रहा है अतः सुख प्राप्त करने की क्षमता होने पर भी तथा अत्यन्त सौख्यवान होने पर भी सुख की अनुभूति से वंचित है।

यह आत्मा ''लोकालोकविलोकनः'' लोक-अलोक को जानने-देखने की क्षमता वाला है अतः ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वाला माना जाता है। संसारी प्राणी भी देख-जान रहा है लेकिन सबको जानने-देखने की आकुलता करता है। दुनिया को जानने-देखने का प्रयास करता है। ''मैं सबको जानूँ'' इसी आकुलता के कारण संक्लेश परिणाम भी करता है। फलतः कषाय करता है, कषाय से बन्ध करता है। कर्म बन्ध होकर उदय आने पर पुनः वही ज्यों का त्यों पूरा का पूरा संसार बना रहता है। यदि आकुलता नहीं करे, समता भाव से अपने आपको जानने का प्रयास करे तो अन्तर्मुहूर्त मात्र में लोक-अलोक को जानने की क्षमता को व्यक्त कर सकता है। ऐसा पुरुषार्थमात्र मानवजीवन में ही किया जा सकता है।

वे सभी जीव महान् हैं, धन्य हैं, जो सारी की सारी झंझटों से दूर रहकर अपने शरीर से अपने को पृथक् करते हुए आत्म-तत्त्व में लीन रहने का पुरुषार्थ करते हैं, ऐसे जीव आसन्न भव्य माने जाते हैं। वे संसार से पार हो जाते हैं।

स्वामी गुणभद्र महाराज ने कहा है कि-जिसकी विषयों की ओर से रुचि समाप्त हो गई है किन्तु कषाय का अभाव नहीं हुआ है फिर भी उपशम भाव बना रहता है, संसार के प्रति भीरुता का भाव बना रहता है, प्राणी मात्र के प्रति करुणा-भाव रहता है तो समझ लो उसका संसार का तट निकट आ गया है। निकट भव्य के ये कुछ चिह्न हैं-विषयों में रुचि न होना, तत्त्व-चिन्ता की प्यास बनी रहना और आत्म-तत्त्व को देखने का उत्साह बना रहना। इन लक्षणों से हम अपना भविष्य जान सकते हैं। जैसे-ज्योतिषी के माध्यम से भविष्य जानकर विश्वास कर लेते हैं, उसी प्रकार जिनवाणी के वचनों पर इस बात का विश्वास कर लेना चाहिए कि यदि मेरे भीतर उक्त लक्षण आ गये तो समझो संसार तट निकट आ गया क्योंकि संसार-तट तो दिखने वाला नहीं है किन्तु उक्त लक्षणावली तो देखने में आ सकती है। इसी से अनुमान लगा लेना चाहिए। जैसे-जहाँ पर पक्षी मंडराते हैं तो अनुमान लगाया जाता है कि आस-पास कहीं सरोवर होना चाहिए। उसी प्रकार यह भी जानने का प्रयास कर लेना चाहिए कि विषय-कषाय, भोग इत्यादि के प्रति उदासीनता अथवा उपशम के भाव आ रहे हैं, संसार के प्रति भीरुता आ रही है, कषायों को छोड़ने का आत्म-पुरुषार्थ

किया जा रहा है और आत्म-तत्त्व को जानने के प्रति उत्साह जागृत हो रहा है तो समझ लेना चाहिए कि उसका संसार तट निकट आ रहा है।

ऐसे जीवात्मा को जो लोक-अलोक को जानने की क्षमता वाला है ''लोकालोकविलोकनः'' इस सूत्र के माध्यम से सिद्ध किया है। जो आत्मा को तृणमात्र भी नहीं मानते अर्थात् उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, अजर-अमर नहीं मानते, स्वसंवेदन युक्त है ऐसा नहीं मानते हैं, बल्कि वह मात्र भौतिक तत्त्व है, ऐसा मानते हैं, सुख का बल आत्मा में नहीं है, ऐसा भी मानते हैं। अतः आत्मा का स्वभाव लोक-अलोक को जानने का है, ऐसा विश्वास कर लेना चाहिए। यदि इस प्रकार का विश्वास हो जाता है तो फिर क्या-क्या साधना करना चाहिए ? आगे उसे बतलाते हैं।

उत्थानिका—यहाँ पर शिष्य कहता है, कि यदि इस तरह का आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिए ? इस विषय में आचार्य कहते हैं–

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

अन्वयार्थ– **(आत्मवान्)** आत्मा **(करणग्रामं)** इन्द्रिय समूह को **(संयम्य)** संयमित कर [पंचेन्द्रिय के विषयों से रोककर] **(चेतसः)** चित्त की **(एकाग्रत्वेन)** एकाग्रता से **(आत्मनि)** अपनी आत्मा में **(स्थितम्)** स्थित होकर **(आत्मानं)** अपने आत्मा को **(आत्मना एव)** अपने आत्मा द्वारा ही **(ध्यायेत्)** ध्यावे।

चपल-स्वभावी सभी इन्द्रियाँ, इनको संयत प्रथम करो,
मनोयोग से मनमाना मन, को भी मंत्रित तुरत करो।
अपने में स्थित हो अपने को, अपनेपन से आप तथा,
ध्याओ अपने आप भला फिर, ताप मिटे संताप व्यथा ॥२२॥

Controlling his senses, with concentrated mind, the knower of the Self should contemplate the self, seated in his own Self, through the Self !

Note - The contemplation of the divinity of the self, that is the soul, is only possible through the soul itself, by turning attention inwards. Now, because the self is seated inwards and the objects of the senses which attract and enthral the mind lie outwards the withdrawal of the mind from the outside, that is to say the controlling of the lustful cravings of the lower nature, is an absolute necessity for the realisation of the glory appertaining to Life. For one cannot serve two masters at one time. The Self and the world are antagonistic in nature. The dominance of the latter means the

mancipation and distress of the former. Hence, the wise banish the world completely from their thoughts and attend with one-pointed mind to the glorious Divinity of the Self, seated inside.

विवेचना—आत्मतत्त्व है, जब ऐसा विश्वास हो चुका और मैं सुख प्राप्त कर सकता हूँ, मैं अजर-अमर बन सकता हूँ तो फिर क्या करना चाहिए ? इस शंका का समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि ''**संयम्य करणग्रामं**'' सर्वप्रथम अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को संयमित बनाना आवश्यक है। इन्द्रियों को संयमित करने का अर्थ यह नहीं है कि इन बाहर की आँखों को बन्द कर लो, नाक भौं सिकोड़ लो, मुख बन्द कर लो, कान में अंगुलियाँ डाल लो, किन्तु इन्द्रियों के माध्यम से जो इन्द्रिय-विषयों को प्राप्त करने की इच्छायें हैं, उन इच्छाओं को नियंत्रित करने का अर्थ संयम है। इसी का नाम साधना है। इस साधना के बिना आज तक कोई भी आत्मतत्त्व को न पा सका है और न पा सकेगा।

भर्तृहरि को सम्बोधित करते हुए आचार्य शुभचन्द्र स्वामी जी ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहा है कि जो व्यक्ति इस प्रकार इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता, मन को एकाग्र नहीं कर सकता मात्र आत्म-ध्यान की बात करता है, कहता है कि मुझे आत्मा झलक रहा है वह व्यक्ति एक प्रकार से अपने आपको अपने ही सोच के द्वारा ठग रहा है। (४/१७) बिना संयम के आत्मानुभूति का प्रयास करना वैसे ही असंभव है, जैसे-कोई व्यक्ति पहाड़ को तोड़ने के लिए अपने सिर का प्रयोग करता है अपने बल का प्रयोग करता है। आप स्वयं सोचिये कि पहाड़ टूटेगा या सिर! क्या टूटेगा ? सिर टूटेगा। उसी प्रकार ध्यान रखना कि जो व्यक्ति मात्र बाह्य साधना करके, उपरिल साधना करके आत्म-ध्यान करने का बहाना करे समझो वह अपने आपको धोखा दे रहा है।

अरे! इन्द्रियों को संयत बनाओ। इसके उपरान्त आचार्य कहते हैं ''एकाग्रत्वेन चेतसः'' चित्त को भी एकाग्र करो क्योंकि जब तक इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने की लालसा नहीं घटेगी, ख्याति, लाभ, पूजा का भाव नहीं छूटेगा, तब तक मन अन्यत्र बाहर से भीतर आ ही नहीं सकता। मन बाहर कहीं भी जा रहा हो और अन्दर आत्म-ध्यान की बात भी चल रही हो यह तीन काल में संभव नहीं।

आप लोग कहते हैं कि महाराज! ऐसा कोई मंत्र दे दो, ऐसा कोई साधन बता दो ताकि हमारा चंचल मन स्थिर हो सके। मैं आप लोगों से कहना चाहता हूँ कि मुझे ये बताओ, आपका मन कहाँ चला जाता है? कहाँ-कहाँ दूर-दूर तक भटकता रहता है? आप जहाँ जाना नहीं चाहते वहाँ आपका मन क्यों चला जाता है? क्यों भटकता रहता है? महाराज इसका जबाव हम नहीं दे सकते। आश्चर्य होता है सुनकर कि तुम्हारे मन की बात तुम्हें ही नहीं पता, तो हम कैसे बतायें! पहले आप मुझे बताओ जैसे-वैद्य जी पूछते हैं कि सिर में दर्द हो रहा है तो क्यों ? क्या खाया था ? कुछ भी नहीं

खाया! कुछ नहीं खाया तो सिर में दर्द क्यों हो गया ? कारण तो होना चाहिए, बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता।

इसी प्रकार मैं आपसे पूछता हूँ कि आपका ही मन कहीं पर क्यों जा रहा है, दूसरे का क्यों नहीं जा रहा ? आप कह सकते हैं कि यह तो स्वभाव है। और स्वभाव को कोई मिटा नहीं सकता। तो फिर मैं भी मंत्र नहीं दे सकता, क्योंकि स्वभाव तो मंत्र से भी समाप्त नहीं हो सकता। नहीं-नहीं, महाराज! आप भी तो बैठे हैं, आपका मन तो स्थिर रहता है, वह कैसे स्थिर रहता है? सही है, चलो कम से कम इतना दिमाग तो चलाया आपने कि मन का चंचल होना अगर मेरा स्वभाव है तो आपका स्थिर कैसे रहता है? बस, यही पूछना बड़ा आवश्यक था, पूछ लिया बहुत अच्छा, धन्यवाद।

सुनिये, तुम्हें जब तक जिस कार्य में रस आयेगा तब तक तुम्हारा मन वहाँ पर जायेगा। चाहे कितना भी प्रयास कर लो। जैसे-बेटे से माँ कहती है कि यह चीज खा लो, बेटा! तो वह नहीं खायेगा, क्योंकि उसका खाने का मन नहीं है। अच्छी चीज है तो भी नहीं खायेगा। लेकिन उसे जो अच्छी लगती है भले ही माँ की दृष्टि में अच्छी न हो फिर भी खा लेगा। उसकी रुचि के अनुरूप देंगे तो खा लेगा। इसी प्रकार अगर आपकी अभिरुचि इन्द्रिय विषयों की ओर है तो उन्हीं को ग्रहण करने में मन लगेगा। इस परिस्थिति में अगर कोई मन्त्र के माध्यम से ध्यान का रास्ता खोजना चाहोगे तो यह संभव नहीं है। मन को विषयों की ओर से हटाओगे तो ही मन एकाग्र हो सकता है और आत्म-ध्यान की भूमिका भी बन सकती है। भगवान् भी अपनी शक्ति लगायें तो भी तुम्हारे मन को एक अंश भी इधर का उधर नहीं कर सकते। वैसे भगवान् अपनी शक्ति का प्रयोग करते नहीं हैं, फिर दूसरा आपके मन को एकाग्र कैसे कर सकता है? आप स्वयं चाहोगे तो ही एकाग्र कर सकते हो, यह बताने के लिए ऐसा कथन किया है कि दूसरा कोई तो क्या भगवान् भी कुछ नहीं कर सकते। एक अंश का कोण जानते हो कितना होता है? ३६० अंश होते हैं, उसका एक भाग अर्थात् भगवान् भी प्रयास करें तो भी आपका थोड़ा-सा भी उपादान नहीं बदल सकते, क्योंकि आपको उसी में रस आ रहा है, इसलिए तो मन जहाँ पर रुचि वाला होता है वही बार-बार जाता है। अपने आप मन कहीं नहीं जाता, किन्तु मन में जिस विषय के प्रति रुचि होती है वहीं-वहीं अपने आप जाता है।

मन क्या है? वस्तुतः मन ज्ञान की ही परिणति है। आपको जिस वस्तु के प्रति यह विश्वास होता है कि यह आनन्ददायी है तभी मन वहाँ पर जाता है किन्तु जब वहाँ से विश्वास हट जाता है, तो मन वहाँ पर जाना बन्द कर देता है, क्योंकि वहाँ जाने पर फिर उसे कोई आनन्द नहीं आता। सारे के सारे लोग ध्यान से भोजन कर रहे हैं, ध्यान से सुन रहे हैं, ध्यान से ही गा रहे हैं, ध्यान से ही जा रहे हैं, ध्यान से ही आ रहे हैं, ध्यान के बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा रहा। इसलिए संसार में ध्यान सीखो नहीं, सिखाओ नहीं वरन् यह सीखा हुआ ध्यान छोड़ दो। यह किसने सिखाया ?

सिखाया तो किसी ने नहीं, बल्कि अनन्तकाल से सीख करके ही आया था। आज लड़का जन्म लेता है और अपनी चेष्टा से माँ को कहता है अम्मा! मुझे भोजन दे दो, रोता है। क्यों रोता है? वह रोने की क्रिया से यह संकेत करता है कि मुझे खाना दे दो। जन्म लेते ही भोजन मांगना या भोजन करना किसने सिखाया। पूर्वभवों से खाता ही आया है, अतः खाने की क्रिया को क्या सिखाना या खाने को क्या सीखना ? वह तो जन्मतः सीखा हुआ ही है।

जैसे वह बालक खाने से संस्कारित है उसी प्रकार ध्यान से भी संस्कारित है। ध्यान तो हमेशा होता ही रहता है, इन्द्रियों के विषयों में आनन्द भी आता ही रहता है, लेकिन जिस दिन से विषयों में सुख नहीं है ऐसा विश्वास जागृत हो जायेगा तो उस दिन से विषयों की ओर से मन का हटना भी प्रारम्भ हो जायेगा और आर्त-रौद्र ध्यान भी कम होना प्रारम्भ हो जायेगा।

पञ्चेन्द्रियों के विषयों से जो अपने आपको संयत बना लेता है वह अपने आप एकाग्र हो जाता है। पूर्ण रूप से एकाग्र तो नहीं हो पाता परन्तु जब कभी चाहे तभी एकाग्र होने में देर नहीं लगती। फिर उस एकाग्रता से आत्म-चिन्तन प्रारम्भ करने में भी व्यवधान नहीं आता। एकाग्रता का अर्थ है एक वस्तु पर अग्र होना अर्थात् एक वस्तु को प्रधान करके उपयोग को स्थिर करना। आप तो पञ्चेन्द्रिय के विषयों पर टिकना चाहते हैं, तो आत्मा पर उपयोग कैसे टिकेगा। मन नहीं टिकेगा तो रस भी नहीं आयेगा क्योंकि उस समय अन्यत्र से रस मिल रहा है। अगर मैं पूछूँ कि कौन-सा रस चाहिए ? तो आप कहेंगे कि-महाराज! हमें तो आत्म-ध्यान रूपी रस चाहिए। लेकिन ध्यान रखो, यदि आपको विषयों के प्रति रुचि है और आप आत्म-चिन्तन का रस चाहते हैं तो यह संभव नहीं हो सकता। जैसे भोजन के समय यदि आपका मन मोबाइल के समाचार में लगा है तो उस समय मीठे-मीठे रसगुल्ले का भी रसास्वाद नहीं आ सकता। वैसे ही आत्म-चिन्तन के समय यदि मन बाह्य इन्द्रिय विषयों की ओर जायेगा तो आत्मानुभूति का रसास्वाद नहीं आ सकता।

बहुत कम लोग यह बात जान पाते हैं या महसूस कर पाते हैं कि हमारी आत्म-तत्त्व के प्रति कितने प्रतिशत रुचि है? और रुचि के अनुरूप कितने प्रतिशत हमारा पुरुषार्थ चल रहा है? हम एकाग्रता लाने का कितना प्रयास कर पा रहे हैं? कर भी पा रहे हैं या नहीं ? आप ही विचार कीजिए कि यदि इस प्रकार का प्रयास चालू नहीं है तो उपलब्धि कैसे होगी। अतः हमें हमेशा यही प्रयास करना चाहिए कि जिन वस्तुओं में सुख है, शान्ति है उसका ही अनुभव करें और जिन साधनों से सुख-शान्ति का अनुभव कर सकें, उन साधनों को ही अपनायें। अन्यथा कभी भी आत्म-तत्त्व अनुभव में नहीं आ सकता।

योगियों ने, सन्तों ने, ऋषियों ने जिस आत्म-तत्त्व का अनुभव किया है उसी को ग्रन्थों में लिखा है। ग्रन्थों को पढ़कर आपके मन में यह जिज्ञासा होती है कि हम भी आत्म-तत्त्व को देखना-जानना चाहते हैं तो वे आचार्य सन्त हमें उसके बारे में बतलाते हैं, उसकी अनुभूति के साधनों का

ज्ञान कराते हैं। वस्तुतः ऋषियों के द्वारा निर्देशित साधनों को हम क्यों नहीं अपना पाते ? क्योंकि हम बोलते ज्यादा हैं, कहते ज्यादा हैं, चाहते बहुत कम हैं। अपनी इस मनोवृत्ति को मंजूर करना भी कठिन होता है। कहते-कहते भी हमारा उपादान इसको स्वीकार नहीं कर पाता है। मन बहुत चंचल है इसलिए इसको चंचल विषयों में ही आनन्द आ रहा है। जिसको हमेशा विषयों में रस आता है वह कितना भी प्रयास करे उसे आत्म-तत्त्व का अनुभव नहीं हो सकता।

विश्वास की बात है, जब लक्ष्य निश्चित हो जाता है कि पञ्चेन्द्रियों के विषयों में सुख नहीं है तो निश्चित रूप से उसका मन पञ्चेन्द्रियों के विषयों की ओर नहीं जा सकता। सामान्यतः ये आँखें कहीं नहीं जातीं। लेकिन मन जल्दी-जल्दी यहाँ-वहाँ चला जाता है। यदि मन नियंत्रित हो जाये तो संसार की कितनी भी वस्तुयें लाकर रख दो तो भी वह उसको देखेगा भी नहीं। यदि देखता भी है तो कैसे ? "**पश्यन्नपि न पश्यति**" देखता हुआ भी नहीं देखता, इसी प्रकार "**खादन्नपि न खादति**" खाते हुए भी नहीं खाता, "**गच्छन्नपि न गच्छति**" जाते हुए भी नहीं जाता "**ब्रुवन्नपि न ब्रूते**" बोलते हुए भी नहीं बोलता। यह सब मोक्ष-पुरुषार्थ स्वरूप मन की एकाग्रता है। इसके अलावा मोक्ष पुरुषार्थ और कोई चीज नहीं है।

प्रयोग का प्रभाव ऐसा होता है कि बरसों की दशा एक दिन में अथवा साधना के एक बार के प्रयोग में भी परिवर्तित हो सकती है, लेकिन पूर्व के विषयों का अभ्यास होने के कारण बार-बार भी प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। यह अभ्यास एकदम दूर नहीं किया जा सकता। जैसे कि-दीवाल में चूना पोतते हैं, यदि बरसात में पोतते हैं तो वर्षा के कारण चूने के साथ-साथ दीवाल भी धुल जाती है। पानी के कारण दीवाल पर कई (काई) जम जाती है, तो फिर उस दीवाल पर एक बार चूना पोतने से सफेदी आती है क्या ? कितने हाथ लगाना पड़ते हैं। पहले दीवार में जो काई की खाई है उसे निकाला जाता है, फिर चूना पोता जाता है, फिर दूसरी तीसरी बार भी पोता जाता है, तब सही सफेदी आती है और दीवाल साफ हो जाती है। कोई-कोई लोग जिनकी गुंजाइश नहीं होती वे एक बार ही चूना लगाकर छोड़ देते हैं, तो दूसरे ही दिन दीवाल भद्दी सी लगने लगती है। इसी प्रकार एक बार प्रयोग करके देखो कि हम ठीक हो गये, साफ सुथरे हो गये क्या! नहीं। बार-बार प्रयोग करो, तब कहीं जाकर के मन संस्कारित होता है और पुराने संस्कारों की काई धुलकर साफ हो जाती है।

आप प्रयोग कीजिये, लेकिन प्रयोग के समय इधर-उधर मत देखिए। वह कैसे कर रहा है, यह कैसे कर रहा है? यह मत देखो, लेकिन मैं कैसे कर रहा हूँ, पहले इस पर ध्यान दो। एक ही दिन में अवश्य अन्तर आयेगा, लेकिन प्रयोग सही-सही होना चाहिए। उसने विश्वास जगाया था, तभी दवाई दी गई। दवाई खाना मेरा कर्तव्य है ऐसा विश्वास जागा, तब दवाई दी गई। इसी प्रकार इन्द्रिय-विषयों के प्रति यदि मन राग-द्वेष नहीं करता तो समझो वह मन पर सही-सही प्रयोग कर

रहा है और मन की चंचलता को कम करके मन को स्थिर करने का प्रयास कर रहा है। बाद में उसे कितने भी विषयों के ढेर के बीच में रखो तो भी मन विचलित नहीं होगा। नियंत्रित, संकल्पित मन से यदि कोई व्रत, उपवास आदि करता है तो उसे घर में भी मंदिर की बात याद आती है। और यदि कोई विचलित मन से देखा-देखी में व्रत-उपवास करता है तो मंदिर में भी घर की बात याद आती है।

जिसका मन विश्वस्त होता है, उसके सामने कितना कुछ भी कहो अथवा करो लेकिन उसका मन विचलित नहीं होता। जैसे-रेवती से कहा कि-पच्चीसवें तीर्थंकर आये हैं, उनका समवशरण लगा है, चलो दर्शन के लिए। तब वह कहती है, कौन से पच्चीसवें तीर्थंकर? तीर्थंकर तो चौबीस ही होते हैं। इस समय चौबीसों तीर्थंकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं। अब कोई तीर्थंकर अवतरित हो ही नहीं सकते फिर कहाँ से आ गये पच्चीसवें तीर्थंकर? यदि आये हैं तो वे तीर्थंकर नहीं हो सकते, भगवान् नहीं हो सकते। आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने आठ अंगों में से चौथे अमूढ़दृष्टि अंग में रेवती का नाम लिया है-''**तुरीये रेवती मता**'' (र० क० श्रा० १९)। चौथे अंग में उसको नियुक्त कर दिया। रेवती के समान बल, विश्वास और दृढ़ता आवश्यक है तब कहीं जाकर मोक्षमार्ग बनता है। कहा भी है-खरबूजे के रंग को देखकर खरबूजे का रंग बदलता है लेकिन यह एकान्त नहीं है। ऊपर-ऊपर भले ही बदल जाये। सोना, सोना होता है पारे के योग से भले ही वह ऊपर-ऊपर सफेद हो जाये तो भी भीतर से सफेद नहीं होता, उसकी क्षमता कम नहीं होती। पूरा थोड़े ही बदलता है। पूरा बदल जाये तो पारा-पारा ही दिखने लग जाये। अनुपात से ही बदलता है। अतः सामने वाले का प्रभाव हमारे ऊपर पूरा पड़े, यह एकान्त नियम नहीं है।

आत्मा के द्वारा, आत्मा में, आत्मा को, आत्मा देखता है वही निश्चित रूप से साध्यभूत वस्तु को प्राप्त कर सकता है, यही एक मात्र रास्ता है। चाहे आप आज करिये। चाहे कल, चाहे परसों करिये किसी भी समय कीजिए आपको यदि आत्म-तत्त्व प्राप्त करना है तो निश्चित रूप से यही कार्य करना होगा। जब करोगे तभी उसका फल भी अनुभूत होगा। बिना किये अनुभव संभव नहीं। कैसे करें ? ऐसी जिज्ञासा यदि आपके मन में है तो जो कर रहे हैं उनके पास रहिये, आपको ज्ञात हो जायेगा।

उत्थानिका—यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! आत्मा से अथवा आत्मा की उपासना करने से क्या मतलब सधेगा ? क्या फल मिलेगा ? क्योंकि 'विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है', इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य उत्तर देते हैं-

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

अन्वयार्थ— (अज्ञानोपास्तिः) अज्ञानी की उपासना/सेवा **(अज्ञानं)** अज्ञान को **(ददाति)**

देती है **(ज्ञानिसमाश्रयः)** ज्ञानियों की उपासना/सेवा **(ज्ञानं)** ज्ञान को, **(तु)** क्योंकि **(इदम् वचः)** यह बात **(सुप्रसिद्धम्)** अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि **(यस्य)** जिसके पास **(यत् अस्ति)** जो होता है, [उसी को वह] **(ददाति)** देता है।

अज्ञानी की शरण-गहो तो, सुनो तुम्हें अज्ञान मिले,
ज्ञानी-जन की उपासना से, ज्ञान मिले वरदान फले।
जिसका स्वामी जो होता है, प्रदान उसको करता है,
लोक नीति यह सुनी सभी ने, प्रमाण विरला करता है ॥२३॥

Devotion to ignorance bestows ignorance, and devotion to *Gnana* (self-knowledge) bestows knowledge: for it is well established that a thing can grant only that of which it is possessed.

Note - False beliefs and wrong convictions can never lead to true knowledge; for you cannot get what is not contained in the nature of a thing, e.g. blood out of stones. But he who seeks knowledge is sure to be rewarded by enlightenment; for the law is that he who seeks shall find, he who asks shall get what he asks for and he who knocks shall be admitted into light, provided only the seeking, the asking and the knocking is sincere and persistent and in harmony with the nature of things.

विवेचना—जिसको आत्म-तत्त्व का ज्ञान नहीं है अथवा जिनके पास जड़त्व का ज्ञान नहीं है तो वह अज्ञानी है। उसकी उपासना करने से जो उसके पास होगा वही देगा, अर्थात् अज्ञानी की उपासना करने से अज्ञान प्राप्त होगा। जिसके पास ज्ञान है तो उसकी उपासना करने से ज्ञान प्राप्त होगा। "**ददाति यत्तु यस्यास्ति**" जिसके पास जो होता है वही देता है। जिसकी जिस रूप में उपासना करेंगे उसको उसी रूप में फल मिलेगा। हम यदि शरीर की उपासना करेंगे तो हमें ज्ञान नहीं मिलेगा किन्तु इन्द्रियाँ मिलेंगी, शरीर मिलेगा, विषय-भोग मिलेंगे, एक गति से दूसरी गति में गमन रूप फल मिलेगा।

भगवान् के दर्शन करने से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, यह कथन आगम में आता है, लेकिन सभी को सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो ही जाये, यह एकान्त नहीं है, क्योंकि भगवान् के साक्षात् दर्शन करने के बाद भी यदि हमारी आस्था में, हमारी दृष्टि में भगवान् नहीं आये तो सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होगा ? भगवान् का स्वरूप क्या है? भगवान् कौन कहलाते हैं? भगवान् कैसे होते हैं? यह बात ज्ञान में, दृष्टि में आना चाहिए। साथ ही भगवान् राग-द्वेष आदि अठारह दोषों से रहित होते हैं। वीतराग मुद्रा में भगवान् की प्रतिमा होती है आदि ज्ञान होना आवश्यक है। भगवान् का स्वरूप ख्याल में

नहीं आया तो, भगवान् का दर्शन सम्यग्दर्शन में कारण नहीं होता। अत: भगवान् का दर्शन एकान्त से सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर ही दे, ऐसा तो नहीं है। परन्तु इतना अवश्य है कि भगवान् के सच्चे स्वरूप के साथ भगवान् का दर्शन हमारे ज्ञान की परिणति में सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने में निमित्त अवश्य ही होता है। यही दर्शन सच्चा देव-दर्शन कहलाता हैं।

जैसे रागमय चित्र देखते हैं तो राग की भावना अवश्य आ जाती है। प्रत्येक को राग-भाव आये यह नियम नहीं है, लेकिन राग की भावना आने मे ंवह निमित्त बनता है। चित्र को देखने से विचित्र भाव उत्पन्न होते हैं। निमित्त को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव होते हैं। ज्ञानी की उपासना करने से ज्ञान का लाभ होता है और अज्ञानी की उपासना करने से अज्ञान का लाभ होता है। अत: जिसकी उपासना करने से हमारा मन विषय-कषायों से बच सकता हो उसकी उपासना कर लेना चाहिए।

जिसको जिस रूप में अंगीकार कराया उसको उसी रूप में अंगीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि भिन्न-भिन्न पदार्थों के निमित्त से भिन्न-भिन्न नैमित्तिक विचार होते हैं। डॉक्टर के द्वारा रोग दूर हो जाता है यह भी एक प्रकार से औपचारिक कथन है। यदि डॉ॰ के द्वारा रोग ठीक होता है तो सबका रोग ठीक होना चाहिए। डॉ॰ को देखने मात्र से रोग ठीक होना चाहिए। औषधि लेने की क्या आवश्यकता है? लेकिन ऐसा नहीं होता। औषधि लेना आवश्यक होता है। डॉ॰ की सलाह से ही औषध लेना होती है, तब कहीं जाकर रोग ठीक हो सकता है। ठीक हो ही जाये यह नियम नहीं है। फिर भी औषधि सेवन से जिसका रोग ठीक होता है तो यही कहा जाता है कि डॉ॰ ने रोग ठीक किया। लेकिन औषधि-सेवन करने के बाद भी जिसका रोग ठीक नहीं होता तब फिर लोग क्या कहते हैं- सुनो, औषधि भी ठीक नहीं, डॉ॰ भी ठीक नहीं। औषधि ने भी रोग ठीक नहीं किया। डॉ॰ ने भी रोग ठीक नहीं किया। क्या करें, हमारा रोग ही ऐसे किस्म का है जो ठीक नहीं हो पाता। इसमें दोनों का कोई अपराध नहीं हो सकता है। या फिर दवाई जिस समय लेना थी उस समय नहीं ली जैसे लेना थी वैसे नहीं ली। कुछ न कुछ अपनी गड़बड़ी रह जाती है, इसलिए रोग ठीक नहीं होता।

एक सौ सात डिग्री बुखार में यदि कोई रामबाण वाली दवाई भी दी जाये तो भी बुखार ठीक नहीं होगा क्योंकि पहले बुखार को कम करना आवश्यक होता है। जब १०२-१०३ डिग्री बुखार रह जाये तब ही दवाई काम कर पायेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के अनुरूप कार्य कर लेना चाहिए। विश्वास के साथ औषधि सेवन होना भी आवश्यक है।

निमित्त की बात है तो देव, गुरु, शास्त्र हमें शरण हैं। उनकी उपासना करने से रत्नत्रय का लाभ होता है। अत: श्रद्धा/विश्वास के साथ उपासना करना चाहिए। यही यहाँ एकमात्र प्रासंगिक विषय है। ज्ञानी की उपासना से ज्ञान मिलता है। अज्ञानी की उपासना से अज्ञान मिलता है।

निमित्तगत वस्तु को यदि कोई ऐसा कह दे कि यह जिनेन्द्र भगवान् का बिम्ब तो पाषाण का है, इसमें क्या रक्खा है? तो शास्त्र भी तो निमित्त मात्र है, शास्त्र में भी क्या रक्खा है? क्योंकि शास्त्र भी तो जड़ है यदि इन सबसे कुछ नहीं होता तो फिर इनसे जो लाभ हो रहा है वह नहीं होना चाहिए था ? जबकि लाभ होता हुआ देखा जाता है। जिस प्रकार शास्त्र के माध्यम से हमें लाभ होता है उसी प्रकार साक्षात् विराजमान १००८ श्री जिनेन्द्र भगवान् के माध्यम से भी लाभ होता है। जैसे चित्र को देखने से हमारे मन में तत्सम्बन्धी विचार आते हैं, वैसे ही भगवान् का बिम्ब देखने से हमारे मन में तत्सम्बन्धी वीतरागमय विचार आते हैं। यह बहुत बड़ा लाभ होता है। लेकिन इन सबके लाभ में रुचि का विशेष महत्त्व होता है। यदि हमारे मन में रुचि है तो जहाँ पर हम मन लगाना चाहें वहीं पर मन लग सकता है, अन्यत्र नहीं।

रोगी व्यक्ति यदि अपनी रुचि रखेगा, दवाई में विश्वास नहीं रखेगा तो दवाई काम नहीं करेगी। साथ ही रोगी यदि अनुपात के अनुसार दवाई लेता है तो वह निश्चित रूप से विकार को निकाल सकती है। उसी प्रकार यहाँ धार्मिक क्षेत्र की बात है कि ज्ञानी की उपासना करने से और ज्ञानी की उपासना पर विश्वास करने से हमें ज्ञान का लाभ होता है तथा अज्ञान का विकार भी निकल जाता है। उसी ज्ञान के माध्यम से कर्म पृथक् होते हैं। मार्ग प्रशस्त होता है, क्योंकि यह सब हमारे विश्वास और रुचि पर ही आधारित होता है।

''ददाति यत्तु यस्यास्ति'' जिसके पास जो है वह व्यक्ति सामने वालों को वही देता है। अन्य दूसरी वस्तु नहीं देता। जैसे गुलाब का फूल है तो उसके पास सुगन्ध होने से सुगन्ध का दान करता है और मिट्टी के तेल के पास जैसी गन्ध है वह उसी को देता है। आप मिट्टी के तेल के पास गुलाब की सुगन्ध चाहो और गुलाब के पास मिट्टी के तेल की गन्ध चाहो या अन्य कोई और गन्ध चाहो तो संभव नहीं है क्योंकि जिसके पास जो है वही दे सकता है।

एकलव्य, जिसने द्रोणाचार्य की प्रतिमा बनाकर धनुर्विद्या सीखी। अर्जुन ने द्रोणाचार्य के द्वारा साक्षात् विद्या प्राप्त की और वह धनुर्विद्या में निष्णात हो गया। यह एकलव्य की एकाग्रता की बात थी। हमें भी यदि सम्यक् विद्या प्राप्त करना है तो एकलव्य जैसी एकाग्रता की आवश्यकता होगी। यदि कोई यह कहे कि एकलव्य की एकाग्रता द्रोणाचार्य के निमित्त से आई। आज यहाँ पर ऐसे द्रोणाचार्य ही नहीं हैं। आचार्य कहते हैं–कैसे नहीं हैं? हम उनको स्थापित कर लें मूर्ति में, जैसे एकलव्य ने भी स्थापित किया था। इसी प्रकार कोई कहे कि यहाँ पर महावीर भगवान् नहीं हैं, कैसे नहीं हैं? आस्था हो, निष्ठा हो, विश्वास हो, श्रद्धा हो, भक्ति हो तो भक्त के सामने आज भी भगवान हैं।

महावीर भगवान् को मूर्ति में स्थापित किया है, इसलिए यदि यह कहोगे कि ये तो वे भगवान् महावीर नहीं हैं, जो समवसरण में साक्षात् थे। क्या समवसरण में विराजमान साक्षात् महावीर

भगवान् किसी के हाथ में सम्यग्दर्शन पकड़ाते थे ? या पार्सल जन्मतः करते थे ? मनीआर्डर के द्वारा सम्यग्दर्शन को भेजते थे क्या ? नहीं, यह सब तो वे साक्षात् भगवान् भी नहीं करते थे। हाँ, इतना अवश्य है कि वे उपदेश देते थे। आज भले ही मूर्ति में स्थापित भगवान् उपदेश नहीं देते लेकिन फिर भी यह हमारा सौभाग्य है कि उनकी देशना जो शब्दों में गुम्फित की गई थी वह आज भी शास्त्र और आगम के नाम से विद्यमान है। उससे आप लाभ ले सकते हैं।

वीतरागता का दर्शन भीतरी दर्शन है, वह बाहर कैसे आ सकता है फिर भी वीतरागता की ओर यदि झुकाव है तो मूर्ति में भी बाह्य वीतराग रूप को देखकर वीतरागता को देख सकते हैं। जो वीतराग मूर्ति में वीतरागता का दर्शन कर लेता है वही रागद्वेष के वातावरण से अपने आपको बचा सकता है। आज भी वीतराग भगवान् की मुद्रा से वीतरागता का संकेत प्राप्त हो सकता है।

वर्ष में तीन सौ पैंसठ दिन होते हैं। ये भी एक-एक निकलते जा रहे हैं और आगामी वर्षों के दिन भी यूं ही निकल जायेंगे, तुम पास नहीं हो सकोगे। भले ही आत्मा के बारे में सुन भी चुके हो, सुना भी चुके हो। यह सुनने-सुनाने का कार्य धुँआधार रूप में चल रहा है। कहते भी हैं कि-

सुनते सुनते शास्त्र को, बधिर हो गये कान।
फिर भी तृष्णा न मिटी, प्रयाण पथ पर प्राण ॥

क्या कहा ? काले थे गोरे हो गये, सीधे थे टेड़े हो गये, टेड़े थे अब सीधे हो गये। नहीं, महाराज! सीधे थे टेड़े कैसे हो गये ? पहले तो सीधे-सीधे बैठते थे अब सीधा बैठा नहीं जाता, टेड़े बैठते हो। बताओ सीधे से टेड़े हुए कि नहीं ? यह तो शारीरिक सीधापन और टेड़ेपन की बात है। मानसिक टेड़ापन कितना बढ़ गया, कोई सीमा ही नहीं है। पञ्चेन्द्रिय के विषयों एवं कषायों के कारण सारा का सार सीधापन तो चला गया, टेड़ापन आ गया। अब कौन सी चिकित्सा की जाये ? अनन्तकाल हो गया टेड़ेपन के साथ रहते-रहते इसीलिए ऐसा लगता है कि इसकी चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं है। देख लो अपने परिणामों की विचित्रता को। आज आप लोग रोग को रोग ही नहीं मान रहे हो। रोग का अनुभव ही नहीं कर रहे हो। विभाव को ही स्वभाव मान रहे हो, अतः उपदेश रूपी चिकित्सा की आवश्यकता ही महसूस नहीं हो रही है। यह संसारी प्राणी का कितना बड़ा अज्ञान है।

सोचो! विचार करो! पहले जो कुछ भी पढ़ा है उसका क्या परिणाम निकला ? उसका क्या फल मिला ? इसका आकलन करो। जीवन बहुत मौलिक है। आप थोड़ा सोचना प्रारम्भ कर दोगे, तो पढ़ना भी फीका-फीका सा लगने लगेगा। स्वाध्याय के समय कुछ व्यक्ति जल्दी आते हैं, कुछ देर से आते हैं। जो जल्दी आते हैं वे जल्दी जायें और जो देर से आते हैं वे देर तक बैठ जायें। तथा कुछ तो पहले से यहाँ बैठे रहते हैं। कुछ लोग मेरे जाने के बाद भी बैठे रहेंगे। हम तो २:३० से ३:३० तक स्वाध्याय करेंगे। एक घण्टे में जितना जिनको सुनना हो तो सुन लो। कितना सुनना ?

कितना सुनना ? सुनते-सुनते जो ज्ञान होता है उसके अनुरूप कार्य भी तो होना चाहिए। यदि ज्ञान के अनुरूप कार्य नहीं होता है तो उसका कोई मूल्य नहीं होता है।

जब चक्की से आटा पीसते हैं तो चक्की में पूरे गेहूँ नहीं डालते हैं। जब दलिया पीसना होता है तो गेहूँ की मात्रा ज्यादा डालते हैं, घुमाने की मात्रा को कम कर देते हैं। जब दाल बनाना हो तो चने की मात्रा और ज्यादा डालते हैं तथा चक्की को कम घुमाते हैं। इसी प्रकार पढ़ो कम, चिन्तन ज्यादा करो। विचार करो और वीतरागता को हमेशा याद रखो।

विचार करो कि हम अभी तक जो कार्य कर रहे थे वह अज्ञान था, क्योंकि प्याज की खेती की सुरक्षा हेतु कपूर की बाढ़ लगा रहे थे। बर्तन को साफ करने के लिए राख प्राप्ति हेतु रत्नों की राशि को जला रहे थे। ऐसे उदाहरणों को याद रखो और सोचो यदि इसी प्रकार भौतिक जीवन को विषयों में लगा दिया तो इससे बढ़कर हमारी और मूर्खता क्या होगी ? इस जीवन को पाने के लिए कोई तीन लोक की सम्पदा दे दे तो भी नहीं मिलेगा। इस भौतिक जीवन को समझने वाला तो विषयों को लात मारता है लेकिन हम तो विषयों के लिए मौलिक जीवन को खो रहे हैं। अनमोल हीरा देकर हम तृण और मिट्टी खरीद लेते हैं। क्या-होगा इसका नतीजा ? लोग देखकर के हँसेंगे।

'स्वसंवेदनसुव्यक्तः' आत्मा स्वसंवेदन से ही अनुभूत हो सकता है इसे दिखाया नहीं जा सकता। हमारा ज्ञान थोड़ा-सा ही सचेत हो जाये तो वह अपने संवेदन में आ सकता है। मैं हूँ, मैं हूँ, मैं कह रहा हूँ, मैं देख रहा हूँ, मैं बोल रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ आदि अनुभूतियों से आत्मा को जान सकते हैं, उस पर विश्वास कर सकते हैं।

ज्ञानी को संयोग-वियोग में हर्ष विषाद नहीं होते और ना ही होना चाहिए। यदि होते हैं तो वह ज्ञानी नहीं कहला सकता। ज्ञानी कभी मेरे-तेरेपन की उलझन में नहीं फंसता। यदि राग-द्वेष और मेरे-तेरेपन की उलझन में फँसता है तो कितना लम्बा चौड़ा भी ज्ञान क्यों न हो वह ज्ञान नहीं कहला सकता। ज्ञानी का अर्थ पर पदार्थों का जानना मात्र नहीं है, किन्तु पर को पर और स्व को स्व जानकर, पर पदार्थों से अपनेपन का नाता तोड़ना है। इसी ज्ञानीपन के माध्यम से हमारा कल्याण हो सकता है।

आगे मोक्षमार्ग सम्बन्धी प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है। संसार का मूल कारण आस्रव और बन्ध है। मुक्ति का मूलकारण संवर और निर्जरा तत्त्व है। संवर का अर्थ है नवीन आस्रव को रोकना और निर्जरा का अर्थ है पूर्वबद्ध कर्मों को आंशिक रूप से सत्ता से हटाना। अतः जो मोक्षमार्ग पर आरुढ़ हुआ है उसे हमेशा आस्रव व बन्ध से बचना चाहिए और बनती कोशिश अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार संवर और निर्जरा करते रहना चाहिए। दुकान खोलने वाला दुकान खोलता है, लेकिन इस बात के लिए हमेशा सतर्क रहता है कि घाटा न लग जाये। हमेशा लाभ पाने के लिए ही प्रयासरत रहता है। यदि कभी घाटा लग भी गया है तो उसकी पूर्ति के लिए पुनः कमर कसता है। इसी प्रकार

मोक्षमार्ग भी एक दुकान है। इस दुकान का घाटा है आस्रव और बन्ध। संवर और निर्जरा इस दुकान का मुनाफा है। इसी के द्वारा उसकी दुकान चलती है। इस दुकान को चलाने में मोक्षमार्गी हमेशा सतर्क रहता है।

उत्थानिका—यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानी को क्या फल मिलता है? अथवा स्वात्मनिष्ठ योगी की अपेक्षा स्वात्मध्यान का फल क्या होता है? आचार्य कहते हैं–

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥

अन्वयार्थ—(अध्यात्मयोगेन) अध्यात्म के योग से/चिन्तन से **(परीषहाद्यविज्ञानात्)** परीषह आदि का अनुभव/ज्ञान नहीं होने से **(आस्रवस्य)** आस्रव को **(निरोधिनी)** रोकने वाली **(कर्मणाम्)** कर्मों की **(निर्जरा)** निर्जरा **(आशु जायते)** शीघ्र होती है।

योगी जन अध्यात्म योग से, चेतन में निर्बाध रहे,
मनो-योग को वचन-योग को, काय-योग को साध रहे।
परीषहों को, उपसर्गों को, सहते विचलित कब होते?
कर्म-निर्जरा आस्रव-रोधक, संवर प्रचलित सब होते ॥२४॥

By bearing with equanimity by the power of the soulforce, the trials and hardships consequent on world-renunciation, is accomplished speedlly the destruction of *karmas* and the stoppage of further inflow thereof !

Note - There are two aspects of the *karmic* force the *dravya* and the *bhava karmas*. *Dravya karmas* simply mean matter which flows into the soul with every thought and word and deed. *Bhava karmas* are inner mental states, that is to say feelings, cravings and the like which are the causes that lead to the inflow of matter towards the soul. The bondage of the soul consists in the state of embodiment which signifies association with matter. The ascetic aspires to separate his soul completely from the material impurities that defile and hold it in bondage. The inflow of matter is termed *asrava*, and takes place only beacuse of a certain kind of magnetic attraction which the soul develops under the influence of desire. It ceases when the soul becomes desireless completely. The matter existing in combination with the soul also then begins to dissolve and soon becomes separated from it. This is termed *nirjara*, in the course of which many hardships have to be faced by the aspirant. If these are cheerfully borne, the goal of free-

dom and bliss is reached speedily, and the soul becomes a pure and perfected God. The destruction of desire, therefore, is the key to the situation, and the *acharya* points out that those who preserve equanimity of mind in the midst of trails and temptations speedily attain to the Supreme Status by the stoppage of the fresh inflow and the destruction of the existing *karmas*.

विवेचना—आप लोगों ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' ग्रन्थ पढ़ा होगा उसमें एक सूत्र आता है, आप लोगों को याद भी होगा "**मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ९/८ ॥**" मार्ग से च्युत न हों तथा संवर-निर्जरा होती रहे इसलिए मोक्षमार्गी को हमेशा परीषहों को सहन करना अनिवार्य बताया है। मोक्षमार्ग ऐसा नहीं है कि चलने के लिए वहाँ फूल बिछाये हों, जिसके ऊपर हमें चलना है। पंखा लगा हो, कूलर चल रहे हों और आप उसका आनन्द लेते हुए आराम से चल रहे हों, ऐसा नहीं है। यहाँ पर तो कंकड़ पत्थर हैं, कण्टक हैं, ऊबड़-खाबड़ जमीन है। यहाँ तो बोलने में परीषह, चलने में परीषह, बैठने में परीषह, सोने में परीषह, खाने-पीने में परीषह, यश नहीं मिलता तो परीषह, विद्वान् बन गये तो परीषह, अज्ञानी रह गये तो परीषह, सत्कार मिलता है तो परीषह, सत्कार पाने की भूख रहती है तो परीषह, कोई आक्रोश के शब्द बोले तो परीषह, पल-पल परीषहों को समता से सहन करने का अभ्यास आवश्यक है। यदि समता है तो संवर-निर्जरा होती है। यदि मन में समता का काँटा थोड़ा-सा ममता की ओर खिसक जाये तो बन्ध होना प्रारम्भ हो जाता है। जैसे-रेडियो का थोड़ा-सा काँटा इधर का उधर खिसक जाये तो 'सीलोन' के स्थान पर 'विविध-भारती' स्टेशन चालू हो जाती है। मोक्षमार्ग में साधक एक बार भोजन करता है एक बार पानी पीता है। अन्तराय हो जाये तो क्षुधा, पिपासा और अधिक बढ़ जाती है। शीत बढ़ती है तो शीत लगती है। तपा लगते हैं तो उष्णता भी और अधिक महसूस होती है। क्या-क्या नहीं होता ? पल-पल में कष्ट है एक साथ अनेक कष्टों को समता से सहना आवश्यक होता है।

'तत्त्वार्थसूत्र' में आचार्य उमास्वामी महाराज कहते हैं कि एक साथ अधिक से अधिक बाईस परीषहों में से उन्नीस परीषह हो सकते हैं, सभी को एक साथ सहन करो (९/१७)। रो-रोकर नहीं समता भाव से सहन करो, तब मार्ग में हम स्थिर रह सकते हैं, अन्यथा थोड़े में ही मार्ग से विचलित हो सकते हैं। कहावत है-"जो परिश्रम करता है उसका मुख मीठा रहता है" और भी कहा है कि "जहाँ पर परिश्रम होता है वहाँ पर यश रूपी फूल खिलते हैं।" हम यश चाहते हैं, तो परिश्रम भी करना होगा। लेकिन आज लोग यश तो चाहते हैं परन्तु परिश्रम से दूर भागते हैं, उन्हें कैसे यश मिलेगा ?

जिसको भी यश, लाभ, सत्कार आदि जो भी मिलते हैं वे परिश्रम के बिना नहीं मिलते। सुनते हैं कि किसी को कम परिश्रम करने पर भी यश का लाभ हो जाता है। किसी के जीवन में बिना

परिश्रम के भी यश के फूल खिलते हुए देखे जाते हैं। इसमें उसका पूर्व भव का परिश्रम भी जुड़ जाता है। जैसे किसी को फाइनल एक्जाम में कम नम्बर आये लेकिन पूर्व परीक्षा फल यदि जोड़ दिया जाता है तो परिणाम अच्छा आ जाता है। यह उसके पूर्व की की हुई मेहनत का फल होता है। और यदि पहले सो गया, आलस कर गया, मेहनत नहीं की, लेकिन फाइनल-एक्जाम में अच्छी मेहनत कर ली तो भी परिणाम अच्छा आ जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ''मेहनत कभी भी करो पहले करो या अब वर्तमान में करो, मेहनत का फल तो निश्चित मिलता ही है। अतः जीवन को श्रमशील बनाने का प्रयास करना चाहिए।'' कभी कम फल मिलता है, कभी विशेष फल प्राप्त होता है यह किये गये कम या अधिक श्रम का ही परिणाम होता है इसलिए कहा है कि–

''किया हुआ श्रम कभी विफल नहीं होता''

अतः परिश्रम करने में डरो नहीं। जो व्यक्ति मोक्षमार्ग में आरुढ़ हो गया है उसे तो कभी भी भयभीत होना ही नहीं चाहिए। आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी कह रहे हैं कि मोक्षमार्गी को परीषह सहन करते समय हर्ष-विषाद नहीं होना चाहिए। 'अविज्ञानात्' कहा है अर्थात् हर्ष-विषाद पूर्वक परीषहों का संवेदन नहीं होना चाहिए किन्तु समता के साथ उनका संवेदन होना आवश्यक है। मोक्षमार्ग में इनको सहन करने में यदि हर्ष-विषाद रूपी थोड़ा भी घाटा लग जाता है तो वह पुनः कमर कसकर तैयार हो जाता है।

समता सर्वभूतेषु, संयमे शुभभावना।
आर्त्तरौद्रपरित्यागः तद्धि सामायिकं मतं ॥

(सामायिकपाठ)

हमेशा समता रखो, आर्त-रौद्रध्यान का त्याग करो, संयम में शुभ भाव रखो, स्वयंकृत कर्म का ही फल प्राप्त होता है, जो कुछ मिला है या जो भी मिलता है वह सब अपने किए हुए कर्म का फल होता है, ऐसी भावना ही बार-बार करना चाहिए। सामायिक पाठ के समय तो यह विषय याद आ जाता है। यह तो बिल्कुल कण्ठस्थ है कि–

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं त्वदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

(द्वात्रिंशतिका, ३०)

इसका याद रहना तो ठीक है लेकिन इसके प्रयोग के समय याद रहना आवश्यक है। जैसे सीता ने मात्र सामायिक के समय इस पंक्ति को याद किया हो ऐसा नहीं परन्तु हर घटित परिस्थिति

में उसने इस भावना का स्मरण ही नहीं किन्तु प्रयोग किया। हमें भी हमेशा हमेशा इस भावना का प्रयोग करते समय यह बात स्मरण में आना ही चाहिए। सीता से कोई भी कुछ पूछता तो वह यही कहती थी कि क्या करें ? अपना ही किया हुआ कर्म का फल है। कदम-कदम पर ये भावना काम आने वाली है। इस भावना का प्रयोग करना खेल नहीं है।

इसे ध्यान में रखना क्योंकि कोई भी अपने द्वारा किये गये कर्मों को याद करना नहीं चाहता। सीता स्वयं अपने आपसे कहती है कि सोचो क्या किया है तुमने ? हे आत्मन्! तुम्हारे कारण कितने व्यक्तियों को विकल्प हुआ है? राम को विकल्प, लक्ष्मण को विकल्प, तेरे कारण सारी अयोध्या रो रही है, तेरी वजह से रावण को भी समस्या आई। यह सब क्या किया था, जो ऐसा फल मिला ? कृतान्तवक्र भी रो रहा है । यदि वह राजा का सेवक न होता तो सब कुछ स्पष्ट बता देता, लेकिन मैं क्या करूँ?

सीता कहती है कि अरे! तुम सभी विकल्प क्यों करते हो! मेरे कर्म का उदय ही ऐसा है इसमें कोई भी क्या कर सकता है? मुहूर्त ठीक नहीं निकला। अयोध्या की महारानी और महाराज की स्थिति ऐसी हो रही है कि देखा नहीं जाता। राज्य ज्योतिषी होकर भी कुछ न कर सका। मुहूर्त टाल सकता था, लेकिन मेरे कर्म का उदय ही ऐसा था कि कोई कुछ भी नहीं कर पाया। उधर पिता के घर से भी कोई नहीं आया और यह भी नहीं सोचा कि नारी का रनवास में रहना उचित नहीं। वे भी सोच रहे होंगे कि बाद में आर्यिका तो बनना ही है, फिर तो वन में रहना ही है इसलिए क्या आना और क्या पूछना ? लेकिन ऐसा सोचने में भी उन सभी का कोई दोष नहीं, दोष तो मेरे कर्मों का ही है। अपने किये हुए कर्म अपना फल देने का कार्य तो छोड़ नहीं सकते। अतः सतियों की कथायें पढ़िये, महापुरुषों की कथायें पढ़िये, तब लगेगा कि उनके जीवन के कष्टों की तुलना में हमारा दुःख तो बिन्दु मात्र भी नहीं है। उन्होंने सिन्धु बराबर दुःख सहा है यहाँ तो हम बिन्दु मात्र ही सह रहे हैं, फिर भी इसको आप सिन्धु बराबर कह दो तो बात ही अलग है।

आत्मतत्त्व की ओर ध्यान रखो। पर की ओर दृष्टि जा रही थी, वह रुक जायेगी और अपना किया हुआ जो कर्म है उसकी ओर दृष्टि जायेगी। यह निश्चित बात है कि चाहे रोते हुए करो या हँसते हुए करो, किये हुए कर्म का फल तो सहन करना ही होगा।

लेख लिखा था शुभ घड़ियों में, शुभ घड़ियाँ है आई।
आत्मज्ञान की ज्योति जला दो, भव से पार उतरना है ॥

भजन में बोलते हैं न आप लोग-आत्मज्ञान की ज्योति जलाने भव से पार उतरना है...इसी बात को ध्यान में रखो कि शुभ घड़ियों में जो लिखा है वही तो उदय में आ रहा है। किसी दूसरे के द्वारा उदय में नहीं लाया जा रहा है। स्वयं का किया कर्म स्वयं के लिए उदय में आया है। जो आप खाओगे वही तो डकार में आयेगा। मठ्ठे की खिचड़ी (महेरी) और उसमें भी दही मिलाकर खाओगे

तो थोड़ी देर बाद खट्टी ही डकार आयेगी। मतलब यह है कि खट्टी चीज खाओगे तो खट्टी डकार आयेगी और बासमती चावल से बनी मीठी-मीठी खीर खाओगे तो मीठी डकार आयेगी अर्थात् स्वाद के अनुसार ही डकार आती है। उसी प्रकार अच्छे कर्म किये होंगे तो अच्छा फल मिलेगा, बुरे कर्मों का बुरा फल मिलेगा। कर्म हमेशा सत्ता में ही रहते हैं, ऐसा नहीं है। अपने-अपने समय के अनुसार फल देकर निर्जरित हो जाते हैं। ज्ञानी अच्छे-बुरे सभी प्रकार के कर्मों के फल में साम्य भाव रखता है और **''स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा''** का विचार करता हुआ संतुष्ट रहता है।

ज्ञानी विचार करता है कि शुभ फल मिलता है तो उससे मेरा कोई मतलब सिद्ध होने वाला नहीं है क्योंकि शुद्धत्व की अनुभूति, शुभकर्म के फल में नहीं होती। बल्कि उसमें तो गाफिल होने की सम्भावना रहती है और यदि अशुभ का उदय रहता है तो अरिहंत-सिद्ध भगवान् याद आते हैं।

''स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा''। इसे ही प्रत्येक समय याद रखिये कि-

''स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ फल निश्चय ही वे देते।''

घड़ी बन्द हो सकती है लेकिन कर्मोदय की क्रिया कभी रुकती नहीं। जब तक मुक्ति की प्राप्ति न हो जाये तब तक प्रत्येक समय कर्म का उदय चलना ही है। उदय के साथ-साथ उदीरणा भी चलती रहती है लेकिन चौदहवें गुणस्थान में उदय तो रहता है किन्तु उदीरणा नहीं होती। इस कारिका को सामायिक पाठ में दिन में तीन बार याद कर लेते हैं। आप कह सकते हो कि और कितने बार याद करें ? आचार्य कहते हैं-यह अपने मतलब की बात है इसलिए इसे तो हमेशा ही और बार-बार याद करते रहना चाहिए, क्योंकि इसी के माध्यम से कल्याण होने वाला है। प्रवचन में १००-१०० के नोट कम आते हैं, चिल्लर पार्टी ज्यादा आती है, मतलब बड़े लोग कम आते हैं, बच्चे ज्यादा आ जाते हैं। जब हम विहार करके एक गाँव को छोड़कर दूसरे गाँव में प्रवेश करते हैं, उस समय सर्वप्रथम चिल्लर पार्टी अर्थात् बहुत सारे बच्चे एक साथ टोली बनाकर, हाथ में केशरिया झण्डा लिए जय-जयकार करते हुए आते हैं। बिल्कुल छोटे-छोटे बच्चे झण्डे फहराते हुए आते हैं। भले ही झण्डा पकड़ते बने या न बने। दूसरे लोग उन्हें सम्हालने को चाहिए। कोई-कोई बच्चे झालर बजाते हुए और अब तो बच्चों की बैण्ड पार्टी ही आ जाती है। नारे भी लगाते हैं। कोई बच्चे जल्दी-जल्दी आने की कोशिश में गिर जाते हैं, कोई उन्हें उठाते हैं, कोई दौड़ते-दौड़ते आते हैं। उस चिल्लर पार्टी को देखकर लगता है कि अब गाँव पास में आ गया। बच्चों का आना इसी का संकेत होता है। इसी प्रकार आगम में कुछ ऐसे सूत्र दिये हैं, जिनको याद करते हुए हमेशा कर्मफल को हँसते हुए सहने का सामर्थ्य पा सकते हैं। वैसे सभी को मरना तो है ही, तो हँसते हुए मरें। रोते हुए क्यों मरना ? आचार्य कहते हैं कि हँसते-हँसते वीर-मरण करो न। क्या बात है जो रोते हो ? वीर-मरण करो तो मरण का भी मरण हो जायेगा। जिससे बार-बार मरने की बात ही समाप्त हो जायेगी, लेकिन संसारी प्राणी कर्मों के उदय में जल्दी-जल्दी रोने लगता है।

''परीषहाद्यविज्ञानात्'' अर्थात् जो परीषहों की उपस्थिति होने पर सुख-दुःख रूप संवेदन न करते हुए साम्य भाव रखते हैं, उनके आस्रव का निरोध करने वाली निर्जरा होती है। आस्रव के निरोध का अर्थ ही संवर होता है। संवर और निर्जरा तत्त्व भावों की अपेक्षा समान होते हैं, ऐसी स्थिति में भीतर अध्यात्म का योग फलीभूत होता है। कर्मों के उदय होने पर जो विषम परिस्थितियाँ आती हैं, उस समय अध्यात्म का प्रयोग होना चाहिए। कर्मों का उदय समाप्त होने पर अध्यात्म की चर्चा तो बहुत लोग कर लेते हैं, लेकिन उससे संवरपूर्वक निर्जरा नहीं होती। कर्मों का उदय समाप्त होने पर अध्यात्म में डुबकी लगायें तो इसमें सार्थकता नहीं होती। अध्यात्म तो उसका नाम है कि कर्मों के उदय में हम विचलित न हों किन्तु साम्य भाव में स्थिर बने रहें।

इस युग में तीर्थंकरों की दशा भी उनके कर्मोदय के कारण बिगड़ी है। कैसे बिगड़ी ? बिगड़ी का मतलब उनके जीवन में ऐसी-ऐसी कठिनाईयाँ प्राप्त हुई हैं, जिन्हें भगवान् ने भी सहन किया। देखो! 'पार्श्वनाथ-भगवान्' पर जब उपसर्ग हुआ उस समय की स्थिति को सुनते हैं या पुराणों में पढ़ते हैं, तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कैसे सहन किया होगा ? लोहे को पिघला-पिघला कर ऊपर धारा कर दी, घटाओं के माध्यम से ऐसी भयानक आवाज की गई जिसे सुनकर कान बहरे हो जायें। ओले-शोले, पत्थर, पानी अग्नि आदि सभी की वर्षा हुई। सभी को समता से सहा। सोचो, कब का किया हुआ कर्म रहा होगा ? कुछ न कुछ तो रहा होगा, तभी तो प्रतिफल मिला वह भी तीर्थंकर की पर्याय में। उन्होंने उस समय पूर्ण रूप से अध्यात्म योग का प्रयोग किया होगा जिसके फलस्वरूप वे हमेशा-हमेशा के लिए उपसर्ग-परीषहों से मुक्त हो गये।

आचार्य कहते हैं इसी का नाम अध्यात्म योग है। समता व शांति को प्राप्त करने के लिए अन्यत्र कहीं जाने की जरूरत नहीं है। जहाँ कहीं भी जाओगे वहीं कर्मों का उदय रहेगा। कर्मों के उदय में विषम प्रतिफल भी मिलेगा। उसमें शांति व समता रखना यही आत्म पुरुषार्थ है, जिससे आस्रव निरोधिनी निर्जरा होती है। गोपुच्छ रूप में प्रति समय असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। जैसे गाय की पूछ नीचे कम चौड़ी होती है, ऊपर-ऊपर अधिक चौड़ी होती है उसी प्रकार परीषह, उपसर्ग आदि के समय पर समता की परीक्षा होती है जो समता रखने में उत्तीर्ण होता है उसके प्रारम्भ में कम होते-होते आगे असंख्यातगुणी बढ़ती हुई कर्म निर्जरा होती है। अन्त में तो एक दम बाढ़ सी आती है। इसको गो पुच्छाकार निर्जरा कहते हैं। जिस निर्जरा को वर्षों में किया जाता है उसको चुटकी बजाते-बजाते भी किया जा सकता है। समता और शान्ति के द्वारा यह सब सम्भव है। आचार्यों ने समता को हमेशा महत्त्वपूर्ण बतलाया है। एक कारिका सुनाता हूँ मुझे याद आ गई, प्रायः भाद्रपद में याद आ जाती है मुझे -

पुष्पकोटिसमं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटिसमं जपः।
जपकोटिसमं ध्यानं, ध्यानकोटिसमं क्षमा ॥

आप वैश्य-वृत्ति रखते हो तो सौदा अच्छे ढंग से करना चाहिए। देखो! किसका फल कितना जोरदार है? सिद्धचक्रमण्डल आदि विधानों में आप हजारों या करोड़ों फल या नारियल चढ़ा दीजिए और एक बार भगवान् की मन, वचन, काय की एकाग्रता से स्तुति कीजिए तब फल की अपेक्षा देखे तो दोनों का फल समान होता है। स्तोत्र पढ़ने में धन नहीं लगा, मन लगा है, वचन लगा है, उपयोग लगा है। इसका अर्थ यह हुआ कि करोड़ों रुपया लगाने की अपेक्षा एक बार भगवान् की स्तुति करेंगे तो उसमें करोड़ गुना फल अधिक प्राप्त हो सकता है। हाँ महाराज, बहुत अच्छा उपाय बताया आपने। ऐसा ही कुछ मंत्र आप हम लोगों को दिया करो, ताकि कुछ करना-धरना न पड़े और काम हो जाये। हाँ, आप लोग तो यही चाहते हैं कि-

''हर्र लगै न फिटकरी रंग चौखो हो जाये।''

इसी कहावत के अनुसार आप लोग काम निकालना चाहते हैं। अभी क्या ? और आगे बढ़िये ''स्तोत्रकोटिसमं जपः'' करोड़ों बार स्तुति करने से जो फल मिलता है उतना एक जप करने में मिलता है, क्योंकि स्तोत्र तो जोर से पढ़ने में आ सकता है उसमें वाचनिक प्रवृत्ति होती है, लेकिन जाप शान्ति से किया जाता है। इसमें प्रवृत्ति को रोका जाता है। इसके उपरान्त ''जपकोटिसमं ध्यानं'' अर्थात् करोड़ों जाप करने से जो फल मिलता है वह एक बार ध्यान करने से मिल सकता है। उससे भी आगे कहते हैं कि ''ध्यानकोटिसमं क्षमा'' अर्थात् करोड़ों बार ध्यान करने से जो फल मिलता है वह एक बार क्षमा करने से मिल सकता है। लेकिन मन, वचन, काय त्रियोग पूर्वक क्षमा होना चाहिए। क्षमा करने की जो विधि है, उस विधि से क्षमा होना चाहिए। आप कहेंगे-महाराज! हम लोग तो भाद्रपद में दशलक्षण महापर्व के दस दिनों के उपरान्त क्षमावाणी पर्व पर ''खंमामि खमंतु मे'' कहते हैं। लेकिन वह भी पवित्र मन से होना चाहिए। दस दिन का समय पर्वों में कैसे निकल जाता है, पता नहीं चलता। बहुत सौदा हो जाता है, घणी (बहुत) बातें हो जाती हैं आगम की और अध्यात्म की। दश धर्मों की देशना भी हो जाती है। इसी प्रकार कम समय में अधिक काम करना चाहिए। कम समय में इतना कमायें कि मालामाल हो जायें, ऐसा रास्ता अपनाइये।

ऋषभनाथ भगवान् को करोड़ों वर्षों की आयु मिली थी और आज तो पचास-साठ वर्ष के बाद कोई विश्वास नहीं, ज्यादा से ज्यादा १००, १०५-१०७ वर्ष की हो सकती है। बहुत कम समय, वह भी घटिया किस्म का मिला है। लेकिन ध्यान रखिए, कि उस काल में जो करोड़ों वर्षों में फल मिलता था वह आज बहुत कम समय में भी मिल सकता है। अपनी कुशलता हो तो निश्चित ऐसा ही होता है।

कर्मों की निर्जरा कितने जल्दी करना चाहते हो ? जितने जल्दी चाहते हो तो उतने जल्दी हो जायेगी, केवल अपनी आत्मा की ओर देखने की आवश्यकता है। आत्मा को देखते समय इतने भीतर जाना आवश्यक है कि बाहर पर्वत भी टूट जाये तो मालूम न चले।

पूर्वाचार्यों की जीवन-झाँकी की ओर थोड़ा झाँक कर देख लेना चाहिए कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी के जीवन में कैसी-कैसी समस्यायें आईं ? आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी, आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी, आचार्य जिनसेन महाराज जी आदि सभी के जीवन में कैसी-कैसी समस्यायें आईं थीं? और आचार्य अकलंकदेव के सामने की समस्या को तो हम क्या कहें ? कैसे कहें ? कहने में समर्थ नहीं हैं, फिर सहने की तो बात ही अलग है। जैसी-जैसी समस्यायें/घटनायें सुनने को मिलती हैं, उनमें से एक घटना का अंश भी घटित हो जाये तो हम सह नहीं सकेंगे। आज के युग में कर्म निर्जरा करना चाहो तो बहुत आसानी से हो सकती है, लेकिन ज्ञान की बात है। छहढाला में भी कहा है कि-

''ज्ञानी के छिनमांहि त्रिगुप्तितैं सहज टरैं जै। ४/५।''

''जायते अध्यात्मयोगेन'' अध्यात्मयोग से आस्रव निरोधनी निर्जरा होती है। अत: अध्यात्म-योग का अवलम्बन लेना चाहिए।

उत्थानिका—अध्यात्मयोग का अवलम्बन किस तरह लिया जाता है? किस प्रकार की विचारधारा से अध्यात्मयोग विकसित होता है, इसी विषय को स्पष्ट करते हुए आगे का श्लोक कहा जा रहा है-

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा ॥२५॥

अन्वयार्थ— (अहम्) मैं **(कटस्य कर्त्ता)** चटाई का कर्ता हूँ **(इति सम्बन्धः)** इस प्रकार कर्ता-कर्म सम्बन्ध **(द्वयोर्द्वयोः)** भिन्न-भिन्न दो पदार्थों में **(स्यात्)** होता है, परन्तु **(यदा ध्यानं ध्येयं)** जब ध्यान ध्येय **(आत्मा एव)** आत्मा ही हो **(तदा)** तब **(कीदृशः सम्बन्धः)** सम्बन्ध कैसा?

यूँ हि परस्पर दो दो में तो, होता है सम्बन्ध रहा,
कर्म रहा मम कट, कट का मैं, कर्ता हूँ प्रतिबन्ध रहा।
एकमेक जब ध्यान-ध्येय हो, आतम का ही आतम ओ!
फिर किस विध सम्बन्ध बन्ध हो, दोपन ही जब खातम हो ॥२५॥

In a statement such as 'I am the maker of the mat', two objects are implied; but where the soul itself is the instrument as well as the object of contemplation; how can there be duality in that state ?

Note - This sloka is intended to further elucidate the nature of self contemplation which is non dual. There are in that state no two separate

objects like a mat and the man who made it; but the object of contemplation is the same as he who contemplates. The soul in reality only contemplates its own inherent glory, so as to realize its hidden divinity. Hence acharya points out that there is no room for duality in the process of pure self-contemplation.

विवेचना—अध्यात्म कैसे आता है? पर पदार्थों के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध छोड़कर जब आत्मा में ही कर्ता-कर्म क्रिया घटित होती है, अर्थात् आत्मा ही ध्याता, आत्मा ही ध्येय, आत्मा ही ध्यान रूप और आत्मा ही जब ध्यान के फल रूप हो जाता है, ये सभी जब एकमेक हो जाते हैं, जहाँ पर किसी भी प्रकार की भेद-भिन्नता नहीं होती तब अध्यात्म आता है। मेरा-तेरा आदि की जो बातें हैं इनमें अध्यात्म नहीं रहता। इस प्रकार के विकल्पों में अध्यात्म आना तो बहुत दूर की बात है, इनमें तो अध्यात्म की चर्चा भी संभव नहीं होती। विकल्पात्मक स्थिति में अध्यात्म की बात नहीं होती हैं क्योंकि अध्यात्म केवल कहने का विषय नहीं है। अध्यात्म की अवस्था में तो ऐसी स्थिति होती है कि कौन किसके लिए कह रहा है? यह भी पता नहीं और क्यों कह रहा ? यह भी पता नहीं होता।

लोक प्रसिद्ध बात तो यह है कि भिन्न दो पदार्थों के बीच सम्बन्ध हुआ करता है। जैसे-मैं चटाई बनाने वाला हूँ। यहाँ चटाई बनाने वाला मैं पृथक् हूँ और बनने वाली चटाई पृथक् है तभी इनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध हुआ करता है। लोकप्रसिद्ध इस कर्ता-कर्म का सम्बन्ध अध्यात्म में कभी भी नहीं होता, किन्तु अध्यात्म में तो आत्मा स्वयं कर्ता, स्वयं कर्म और स्वयं क्रिया तथा स्वयं में ही क्रिया का फल घटित होता है। जैसा कि कारिका में स्पष्ट किया है कि-

''ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, सम्बन्धः कीदृशस्तदा।''

जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण हो जाता है तब आत्मा चिन्मात्र हो जाता है। उस समय आत्मा यश, कीर्ति, लाभ आदि की चाह से बहुत दूर हो जाता है। पर द्रव्यों के संयोगादि से उत्पन्न विकल्पों से भी दूर हो जाता है। अध्यात्म जिसके जीवन में रहता है भले ही वह बाजार में बैठा हो तो भी वह अध्यात्म रस का अनुपान कर सकता है। फिर भी अध्यात्म कोई गाजर-मूली जैसा थोड़े ही है कि जिस किसी को बाजार में मिल जाये।

अध्यात्म को प्राप्त करना महान् पुरुषार्थ का फल है। पुरुषार्थ का फल होते हुए भी उस पुरुषार्थ में पसीना नहीं आता। उसमें न हृदय धक्-धक् करता है, न कषाय है, न राग है, न द्वेष है केवल साम्य भाव रहता है। वस्तुतः तत्त्व का मात्र जानना, देखना यही अध्यात्म है। अध्यात्म में जानने, देखने के अलावा और कुछ नहीं होता।

मान लो कहीं पर एक कन्या और एक लड़का, दोनों आपस में बचपन की मित्रता के तौर पर

खेल रहे हैं, लेकिन धीरे-धीरे दोनों बड़े हो गये, दोनों का आपस में सम्बन्ध निश्चित कर दिया गया, फिर भी जब तक उन दोनों को सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता तब तक भी वे खेल सकते हैं। पति-पत्नि के रूप में नहीं, क्योंकि सम्बन्ध ज्ञात नहीं है। इसके उपरान्त जब उन्हें सम्बन्ध की बात ज्ञात हो जाये तब भी मित्रता के रूप में खेलेंगे क्या? नहीं। क्या हो गया। क्या अन्तर पड़ गया! भावों में अन्तर आ गया कि अब हमारा मित्रता का सम्बन्ध नहीं है। कन्या सोचती है मैं तो पत्नि के रूप में हूँ और लड़का सोचता है मैं पति के रूप में हूँ। उनकी दृष्टि में सम्बन्ध आने से उनके भाव बदल गये और बिगड़ भी गये। यदि दृष्टि में सम्बन्ध नहीं आता तो भाव भी न बदलते, न बिगड़ते। आगे चलकर जब सम्बन्ध भी बिगड़ जाता है तो तलाक भी दे देते हैं। दक्षिण में तलाक को ''छोड़-छुट्टी'' कहते हैं। जो चिट्ठी लिखी थी, वह छोड़ दी, अब लेन-देन का कोई मतलब नहीं रहा। सम्बन्ध हुआ था बिगड़ गया। क्या बातों-बातों का सम्बन्ध था ? नहीं, सही का सम्बन्ध था।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब संसार में भी मात्र बातों-बातों का काम नहीं तब मोक्षमार्ग में मात्र बातें-बातें या चर्चा-चर्चा क्यों करना चाहते हो ? और स्वाध्याय में मात्र चर्चा करने से ही कर्म-निर्जरा हो जायेगी ऐसी धारणा क्यों बनाते हो ? मोक्षमार्ग में क्या होता है? इस मार्ग में यह धारणा मजबूत होना आवश्यक है कि जिसके पास जो कुछ भी है वह हमारा नहीं है, कोई हमारा नहीं है मैं भी किसी का नहीं हूँ। एकत्व भावना में पढ़ते हैं आप लोग-

आप अकेला अवतरै, मरै अकेला होय।
या कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय ॥४॥

(भूधरदास कृत बारह भावना)

अकेला आया था, अकेला ही जायेगा। जहाँ पर भी जाओगे अकेले ही जाओगे। साथ में कोई दूसरा नहीं जायेगा। घर में भी माता-पिता लड़के-लड़की के सम्बन्ध कर देते हैं और सम्बन्ध होने के बाद वे कहते हैं-आप अपना भविष्य देखो। हम अपना भविष्य देख लेंगे। तुम्हें अपना काम स्वयं करना है, मैं किसी का कर्ता-धर्ता नहीं हूँ आदि-आदि विचार चलते हैं। इसी प्रकार अध्यात्म की बात है कि प्रत्येक पल कर्म के उदय में संयोग-वियोग होते रहते हैं, उनके प्रति उपयोग भले ही चला जाये, लेकिन कर्ता, क्रिया, कर्म की बात नहीं आना चाहिए। यदि कर्ता, कर्म, क्रिया की बात आये भी तो अपनी आत्मा में ही लगा लेना चाहिए। इसी का नाम अध्यात्म है, अन्यथा अध्यात्म की बात ही नहीं है।

अध्यात्म की गहराई को समझ कर सभी को अध्यात्म की चर्चा नहीं, किन्तु अध्यात्म के सरोवर में डुबकी लगाना चाहिए। अर्थात् मात्र अध्यात्म की चर्चा न करें, वरन् उसके प्रयोग करना भी सीखें। तभी अध्यात्म को समझने की सार्थकता है।

उत्थानिका—यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्य का अध्यात्मयोग

के बल से बन्ध नहीं होता, तो फिर किस प्रकार से उन दोनों में (आत्मा और कर्मरूप पुद्‌गल द्रव्यों में) परस्पर एक के प्रदेशों में दूसरे के प्रदेशों का मिल जाने रूप बन्ध होगा ? क्योंकि बन्धाभाव अर्थात् मोक्ष तो बन्धपूर्वक ही होता है। तो बन्ध का प्रतिपक्षी, सम्पूर्ण कर्मों की विमुक्तावस्था रूप मोक्ष भी जीव को कैसे बन सकेगा ? जो कि अविच्छिन्न, अविनाशी सुख का कारण होने से योगियों के द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है? आचार्य कहते हैं–

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥२६॥

अन्वयार्थ– (सममः) ममता सहित और **(निर्ममः)** ममता रहित **(जीवः)** जीव **(क्रमात्)** क्रम से [कर्मों से] **(बध्यते)** बँधता है तथा **(मुच्यते)** छूटता है **(तस्मात्)** इस कारण **(सर्वप्रयत्नेन)** सर्व प्रयत्न से **(निर्ममत्वं)** निर्ममत्व को **(विचिन्तयेत्)** ध्यावे।

इसीलिए तुम पूर्ण यत्न से, निर्ममता का मनन करो,
चिन्तन-मन्थन-आराधन भी, तथा उसी को नमन करो।
जीव कर्म से बंधता तब है, ममता से जब मण्डित हो,
बन्धन से भी मुक्त वही हो, निर्ममता में पण्डित हो ॥२६॥

The souls involved in transmigration have to suffer a multitude of afflictions, owing to the association of the not-self, the body and the like: therefore, I (shall) renounce them along with all the activities of the mind, the body and speech.

Note - He who does not control the activities of his mind, speech and body, which are the three channels of sin, only prolongs his bondage and the transmigratory life which is simply full of pain and misery, even under the best of conditions. The aspirant after the final release, therefore resolves in the manner indicated in the text.

विवेचना–संसारी जीव जब ममत्व-भाव से युक्त होता है तो बन्ध को प्राप्त होता है। वह मेरा, यह मेरा इस प्रकार का भाव ममत्व कहलाता है। मेरापन जब तक रहता है तब तक बन्ध होता है और मेरापन निकल गया तो मुक्ति होती है। आप किसमें मेरापन मानते हो ? यह शरीर मेरा, यह अंगुली मेरी, यह तर्जनी मेरी आदि-आदि। यह सब क्या है? समझ में नहीं आता। कोई-कोई कभी बोलते हैं कि नाक कट गई मेरी, क्या है यह? सब कुछ मोह है, ममत्व है। स्वयं क्रुद्ध हैं, दूसरों को भी क्रुद्ध मानते हैं। यह भी तो संसार का तमाशा है, कि कोई रोता है तो हम भी रोने लगते हैं। दस-बीस लोग मिल जाते हैं तो वे भी रोने लगते हैं। पूछा जाता है–भैया क्यों रो रहे हो ? वे कहते हैं

कि तुम रो रहे थे इसलिए मैं भी रोने लगा, तुम हमारे दोस्त हो न। यह अच्छी बात है कि आप मुझे मित्र मानते हो किन्तु मुझे तो उसने मारा था इसलिए रो रहा था। तुम किसलिए रोये ? वह पुनः कहता है कि आप हमारे दोस्त हो न, मेरा दोस्त किसी के द्वारा मारा जाये फलस्वरूप वह रोए और मैं हँसता हुआ कैसे रह सकता हूँ ? बल्कि दोस्ती तो ऐसी होती है कि "दोस्त को यदि मारा गया तो मुझे भी मारा गया" ऐसा अनुभव होना चाहिए इसलिए तुमको देखकर मैं भी रोया।

सोचने की बात है कि यदि एक व्यक्ति कुछ कह रहा है तो सारे के सारे वही कहने लग जाते हैं। एक रो रहा है तो सभी रोने लगते हैं। वह कहता है जो तुम्हारा हो गया, वही हमारा हो गया, इस प्रकार के भावों से जनता मूढ़मति हो रही है। ज्ञानी जीव कभी इनके बहकावे में नहीं आता। ज्ञानी तो अध्यात्म दृष्टि से देखता है और कहता है कि देखो! यह संसार का तमाशा है। उस तमाशा देखने वाले को तमाचा भी नहीं देता क्योंकि वह जानता है कि तमाचा दे भी देंगे तो इन्हें कोई असर हो या न हो परन्तु मेरे हाथ में तो दर्द हो ही जायेगा। उस स्थान से सब कुछ देखते हुए भी वहाँ से अपना मुख फेर लेता है क्योंकि इस प्रकार की अज्ञानमय क्रियाओं से ही तो संसार बढ़ता है। संसारी प्राणी मोह ममता के कारण अध्यात्म के रहस्य को समझ नहीं पा रहा इसलिए तो बाह्य पदार्थों से ममता का भाव रखता है। जबकि आचार्य कहते हैं कि तेरे पास कुछ है ही नहीं फिर ममत्व किसमें रखता है और क्यों रखता है? मेरा-तेरापन का भाव बहुत खतरनाक होता है। संस्कृत भाषा में इसे तव-मम, तव-मम बोलते हैं।

भरत चक्रवर्ती और बाहुबली के बीच युद्ध क्यों हो गया ? विचार किया कभी। इसी मेरा-तेरापन के कारण हुआ था। चक्रवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, घर में वैरागी थे, लौकिक दृष्टि से वे निर्मम माने जाते थे, फिर भी भाई के साथ युद्ध। यह तो दयाहीनता का परिचायक था। अकेले में लड़ाई नहीं होती। एक के साथ ध्यान होता है, दो के साथ बन्ध या सम्बन्ध होता है। ध्यान हितकारक होता, बन्ध अहितकारक होता है। अतः ऐसी क्रिया करो जो स्व और पर दोनों के हित में हो।

द्वैत अर्थात् द्वन्द्व जब तक रहता है तब तक संसार रहता है, अतः अद्वैत का चिन्तन होना चाहिए। "बध्यते मुच्यते जीवाः" जीव ममता भाव से बंधते हैं और निर्ममत्व भाव से मुक्त होते हैं। अतः ममत्व को छोड़कर निर्ममत्व का चिन्तन-मनन करना चाहिए यही मुक्ति का कारण है।

उत्थानिका—यहाँ पर शिष्य कहता है कि इसमें निर्ममता कैसे हो ? इसमें निर्ममता के चिंतन करने के उपायों का सवाल किया गया है। अब आचार्य उसकी प्रक्रिया को "**एकोऽहं निर्ममः**" से प्रारम्भ कर "**मम विज्ञस्य का स्पृहा**" तक के श्लोकों द्वारा बतलाते हैं—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

अन्वयार्थ–(अहम् एक:) मैं एक हूँ **(निर्ममः)** ममता रहित **(शुद्धः)** शुद्ध हूँ **(ज्ञानी)** ज्ञानी हूँ तथा **(योगीन्द्रगोचरः)** योगियों /मुनियों द्वारा जानने योग्य हूँ **(सर्वे अपि)** सभी **(संयोगजा:)** संयोग से उत्पन्न होने वाले **(भावा:)** पदार्थ **(मत्त:)** मुझसे **(सर्वथा)** सब तरह से **(बाह्याः)** भिन्न हैं।

एक अकेला निर्मम हूँ मैं, योगी को ही दिखता हूँ,
शुद्ध-शुभ्र हूँ ज्ञानी होता, ज्ञानामृत को चखता हूँ।
माया, ममता, मोह, मान, मद, संयोगज ये भाव अरे!
भिन्न सर्वथा मुझसे हैं यूँ, इनमें हम समभाव धरे॥२७॥

I am one, I am without delusion, I am the knower of things, I am knowable by Master Ascetics; all other conditions that arise by the union of the not-self are foreign to my nature in every way !

Note - The soul is here described from what is known as the *nishchaya naya*, that is to say in respect of its pure natural attributes, in other words, as a pure spirit. The pure spirit is devoid of parts, and therefore only one; being a pure embodiment of knowledge, without any obstructing veils to curtail the field of its knowing fuctions, it is deviod of delusion; rid of all forms of defilement and corruption, it is pure; having omniscience for its attribute, it is the true knower; and not being endowed with sensible qualities, it is knowable by the super-clairvoyant vision of Great Ascetics and Saints. All the other qualities, attributes and relations which appertain to embodied existence are really produced under the corruting influence of matter, and are, therefore not natural to pure Spirit.

विवेचना–आचार्य कहते हैं कि जीवन का वास्तविक स्वरूप समझने का प्रयास करो। आज तक यही समझते रहे कि मैं हूँ, मेरा परिवार है, मेरा समाज है, मेरा देश है, मेरा राष्ट्र है आदि। इस विचारधारा से व्यक्ति अपने आपको बाहर में कितना व्यापक समझता है। सभी से अपने सम्बन्धों को जोड़ता है। भले ही उन सम्बन्धों से अनेक प्रकार के तनाव उत्पन्न होते हों, लेकिन फिर भी सम्बन्धों के बीच में ही रहना पसंद करता है। जबकि वास्तव में देखें तो बाह्य समस्त पदार्थों से भिन्न मेरा अस्तित्व मेरे चैतन्य तक सीमित है अर्थात् मैं एक हूँ। फिर भी संसारी मोही प्राणी अपने को अनेक रिश्तों से, सम्बन्धों से जोड़कर अनेक रूप मानता है। मैं निर्मम हूँ, ममत्व भाव मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा-तेरापन का विचार तो मोहनीय कर्मोदय से प्रभावित ज्ञान की वैभाविक परिणति है। ममत्व भाव के द्वारा यह प्राणी अपने आपको सभी का और अन्य सभी बाह्य चेतन-

अचेतन वस्तुओं को अपना मानता है, जबकि यह उसकी भूल है, उसका अज्ञान है। मैं शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगियों के गोचर हूँ अर्थात् योगियों के शुद्धोपयोग मात्र से संवेदन करने योग्य हूँ। दुनिया के जितने भी शरीरादिक पदार्थ हैं वे सभी संयोगजन्य हैं और मेरे स्वभाव से भिन्न हैं। प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व को लिए हुए है।

इस स्वतंत्र अस्तित्व को जो स्वीकार करता है वही अपने आपको एक, निर्मम, ज्ञानी आदि के रूप में स्वीकार कर सकता है। यह स्वरूप आप लोगों को स्वीकार है तो मुझे बताओ ? यदि स्वीकृत है तो जीवन वास्तविकता की ओर है, ऐसा समझना चाहिए। अन्यथा आज तक जैसा जीवन जीते आए हैं, जैसा मानते आए हैं वैसी ही धारणा आगे भी रहेगी और हम वास्तविकता के परिचय से बहुत दूर होते जायेंगे।

विचार करो, तुमने किस-किसको अपना माना और कौन-कौन तुम्हारा अपना बना ? मान्यतानुसार मोह के प्रभाव में आकर किसी ने अपना होने का भले ही कितना भी आश्वासन दिया हो कि मैं हमेशा-हमेशा तुम्हारा हूँ फिर भी सब एक-दूसरे को छोड़कर चले जाते हैं। आप मंगतराय कृत बारहभावना में पढ़ते ही हैं कि-

ज्यों मेले में पंथी जन मिल नेह फिरैं धरते,
ज्यों तरुवर पै रैन बसेरा पंछी आ करते।
कोस कोई दो कोस कोई उड़ फिर थक-थक हारै,
जाय अकेला हंस संग में, कोई न पर मारै ॥४/११॥

एकत्व एवं अन्यत्व आदि भावनाओं के चिन्तन द्वारा यही निष्कर्ष निकलता है कि मैं वास्तव में अकेला हूँ भले ही लौकिक मान्यता के अनुसार उसे मानो या न मानो। जो मान लेते हैं वे अपने आपको पाने का प्रयास करके अपने आपमें लीन हो जाते हैं और आत्मलीनता के समय शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करते हैं।

धन्य हैं वे, जिन्होंने जीवन की वास्तविकता को समझकर अपने वास्तविक स्वाभाविक जीवन को प्राप्त कर लिया है, उन्हीं की शरण को स्वीकार करके हम भी जीवन की वास्तविकता की ओर कदम बढ़ायें इसी में जीवन की सार्थकता है।

उत्थानिका—फिर भावना करने वाला सोचता है। देहादिक के सम्बन्ध से प्राणियों को क्या होता है? इससे उसे क्या फल मिलता है? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि-

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२८॥

अन्वयार्थ—(इह) इस संसार में **(देहिनाम्)** जीवों के **(संयोगात्)** संयोग से **(दुःख-**

संदोहभागित्वं) दुःख समूह का भागीदार बनना पड़ता है **(ततः)** इस कारण **(एनं सर्वं)** इन सभी [शरीर और कर्म के] संयोग को **(मनोवाक्काय-कर्मभिः)** मन, वचन, काय की क्रिया/चेष्टा से **(त्यजामि)** छोड़ता हूँ।

असहनीय दुःखों का फल है, यह संसारी बना हुआ,
संयोगज भावों का फल है, रागादिक में सना हुआ।
इसी बात को जान मानकर उपकृत हूँ गुरुवचनों से,
रागादिक को पूर्ण त्यागता, तन से, मन से, वचनों से॥२८॥

The soul involved in the delusion of egoity is enmeshed in the bondage of *karmas*; he who is free from delusion of egoity is freed from the bondage of *karma*, this is the order of things; such being the law, one should try in all possible ways to attain to pure self-contemplation, devoid of the delusion of egoity.

Note - We have already seen that desire is the root of bondage. Here the *acharya* takes us a step further towards the analysis of desire, which is rooted in the delusion of identity with the body. The ordinary man only knows himself as the physical personality and naturally remains absorbed in the gratifications of the bodily cravings and wants. This is the delusion which the *acharya* warns us against.

विवेचना—आज का युग विज्ञान से प्रभावित है, शरीर विज्ञान से भी प्रभावित है। आज न्यूज को सुनते नहीं हैं किन्तु टी० व्ही० पर देखते हैं। आज लोग लिपि बदलने लगे, हिन्दी की जगह इंग्लिश और इंग्लिश की जगह हिन्दी का उपयोग करने लगे हैं। आप कहेंगे ज्ञान ही तो बढ़ रहा है। हाँ...हाँ, ज्ञान तो है लेकिन यदि यही ज्ञान अध्यात्म के क्षेत्र में हो तो वह आत्मज्ञान या ध्यान के क्षेत्र में हो तो केवलज्ञान हो सकता है। लेकिन संसारी प्राणी जितना विज्ञान से प्रभावित है उतना अध्यात्म से प्रभावित नहीं है। विज्ञान या शरीर विज्ञान सम्बन्धी जो भी ज्ञान, यंत्र या मशीनरी ज्ञान विकास को प्राप्त हो रहा है वह सब भी एकाग्रता के बिना नहीं होता। यदि यही एकाग्रता सम्यक् भूमिका में हो तो केवलज्ञान या सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।

कोई प्रश्न करता है कि इस वैज्ञानिक युग में जो ज्ञान विकसित हो रहा है उससे अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती क्या ? इस प्रश्न का समाधान देते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि पहले यह देखो कि अभिप्राय क्या है? अध्यात्म की दृष्टि से अभिप्राय का अर्थ होता है, राग और द्वेष से बचना। विज्ञान के क्षेत्र में क्या राग-द्वेष से बचा जा रहा है? या राग-द्वेष से बचने का एक भी प्रयास किया

जा रहा है क्या ? सही-सही बताओ। यदि राग-द्वेष से नहीं बचा जा रहा है तो अभिप्राय की सिद्धि कभी भी संभव नहीं हो सकती।

यह निश्चित बात है कि एकाग्रता के बिना कोई भी वस्तु का अविष्कार नहीं हो सकता लेकिन प्रयोजन का ध्यान तो रखना ही चाहिए। किसी भी आविष्कार का उद्देश्य क्या है? यह तो ख्याल में होना ही चाहिए। उद्देश्य के आधार से ही अभिप्राय की सिद्धि होती है। अभिप्राय की सिद्धि नहीं होने पर यह जीव दुःखी होता है।

संसारी प्राणी शरीरादिक के संयोग के अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करता है। शारीरिक दुःख भी होते हैं, मानसिक दुःख भी होते हैं, वाचनिक दुःख भी होते हैं। इन समस्त दुःखों का मूल कारण पर पदार्थों का संयोग है और संयोग का मूल कारण मोह है, अज्ञान है। मोह के कारण ही संसारी प्राणी इस संयोग को, जो दुःख का कारण है, छोड़ना नहीं चाहता। शरीर का संयोग दुःख का परिणाम है यदि वह छूटने लग जाता है तो आपको दुःख होता है, उसका छूटना आपको इष्ट नहीं लगता। जब तक शरीर का छूटना हमें इष्ट नहीं होगा तब तक शरीर का संयोग तीन काल में कभी भी छूट नहीं सकता।

संसार का अर्थ ही है आत्मा और शरीर का गठबन्धन। चौदहवें गुणस्थान तक यह गठबन्धन रहता है। आत्म-परिणामों के विकास के सोपानों का नाम गुणस्थान माना जाता है, जो कि मोह और योग के निमित्त से होते हैं। चौदहवाँ गुणस्थान विकास का अंतिम सोपान है, फिर भी वह संसार के अन्तर्गत आता है, क्योंकि गुणस्थान में रहना स्वभाव नहीं है। स्वभाव तो गुणस्थान तथा मार्गणाओं से अतीत होता है। वहाँ पूर्वबद्ध कर्म सत्ता में हैं, उदय में भी हैं। लेकिन नवीन आस्रव और बन्ध वहाँ नहीं होता। नवीन बन्ध नहीं है यह तो ठीक है, लेकिन पूर्व का कर्म तथा नोकर्म के साथ जो गठबन्धन है वह तो है, उससे जब तक नहीं छूटता तब तक मुक्त नहीं हो सकता।

अतः संसारी प्राणी को समझ लेना चाहिए कि शरीर का संयोग मेरे लिए दुःख का मूल कारण है फिर भी यदि वह शरीर के माध्यम से सुख चाहता है या शरीर के संयोग से सुख का अनुभव करता है या शरीर को सुख का कारण मानता है तो इसका मतलब है कि वह आत्म-सुख के परिचय से वंचित है। उसे शरीर से छूटना इष्ट नहीं है। वह शरीर के छूटने को अपना मरण समझता है। जबकि आचार्य महाराज समझा रहे हैं कि शरीर के छूटने को अपनी मृत्यु मत समझो, किन्तु शरीर की मृत्यु से मेरी मृत्यु नहीं है, ऐसा समझो तो अभिप्राय सिद्ध हो सकता है। आज तक यह धारणा बनी हुई है कि शरीर के बिना सुख का अनुभव नहीं हो सकता, तो उसके लिए यहाँ आगे की कारिका में कहा जा रहा है।

उत्थानिका—फिर भावना करने वाला सोचता है कि पुद्गल-शरीरादिकरूपी मूर्तद्रव्य के साथ जीव का सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध के कारण ही जीव का मरण व रोगादिक होते हैं तथा

मरणादि सम्बन्धी बाधाएँ भी होती हैं। तब इन्हें कैसे व किस भावना से हटाया जावे ? वह भावना करने वाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि–

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

अन्वयार्थ– (मे) मेरी **(मृत्युः न)** मृत्यु नहीं होती [इस कारण] **(भीतिः)** भय **(कुतः)** किससे (हो सकता है?) **(मे)** मुझे **(व्याधिः न)** कोई रोग नहीं होता [इसलिए] **(कुतःव्यथा)** दुःख किससे (हो सकता है?) **(अहम्)** मैं **(बालः न)** बालक नहीं हूँ **(वृद्धः न)** बूढ़ा नहीं हूँ **(युवा न)** जवान नहीं हूँ **(एतानि)** ये सब अवस्थायें **(पुद्गले)** पौद्गलिक शरीर में होती हैं।

मरण नहीं है मेरा मुझको, कहाँ भीति हो? किससे हो?
व्याधि नहीं है मुझमें, मुझको, वृथा व्यथा फिर किससे हो?
बाल नहीं हूँ, युवा नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ ज्ञात-रहे,
ये पुद्गल की रहीं दशायें, चेतन मेरा साथ रहे॥२९॥

I am not subject to death; then, what should I fear death for ? Nor am I subject to disease, then, what can cause me pain ? I am not a child; I am not an old man; nor am I a youth: all these appertain to the flesh (matter).

Note - Pure Spirit is free from death and disease, and has no concern with the divisions of life, childhood, youth, oldage and the like. These are different conditions that appertain to the body of matter, which is, undoubtedly, not the same thing as Spirit or the soul. Why should, then, one fear death ? and how can one be really affected by disease ? The saint, knowing the pure immortal and incorruptible nature of the soul speedily attains to the highest and best condition of Life which is enjoyed by all who acquire the purity of their spiritual nature.

विवेचना—जन्म, मृत्यु, रोग, बुढ़ापा आदि जितनी भी परिस्थितियाँ हैं, वे सभी पुद्गल की हैं, पुद्गल में हैं, पुद्गल की वजह से हैं। क्या कहा है? ''न मे मृत्यु'' मेरा मरण नहीं है, इसमें श्रद्धा रखना चाहिए। मैं मर जाऊँगा तो क्या होगा ? आचार्य कहते हैं–ऐसे ही जीते रहोगे तो भी क्या होगा? जीने की क्या करामात कर रहे हो ? कहाँ जी रहे थे ? कैसे जीना चाहिए और कैसे जी रहे हो ? अतः मेरा मरण नहीं है, ऐसा भाव प्रत्येक धर्मात्मा के मन में हमेशा उद्भूत रहना चाहिए। फिर किसका मरण होता है? ऐसा प्रश्न आये तो विचार करना कि जिसका मरण होता है उससे मुझे किसी बात का दुःख नहीं और भय भी नहीं। लेकिन मोही संसारी प्राणी को सबसे बड़ा यदि भय

है तो मृत्यु का है। जिसको कोई रोग नहीं, कोई समस्या नहीं, कोई तनाव नहीं, सम्पदा आदि भी सब कुछ है उसे यदि यह बता दिया जाये कि तुम्हारा मरण निकट है तो निकट का नाम सुनते ही बड़ी विकट समस्या खड़ी हो जाती है और उस समस्या की उलझन में एकदम या अकाल में मृत्यु की गोद में चला जाता है। मरण की कारणभूत वस्तुओं के समागम से ही वह डरने लगता है, कांपने लगता है। जैसे आप यहाँ सुरक्षित बैठे हैं और मान लीजिए कोई यहाँ भयानक सर्प के आने की बात कर दे तो आपका विचार आगे पहुँच जाता है कि सर्प काट देता है तो मृत्यु हो जाती है, मृत्यु हो या न हो लेकिन सर्प काट जायेगा तो मृत्यु निश्चित है, ऐसी जो धारणा बनी हुई है वह भयभीत कर देती है।

सर्प से इतना भय कि नाम सुनते ही आप चिन्तित एवं भयभीत हो जाते हैं। लेकिन ''मोह को आज तक किसी ने सर्प नहीं माना जबकि वह प्रत्येक समय जीव को काट रहा है।'' राग-द्वेष को, क्रोध, मान आदि कषाय को किसी ने सर्प माना ही नहीं। जिसने उन्हें सर्प माना वे उनसे बच गये और भवसागर से तर गये। ऐसा विचार करना चाहिए कि सर्प भी हम और आप जैसा ही एक जीव है उससे क्या डरना। ध्यान रखो! जब तक मृत्यु से भीति होती है तब तक मृत्यु से मुक्ति नहीं मिल सकती। मृत्यु से डरने मात्र से मृत्यु छूट जाये और चाहने मात्र से मोक्ष मिल जाये यह तीन काल में संभव नहीं। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने सुपार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए स्वयंभूस्तोत्र में कहा है-

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो।
नित्यं शिवं वांछति नास्य लाभः ॥७/३४॥

रहस्य समझो, कि मृत्यु से डरने मात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती और चाहने मात्र से सुख या शिव नहीं मिल सकता।

यह जन्म-मरण-जरा अर्थात् बुढ़ापा आना, मर जाना, फिर उत्पन्न होना, ये शरीर के परिवर्तन हैं। इनके होने में सुव्यवस्थित कर्म का उदय रहता है। उसके द्वारा ही सब कार्यक्रम होता रहता है, किन्तु यह होता ही रहेगा ऐसा नहीं। इसे समाप्त भी किया जा सकता है। इस जीव को आज तक एक समय के लिए भी आयु कर्म का अभाव नहीं हुआ। जिस समय आयुकर्म का अभाव हो जायेगा तो मुक्ति निश्चित है क्योंकि आयु कर्म के पूर्णतः अभाव होने पर ही मुक्ति होती है। आयु भी एक प्राण है दस प्राणों में से, पाँच इन्द्रिय प्राण छूट गये, तीन बल प्राण छूट गये, श्वासोच्छ्वास भी छूट गया, चौदहवें गुणस्थान में मात्र एक आयु प्राण रह जाता है, उसका अभाव होते ही मुक्ति होती है। जिसको जिस भव में मुक्ति मिलना है उसके उस भव में एक भुज्यमान आयु के अतिरिक्त सत्ता में कोई दूसरी आयु का अस्तित्व नहीं रहता। आप लोगों की भव से भवान्तर की यात्रा पूर्ण प्रबन्ध के साथ चलती है। गाड़ी आगे ले जाने वाले पेट्रोल का प्रबन्ध करके ही चलते हैं और उस प्रबन्ध के

करने को आप कितने सावधान रहते हैं? चाहे चींटी हो, हाथी हो, नारकी हो, देव हो, मनुष्य हो कोई भी हो यहाँ तक कि निगोदिया जीव को भी मरण करना है तो वह भी आयुकर्म का प्रबन्ध करके चलता है। तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण तीनों लोक क्षेत्र में पेट्रोल टैंक खुले हैं, जो हमेशा चौबीसों घण्टे खुले रहते हैं। जिस समय जहाँ पर रहकर जो भी इस पेट्रोल का प्रबन्ध करना चाहे, वहीं पर कर सकते हैं और अपनी जीवन रूपी गाड़ी को आगे बढ़ाकर ले जा सकते हैं। इस प्रकार निगोदिया जीव से लेकर सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि महाराजों तक के लिए प्रबन्ध मिल सकता है। इसके आगे के गुणस्थानों में आयुकर्म बन्धरूपी पेट्रोल लेने की आवश्यकता नहीं होती। उपशम श्रेणी वालों को आवश्यकता होती है तो उनको या तो पेट्रोल पहले से प्रबंधित रहता है अथवा नीचे छटवें-सातवें गुणस्थान में आकर या और नीचे आकर पेट्रोल की व्यवस्था करते हैं। यदि वे तद्भव मोक्षगामी होते हैं, तो क्षपक श्रेणी चढ़कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। अतः नवीन पेट्रोल के प्रबन्ध की आवश्यकता ही नहीं होती।

तीन लोक में आप कहीं भी चले जाओ कर्मबन्ध की व्यवस्था एक समय के लिए भी नहीं रुकती, लेकिन यदि आप वीतरागता को अपनाओगे तो संभवतः कर्म काँप सकता है, कर्म को पसीना आ सकता है अर्थात् कर्मबन्ध की प्रक्रिया रुक सकती है। जैसे-जैसे आपकी वीतरागता बढ़ती जायेगी वैसे-वैसे कर्म भी पसीजते जायेंगे और एक दिन निश्चित ही कर्मों से मुक्ति मिल जायेगी।

जिस प्रकार रोगी के रोग को देखकर परिवार के लोग डर जाते हैं, चिन्तित हो जाते हैं, उसकी सेवा वैय्यावृत्ति में लग जाते हैं। यदि स्वयं असमर्थ हों तो हॉस्पिटल में भर्ती कर दिया जाता है, डॉ० सा. देखते हैं। वे भी चिन्तित हो जाते हैं और कह देते हैं कि बस अब यह एक घण्टे का मेहमान है, ऐसा सुनते ही आपकी आँखों में पानी आ जाता है। किन्तु आपकी आँखों में आँसू मात्र आ जाने से रोगी को बचाया नहीं जा सकता। उसी प्रकार कर्म के क्षेत्र में सोचो कि रोने मात्र से कर्म बन्ध रुकने वाला नहीं है। बल्कि कर्म क्या है? यह कौन-सा कर्म है? क्यों बँधा है? कैसे बँधा है? बन्ध का कारण क्या है? इससे दूर होने के कारण क्या हैं? यह कर्म दूर हो सकता है या नहीं ? इन सभी प्रश्नों के बारे में अगर हम गहनता से विचार करें तो पायेंगे कि मृत्यु आयु कर्म के समाप्त होने की प्रक्रिया मात्र है। इसलिए मृत्यु कोई भयकारी चीज नहीं है, यह श्रद्धान करके मुमुक्षु कहता है कि-

''**न मे मृत्युः कुतो भीतिः**'' जब मैं मर नहीं सकता तो डर किस बात का ? ''**न मे व्याधिः कुतो व्यथा**'' अर्थात् मेरे पास कोई रोग नहीं है फिर व्यथा या दुःख किस बात का ? प्रत्येक प्राणी सोचता है कि मैं अपनी व्यथा किसको सुनाऊँ ? कोई सुनने वाला भी नहीं है। केवली भगवान् भी यदि सुनें तो इतनी अधिक व्यथा को सुनते-सुनते वे थक जायेंगे। जबकि केवली भगवान् को सुनने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि उन्हें तो सब देखने-जानने में आ रहा है कि आपको कितनी

व्यथा है? आपकी दृष्टि में तो कुछ भी नहीं आता। अपने जन्म को भी आप नहीं देख पाते क्योंकि जन्म के समय आँखें बन्द रहती हैं और अपने मरण को भी नहीं देख पाते क्योंकि मरण के पहले ही आँखें बन्द हो जाती हैं, फिर भी कहते हो कि क्या करें ? हमारी व्यथा को कौन सुनने वाला है? भगवान् को सुनाने की जरूरत ही नहीं है, क्योंकि आप तो अपना एक ही जीवन का परिचय बता रहे हैं। लेकिन भगवान् के पास तो आपकी अनन्तकाल की पर्ची है। शरीर में व्याधि होना यह शरीर की दशा का परिवर्तन मात्र है। प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। उसको जानो, देखो, समझो, तो निष्कर्ष यह होगा कि यह कोई व्याधि नहीं है। शरीर में व्याधि होना शरीर का परिवर्तन है आत्मा में कोई व्याधि नहीं होती। आत्मा में यदि कोई व्याधि है तो वह है राग, द्वेष, मोह। इनसे आत्म-स्वरूप को पृथक् जानो देखो। राग, द्वेष, मोह भी कर्मोदयजन्य अवस्था है आत्मा का स्वरूप नहीं है, यह वास्तविकता समझ में आयेगी। फलतः मृत्यु, व्याधि या जन्म के कष्ट का अनुभव नहीं होगा वरन् उनमें समता बनी रहेगी।

शरीर में व्याधि, दुःख, पीड़ा जो भी होते हैं, उस समय भेदविज्ञान का प्रयोग करना चाहिए। भेदविज्ञान क्या है? आचार्य कहते हैं सम्यग्ज्ञान का नाम भेदविज्ञान है। पर को पर के रूप में स्व को स्व के रूप में स्वीकार करने का नाम भी भेदविज्ञान है। शरीर एवं शरीरजन्य व्याधियों से भिन्न अपने चैतन्य आत्मतत्त्व को देखने का नाम भी भेदविज्ञान है। जब भेदविज्ञान होता है उस समय मुमुक्षु को वस्तु स्थिति का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है फलतः आनन्द की अनुभूति भी होती है। उसे भेदविज्ञान के बल पर यह ज्ञात होता है कि अरे! मैं तो अपने रोगों से इतना अधिक परेशान था, दुःखी था, पीड़ित था लेकिन जब मैंने यह समझा कि मैं तो एक स्वस्थ आत्मतत्त्व हूँ। रोग, व्याधि आदि तो शरीर जन्य परिवर्तन हैं। तब से मैंने सोच लिया कि रोग होने पर व्यथा मानने की आवश्यकता ही नहीं है। अतः मुमुक्षु को हमेशा शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् देखने व अनुभव करने का अभ्यास करना चाहिए। इस भेदविज्ञान का अभ्यास होने के उपरान्त मुमुक्षु को देह में व्याधि होने पर पीड़ा अनुभूत नहीं होती, देह की क्षीणता होने पर दुःख नहीं होता।

प्रारंभिक अवस्था में साधक को भेदविज्ञान का अभ्यास कराया जाता है कि मैं बालक नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ, मैं तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वाला चैतन्य शक्ति युक्त आत्म-तत्त्व हूँ । जिसका यह अभ्यास मजबूत हो जाता है, दृढ़ हो जाता है फिर उसे समझाने की या अभ्यास कराने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे कि जिसकी जठराग्नि मन्द होती है तो उसे कहना पड़ता है कि यह खाओ, वह खाओ, नपा-तुला खाओ, पथ्य का सेवन करो, तला हुआ मत खाओ आदि। लेकिन जिसकी जठराग्नि तीव्र होती है उसे कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं होती। क्षमता के अनुसार, शक्ति के अनुसार विवेक का ध्यान रखते हुए कार्य किया जाता है तो सफलता प्राप्त होती है। भेदविज्ञान के अभ्यास में भी क्षमता, शक्ति एवं विवेक का ख्याल रखना आवश्यक होता है।

अभ्यास को दृढ़ बनाने के लिए बार-बार भावनाओं की जरूरत होती है। जैसे विद्यार्थी को शुरूआत में स्कूल प्रवेश के समय उसके हाथ में एक स्लेट-पेन्सिल, पुस्तक और कलम आदि रखने को एक बस्ता दिया जाता है। अध्यापक विद्यार्थी को पहले पुस्तक से 'अ-आ' पढ़ाता है। जिससे उसके मस्तिष्क में 'अ-आ' के पहचान का संस्कार बनता है। फिर इसके उपरान्त 'अ-आ' हाथ में भी आ जाये अर्थात् पढ़ने के साथ-साथ लिखने में भी आ जाये तो उसे स्लेट पर 'अ-आ' लिखने का अभ्यास कराता है। जैसा शिक्षक ने स्लेट पर लिखकर दिया उसी पर विद्यार्थी को बार-बार लिखवाया जाता है। इसके उपरान्त उससे अलग से 'अ-आ' अनेक बार लिखने को कहा जाता है, जब वह स्वयं बिना देखे स्लेट को पूरी लिखकर भर देता है तब उसके हाथ में भी 'अ-आ' आ जाता है। इसे अभ्यास कहते हैं। लेकिन यह अभ्यास तभी तक कराया जाता है जब तक कि वह अभ्यस्त न हो जाये। उसका प्रत्यय अर्थात् ज्ञान जब मजबूत हो जाता है तो अभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जिस समय अभ्यास करवाया जाता है उस समय यदि विद्यार्थी यह सोच ले कि इसमें क्या रक्खा है? क्या होता है 'अ-आ' सीखने का अभ्यास करने से ? बड़े हो जायेंगे तो अपने आप सीख जायेंगे। बड़े होने पर बड़ी-बड़ी पुस्तकें स्वतः ही पढ़ लेंगे जैसे पिता जी पढ़ लेते हैं। लेकिन उसका ऐसा सोचना उचित नहीं है। बल्कि उसे यह बताना चाहिए कि तुम्हारे पिता जी ने भी, जब वे छोटे थे तब ऐसे ही अक्षरों को सीखने का अभ्यास किया था। इससे उसका सीखने का, पढ़ने का, लिखने का अभ्यास उत्साहपूर्वक बढ़ सकता है।

अभ्यास के प्रयोग ऐसे ही होते हैं। इसी प्रकार भेदविज्ञान के अभ्यास के प्रयोग को भी मजबूत बनाओ। जिसका भेदविज्ञान मजबूत होता है उसका ध्यान का अभ्यास भी दृढ़ होता चला जाता है। बिना भेदविज्ञान के ध्यान में एकाग्रता नहीं आती और एकाग्रता नहीं होने से ध्यान में बैठते ही घड़ी की ओर ध्यान जाता है। लगता है कि कब का बैठा हूँ ध्यान में, सामायिक में अभी तक स्वाध्याय की घण्टी नहीं लग रही है, क्या बात हो गई अभी तीन नहीं बजे क्या ? इस प्रकार की विकल्पात्मक मनः स्थिति रहती है, लेकिन भेदविज्ञान के बल पर जो ध्यान में अभ्यस्त हो जाता है उसे इस प्रकार के विकल्प ही नहीं आते कि कितने बज गये, घण्टी लगी या नहीं, स्वाध्याय का समय हुआ या नहीं इत्यादि। जिसका ध्यान में मन नहीं लगता वह जितनी भी देर बैठता है केवल समय काटता है, लेकिन जिसका मन ध्यान में अच्छा लगता है वह जितनी भी देर ध्यान करता है कर्म काटता है अर्थात् कर्म निर्जरा करता है।

ध्यान की बात भेदविज्ञान के अभ्यास से सीख लेना चाहिए। अपने जीवन के आदि से लेकर अन्त तक कितना भी शब्द-ज्ञान करो उसमें उतना आनन्द नहीं आता जितना एक बार भेदविज्ञान होने पर आता है क्योंकि भेदविज्ञान प्रयोगात्मक है जबकि ज्ञान सैद्धांतिक है। भेदविज्ञान के प्रयोग से एक दिन में जितना आनन्द आता है उतना आनन्द जीवन भर पढ़ते-पढ़ते भी नहीं आ पाता। एक

अक्षर का भी ज्ञान न हो लेकिन भेदविज्ञान मजबूत है तो केवलज्ञान हो सकता है। इसलिए भेदविज्ञान को मजबूत बनाओ और विचार करो कि "**नाहं बालो न वृद्धोऽहं**" अर्थात् मैं बालक नहीं हूँ, मैं वृद्ध नहीं हूँ "**न युवैतानि पुद्गले**" न मैं युवक हूँ किन्तु ये सभी पुद्गलात्मक शरीर की दशायें हैं। क्या आपने कभी सोचा कि मैं बालक नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ ये तो सब शरीर में होने वाली अवस्थायें हैं। शरीर नोकर्म रूप है। इसका परिणमन शरीरनामकर्म एवं गतिनामकर्म के उदयानुसार होता है। गतिनामकर्म जीवविपाकी कर्म है। वेदकर्म भी जीवविपाकी कर्म है। इनके उदय में जीव अपने आपको पुरुष या स्त्री रूप में महसूस करता है। जीवविपाकी कर्म जब उदय में आते हैं तो तन्मयता के साथ उनका अनुभव होता है। मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरकगतिनामकर्म के उदय में जीव अपने आपको मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकी के रूप में अनुभव करता है, क्योंकि इनका फल जीव में मिलता है। वैसे तो सभी कर्मों का फल जीव को ही मिलता है, लेकिन किन्हीं कर्मों के फल में क्षेत्र निमित्त बनता है, किन्हीं में पुद्गल निमित्त बनता है, किन्हीं में भव निमित्त बनता है। सभी घातिया कर्म जीव विपाकी हैं। इन सभी में भी मोहनीय कर्म से हटकर जब आत्म-तत्त्व का चिन्तन करते हैं तो जीव का समीचीन स्वरूप समझ में आता है कि जीव न मनुष्य रूप है, न तिर्यंच, न देव रूप है, न नारकी स्वरूप, जीव तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव वाला है।

सनातन शाश्वत जो द्रव्य है उसकी ओर दृष्टि नहीं रहने से यह जीव पर्यायों में मूढ़दृष्टि को प्राप्त होता है। बालक, प्रौढ़, वृद्ध ये तीनों अवस्थायें जीव द्रव्य की पर्यायें हैं, जो शाश्वत नहीं होती किन्तु विनश्वर होती हैं। अपने आपको बालक, युवा, वृद्ध स्वरूप समझना द्रव्यदृष्टि नहीं है किन्तु पर्यायबुद्धि है। मोहनीय कर्म से प्रभावित होकर जीव इन पर्यायों में ही घुल-मिल कर रहता है और मकड़ी की भाँति स्वयं अपने कर्मबन्धन का जाल बुनता है और उसी में फँस जाता है। बारहसिंघा तिर्यंचगति का जीव है, उसके बारह सींग होते हैं। जब वह झाड़ियों के बीच में घास-फूस खाने चला जाता है और वहाँ से कुछ पत्ते खाने को जब अपना मुख झाड़ियों के अंदर करता है तब उसमें एक सींग फँस जाता है। उसे निकालने का प्रयास करते-करते उसके शेष सींग झाड़ी में फँसते चले जाते हैं। अन्त में वहीं पर उसकी मृत्यु भी हो जाती है। चूँकि उसके सींग टेड़े-मेड़े रहते हैं, इसलिए जल्दी फँस जाते हैं, सीधे हों तो फँसने की संभावना नहीं रहती। इसी प्रकार पहले पति-पत्नि फिर धीरे-धीरे चौपाये, छैपाये फिर अष्टापद फिर बारहसिंगा इत्यादि अवस्थायें होती रहती हैं। इनमें यह जीव ऐसा फँस जाता है कि निकलना चाहे और प्रयास करे तो भी निकल नहीं पाता बल्कि उसी में फंसता जाता है। जैसे-जैसे परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ती जाती है वैसे-वैसे वह परिषद् जैसी बन जाती है। फिर वह परिषद् परीषह जैसे कष्ट देने लग जाती है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि- ऐसे जाल क्यों बुनते हो, जिसमें हमें स्वयं को ही फंसना पड़ता है। इससे यदि मुक्ति चाहते हो तो, भेदविज्ञान की बात को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

जिसके पास भेदविज्ञान होता है वह व्यक्ति पर द्रव्य के साथ कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व बुद्धि नहीं रखता फलतः वह पर द्रव्य का कर्ता, भोक्ता, स्वामी कुछ भी नहीं होता। जैसे कि–नाती का आनन्द दादा जी को नहीं आ सकता, दादाजी का आनन्द नाती को नहीं आ सकता। पिता का आनन्द पुत्र को नहीं और पुत्र का आनन्द पिता को नहीं आ सकता। क्यों नहीं आ सकता ? क्योंकि यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्वामी नहीं होता है तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता–भोक्ता भी नहीं होता।

यह संसार एक जाल है, आखिर! कब तक इसमें फंसे रहोगे ? यहाँ तो भोजन के पहले भी आकुलता, भोजन के बाद भी आकुलता, निर्धन या धनी हो गया तो भी आकुलता, बच्चे नहीं थे, बच्चे हो गये, मकान नहीं था मकान भी बन गया आबाद हो गये। वास्तव में आबाद हुए या वाद–विवाद में फँस गये।

अंतिम चरण में आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी कहते हैं–''**न युवैतानि पुद्‌गले**'' अर्थात् बाल, वृद्ध, युवा यह सभी जीवत्व या जीव का स्वरूप नहीं है किन्तु ये सभी पुद्‌गल की अवस्थायें हैं। यही भेदविज्ञान हमेशा बनाए रखना हमारा पुरुषार्थ है इसी आत्म–पुरुषार्थ को करते रहना चाहिए।

उत्थानिका–भावक अर्थात् भावना करने वाला स्वयं ही प्रतिबोध को प्राप्त होकर सोचता है कि–नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि–

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्‌गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

अन्वयार्थ– **(सर्वे अपि)** सभी **(पुद्‌गलाः)** पुद्‌गल परमाणु **(मया मोहात्)** मेरे द्वारा मोह से **(मुहुः)** बार–बार **(भुक्तोज्झिता)** भोगे और छोड़े जा चुके हैं अतः **(अद्य)** अब **(उच्छिष्टेषु इव)** जूठन के समान **(तेषु)** उन पुद्‌गलों में **(मम विज्ञस्य)** मुझ बुद्धिमान् की **(का स्पृहा)** क्या लालसा हो सकती है?

मोह-भाव से विगत-काल में, मुझसे ये पुद्‌गल-सारे,
बहुत बार भी, बार-बार भी, भोगे, छोड़े, उर धारे।
वमनरूप-सम भोगों में अब, मेरा मन यदि फिर जाता,
विज्ञ बना मुझको शोभा क्या? देता उत्तर लजवाता ॥३०॥

Again and again, through delusions, have the bodies of matter been enjoyed and thrown off by me; how can I long for them now that I am endowed with true wisdom; for no one likes to eat the leavings.

Note - In the past infinity of time, during which the immortal soul has

never ceased to exist, it has put on all kinds of bodies and enjoyed, again and again the pleasures appertaining to embodied existence, through them, throwing them off always at the end of each form of life. The bodies and things of matter are thus like the leavings in a plate which nobody will like to eat. The Right Believer, whose vision has been clarified to perceive the true side of Life, therefore, cannot long for them, since it will be like a longing to eat the leavings and refuse.

विवेचना—मोह एवं अविद्या के आवेश में आकर इस संसारी प्राणी ने कर्म, नोकर्मरूप में लोक की समस्त पुद्‌गल वर्गणाओं को बार-बार भोगा और छोड़ा। कुछ भी नया नहीं है फिर भी अविद्या के कारण नये को पुराना और पुराने को नया मानकर ग्रहण करता है और छोड़ता है। मोह के प्रभाव से विपरीत मान्यतायें उत्पन्न होती है, जिनके कारण सारभूत वस्तु को असार समझकर और असार को सारभूत समझकर उन्हीं असार पुद्‌गलों को बार-बार ग्रहण करता है। भेदविज्ञान के अभाव में ऐसा ही होता है।

संसारी प्राणी की स्थिति उस श्वान की तरह है, जिसने अपने मुख में हड्डी रखी है, वह उसे चबाता है, बार-बार चबाता है। चबाते-चबाते उसके मसूड़ों में दर्द होने लगता है बाद में चबाने की क्रिया को बन्द करता है। चर्वण क्रिया बन्द करने से उसके मुख की हड्डी नीचे गिर जाती है, फिर भी स्वाद आता रहता है। उस समय वह चर्वण करते-करते अपने ही मसूड़ों से निकले खून का स्वाद लेता रहता है। इसी प्रकार संसारी प्राणी पञ्चेन्द्रियों की विषय-भोग सामग्री में सुख का अनुभव करता है जबकि वह सुखाभास है। यदि भोग सामग्री में सुख होता तो सबको सुख होना चाहिए।

जैसे कि अस्सी साल का कोई वृद्ध है, जिसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो चुकी हैं, दाँत निकल चुके हैं, स्वाद लेने की क्षमता ही नहीं रह गई है, क्योंकि ज्वर चढ़ा है उसे आप खाने के लिए लड्डू भी दे दें, हलवा दे दें, गुलाबजामुन दे दें तो भी उसे कड़वा ही स्वाद आयेगा। यदि मधुर रस में सुख है तो उस वृद्ध को भी सुख का अनुभव होना चाहिए। जबकि लड्डू, हलवा आदि का सेवन करते समय भी उस वृद्ध की मुखाकृति बिगड़ी हुई दिखती है। जैसे कोई कष्ट हो रहा हो। ऐसा क्यों होता है? क्या उस वृद्ध के असाताकर्म का उदय आ गया, तो कह सकते हैं कि कर्म भी परिवर्तित होकर उदय में आ गया और नोकर्म में परिवर्तन आ गया हो। कर्म का फल नोकर्म के माध्यम से अनुभूत होता है। यदि नोकर्म परिवर्तित हो गया तो कर्मोदय भी परिवर्तित होकर फल का अनुभव करायेगा। इस प्रकार से कर्मफल चेतना बदलती रहती है।

ज्ञानी जीव इन बदलती हुई कर्मफल चेतना के बीच अपने भेदविज्ञान को मजबूत बनाए

रखता है, जिसके माध्यम से वह सुख का अनुभव करता रहता है। उसे यह ज्ञात होता है कि सुख का अनुभव न कर्म में हैं, न नोकर्म में किन्तु सुख का अनुभव अपनी चैतन्य शक्ति के द्वारा होता है। इस भेदविज्ञान के बल पर वह इधर-उधर की बातों को छोड़कर ज्ञान स्वभाव का चिन्तन करता है तथा दुनिया के समस्त पदार्थों को ''उच्छिष्ट-वमन'' के समान समझता है। जिससे पञ्चेन्द्रियों के विषय सेवन के समय आसक्ति का भाव भी नहीं रहता और उन्हें बार-बार भोगने का मन भी नहीं करता बल्कि उन्हें छोड़ने का प्रयास करता है। मानलो आप भोजन कर रहे हैं और बीच में वमन हो जाये तो आप क्या करेंगे ? जिस भोजन को रुचि पूर्वक कर रहे थे, अब उसी भोजन को देखकर उल्टी होने लग जाती है तो भोजन करना बन्द कर देते हैं। संसारी प्राणी भोजन को तो छोड़ देता है किन्तु भोगकर छोड़े हुए वमन सम लोक के समस्त पुद्गलों को बार-बार ग्रहण करने की इच्छा करता है। वमन सम भोजन को पुनः कौन ग्रहण कर सकता है? मात्र एक बुद्धिहीन, अविवेकी, अज्ञानी बालक ही ऐसा कर सकता है। आपने देखा होगा कि छोटे बालक को माँ दूध पिलाती है। लेकिन वह दूध अंदर रहने वाली विकृति के परिणाम स्वरूप दही के रूप में बाहर आ जाता है फिर बालक उसे दूध समझकर पुनः पीने की कोशिश करता है। उसी प्रकार जिनवाणी माँ दुग्ध रस के समान हितकारी वचनामृत का पान कराती है और कहती है कि दुनिया के सभी पदार्थ उल्टी के समान हैं। इनको तुमने बार-बार भोगा है और छोड़ा है उन्हीं को पुनः ग्रहण किया और पुनः छोड़ा है। अब और कब तक इस वमन को ग्रहण करोगे ?

अज्ञानी, अविवेकी संसारी प्राणी जिनवाणी माँ के वचनामृत का कोई महत्त्व नहीं समझता। लेकिन ज्ञानी जीव सोचता है कि अरे! माँ के वचनों पर विश्वास करो और ''**उच्छिष्ट सम**'' इन पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा समाप्त करो। फलतः वह कहता है कि इन सभी पदार्थों में क्या इच्छा करना ? ''**मम विज्ञस्य का स्पृहा**''। जो उच्छिष्ट है उससे विरक्त हो जाता है।

''मोह महामद पियो अनादि''॥ छहढाला, १/३ ॥

मोहरूपी मदिरा के नशे में और अज्ञान के अंधकार में संसारी प्राणी को यह वास्तविकता समझ में नहीं आती। कैसी दशा हो रही है फिर भी कोई ख्याल नहीं आता। क्या करें ? तीव्र कर्मोदय में ऐसा ही होता है।

एक बात और बताता हूँ कि कोई भी व्यक्ति 'बारह-भावनाओं' पर बहुत सुन्दर और बृहद् ग्रन्थ लिख सकता है, लिखने वाला अपने ज्ञान से एक बार नहीं बारह-बार भी बारह भावनाओं पर ग्रन्थ लिख सकता है, लेकिन उसे बारह भावनाओं को भाने का अवसर एक बार भी न मिले, ऐसा हो सकता है। ऐसा कैसे हो सकता है? तो भावनाओं को भाना यह एक प्रयोग है। इसका प्रयोग करना बहुत दुर्लभ होता है। तीर्थंकर भी जब तक घर में रहते हैं बारह-भावना नहीं भाते और जिस समय बारह भावना भाते हैं तो फिर घर में नहीं रहते। जिस समय वे बारह-भावना भाते हैं, उनका

चिन्तन करते हैं, उसी समय स्वर्ग से लौकांतिक देव आ जाते हैं और उनके चिन्तन की सराहना करते हैं क्योंकि वे लौकांतिक देव स्वयं भी इन बारह भावनाओं के प्रयोग के समर्थक होते हैं।

''बारह भावनाओं पर प्रवचन करना, उनकी विवेचना करना, यह ज्ञान की बात है। लेकिन बारह भावनाओं को भाना उनका चिन्तन करके प्रयोग करना यह भेदविज्ञान की बात है।'' बारह भावनाओं का बार-बार चिन्तन करने से हमारा मस्तिष्क बिल्कुल तनाव रहित और साफ सुथरा हो जाता है। ज्ञान भी दृढ़ हो जाता है। नया-नया भेदविज्ञान उत्पन्न होता जाता है और वह भी मजबूत होता जाता है।

''कहाँ गये चक्री जिन जीता भरत खण्ड सारा।'' मंगतराय, २

इस भावनात्मक पंक्ति से हम अतीत में हुए चक्रवर्ती के बारे में सोचते हैं कि जिस चक्रवर्ती ने सारा का सारा भरत क्षेत्र जीत लिया था वह भी जब यहाँ सुरक्षित नहीं रहा तो हमारी और आपकी क्या बात? क्या हम यहाँ सुरक्षित रह पायेंगे या ये समस्त पदार्थ सुरक्षित रहेंगे ? इत्यादि रूप से बारह भावना की बात हमारे अंदर आ जाती है और इन भावनाओं के लिए जो कोई भी कारणभूत पदार्थ होते हैं वे हमारे लिए भेदविज्ञान की पृष्ठभूमि का काम करते हैं।

देखो, भावना भाने का कितना महान् फल होता है? वैराग्य-भावना या बारह-भावना के वातावरण से जब व्यक्ति बाहर होता है, तो चक्रवर्ती के वैभव को जानकर चक्रवर्ती बनने की भावना जागृत हो जाती है और वैराग्य-भावना या बारह-भावना के वातावरण में रहने से जो अतीत में चक्रवर्ती हो गये ''वे कहाँ गये'' इस प्रकार की वैराग्य भावना उत्पन्न हो जाती है। भावनात्मक विचार क्षेत्र की अपेक्षा बाहर का क्षेत्र अलग होता है। एक में वैराग्य भाव पैदा हो सकता है तो दूसरे में राग भाव पैदा हो जाता है। अतः यह निश्चित बात है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के माध्यम से भावनाओं में भी परिवर्तन होता हुआ देखा जाता है। प्रेक्टीकल में ज्यादा नम्बर मिलते हैं, थ्योरी की अपेक्षा। प्रयोग में तो जितने नम्बर रखे हैं उतने पूरे भी मिल सकते हैं क्योंकि प्रेक्टिकल में वस्तु का साक्षात्कार होता है। जिस समय वस्तु का साक्षात्कर होना प्रारम्भ होता है तो संतुष्टि होती है क्योंकि उसे यह अनुभूत होता है कि जैसा हमने ज्ञान किया था वैसा आज देखा लिया। साक्षात्कार करने से उसका श्रद्धान और अधिक मजबूत होता चला जाता है।

''भेदविज्ञान के माध्यम से ज्ञान प्रौढ़ होता चला जाता है और भेदविज्ञान के अभाव में ज्ञान लचकदार हो जाता है।'' जीवनपर्यन्त आप ज्ञान की कितनी भी चर्चा करो तो भी ज्ञान संयत नहीं हो पाता, लेकिन भेदविज्ञान होने पर ज्ञान संयत हो जाता है। सैकड़ों हजारों ग्रन्थ पढ़ने की अपेक्षा एक बार भेदविज्ञान प्राप्त करने का अभ्यास करो। जैसे कि मान लो कुम्भकार ने सैकड़ों घट बनाए, उन्हें रखने के लिए व्यवस्थित स्थान का अभाव होने से वर्षा होने पर सभी घट गल गये, बह गये, नुकसान हो गया इसलिए सैकड़ों घट बनाने की अपेक्षा ५ घट या व्यवस्था के अनुसार घट बनाओ,

नियन्त्रित बनाओ। यहाँ पर प्रयोगशाला में आकर संयत ज्ञान की उपलब्धियों से आत्मिक आनन्द प्राप्त करो।

प्रयोग के बिना ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं होता क्योंकि प्रयोग के बिना ज्ञान संयत नहीं होने से मलिन बना रहता है, असंयम की धूल से मलिन हो जाता है। भेदविज्ञान होने के उपरान्त ज्ञान में मलिनता नहीं आती बल्कि मलिन ज्ञान निर्मल होता चला जाता है। भेदविज्ञानी प्रत्येक कार्य को सावधानी के साथ करता है। अतः भेदविज्ञान को सुरक्षित बनाने का प्रयास करते रहिये, इसी का नाम मोक्षमार्ग है।

पुद्गल द्रव्य संवेदनशील नहीं है इसलिए वह स्वयं का कर्ता होते हुए भी स्वयं का भोक्ता नहीं होता और स्वयं का ज्ञाता भी नहीं होता, क्योंकि जो पदार्थ संवेदनशील होते हैं वे ही स्व और पर पदार्थों के ज्ञाता होते हैं। स्वभाव दशा में जीव पर का ज्ञाता होते हुए भी पर का संवेदन करने वाला नहीं होता। जब जीव के समस्त संयोगज भाव समाप्त हो जाते हैं तो उसका ज्ञान केवलज्ञान चेतना स्वरूपमय हो जाता है।

जब जीव स्वयं अपना ही कर्ता होता है तो स्वयं को सिद्ध क्यों नहीं बना लेता ? क्यों नहीं बना पा रहा है? आचार्य कहते हैं कि जीव स्वयं को सिद्ध बनाने में स्वतन्त्र तो है लेकिन वर्तमान में कर्मसापेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र नहीं है। जैसे कि जानने-देखने की शक्ति होते हुए भी प्रकाश के अभाव में हम देख नहीं पाते, दूर की आवाज होने के कारण कान होने पर भी हम सुन नहीं पाते। इन्द्रिय में यदि कुछ भी गड़बड़ हो जाती है तो वह अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो पाती। जब तक इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान होगा अर्थात् जब तक इन्द्रियजन्य ज्ञान रहेगा तब तक पराधीनता भी रहेगी।

आज सबके मन में अपना हित करने की भावना है, लेकिन हित कर नहीं पाते, क्योंकि कर्म की परतन्त्रता साथ में है, कर्म का प्रभाव है। जीव स्वयं कर्मों के कारण इतनी दीन-हीन जघन्य दशा का अनुभव करता है कि चाहते हुए भी अपना हित नहीं कर पाता। अपना हित करने के लिए उत्साहित होना चाहता है फिर भी वीर्यान्तराय कर्म का तीव्र क्षयोपशम न होने के कारण अथवा वीर्यान्तराय कर्म का उदय होने के कारण उत्साहित नहीं हो पाता। अतः अनन्त वीर्य को प्रकट करने में सक्षम नहीं हो पाता। इस विवक्षा से जीव को कर्म काटना भी अपने हाथ की बात नहीं है। आज ढाईद्वीप के भरत, ऐरावत क्षेत्रीय मनुष्य या तिर्यञ्च सोलहवें स्वर्ग से ऊपर जाना चाहें तो नहीं जा सकते। क्यों नहीं जा सकते ? तो आचार्य कहते हैं कि उसके पास इस प्रकार के कर्म बाँधने की क्षमता नहीं है। ऐसी स्थिति में वह कमजोर और दीन हो जाता है फिर आत्मा का हित कब होगा? इसको आगे की कारिका में बतायेंगे।

उत्थानिका—यहाँ पर शिष्य कहता है कि वे पुद्‌गल क्यों बँध जाते हैं? अर्थात् जीव के द्वारा पुद्‌गल क्यों और किस प्रकार से हमेशा बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं?

कर्म कर्म - हिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥३१॥

अन्वयार्थ—(कर्म) कर्म **(कर्महिताबन्धि)** अपने हित रूप साथी कर्मों को ही बाँधता है तथा **(जीवः)** आत्मा **(जीवहितस्पृहः)** अपने आत्मा के हित की इच्छा करता है **(स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे)** अपने-अपने शक्तिशाली प्रभाव के होने पर **(को वा स्वार्थं)** कौन-सा व्यक्ति अपना हित **(न वाञ्छति)** नहीं चाहता?

कर्म चाहता तभी कर्म-हित, कर्म-कर्म से जब बंधता,
जीव चाहता तभी जीवहित, जीवन जिससे है सधता।
अपने-अपने प्रभाव के वश, बलशाली हैं जब होते,
स्वार्थ सिद्धि में कौन-कौन फिर, तत्पर ना हो? सब होते ॥३१॥

Kamra works in its own cause; the soul works for its own good : who is there in the world that will not work for his own good when he has the power to do so ?

Note - Since *karma* produces *karma*, and thus is the cause of the perpethation of the soul's bondage, it is here described as working in its own cause, the soul also works for its own good, that is to say against the *karmic* power, when it is able to do so. The interests of the two thus clash with each other. The *acharya* here exhorts the soul that has acquired the wisdom of the saints to gird up its loins for the destruction of the enemy; further is no one in the world who will not like to destroy his foe when he has the power to do so, especially such a foe or *karma*, that acts by stealth and strikes mercilessly and hard.

विवेचना—जीव जीव का हित चाहता है, कर्म कर्म का हित चाहता है। कर्म जब कमजोर होता है तब जीव बलजोर होता है और जीव जब कमजोर होता है तब कर्म बल जोर होता है। कर्म को नष्ट करने के लिए जीव को विशुद्धि की एक विशिष्ट भूमिका का निर्वाह करना आवश्यक होता है। कर्म के तीव्रोदय में कर्म नहीं कटते किन्तु कर्म के मन्दोदय में विशुद्धि होने पर कर्म कटते हैं। जीव के अंदर हित का परिणाम हमेशा नहीं रहता सुबह हित का भाव होता है शाम तक नहीं रहता, शाम को होता है तो सुबह तक नहीं रहता।

जैसे कोई तैराक है तैरने में निष्णात है फिर भी वह उस समय अपने तैरने की कला को नहीं दिखा सकता। जिस समय नदी में वेग तीव्र होता है तब डूबने की संभावना रहती है। नदी को पार करना है तो आषाढ़ की बाढ़ युक्त नदी में आप नहीं कूदते। जब एक-दो दिन वर्षा नहीं होती फलतः नदी का वेग कम हो जाता है साथ ही उस समय यदि आपका संवेग भी कम हो जाये तब भी नदी पार नहीं की जा सकती, क्योंकि वेग भी कम और संवेग भी यानि इच्छा भी कम और हाथ पैर हिलाने की प्रवृत्ति भी कम हो जाती है अत: तैरने की क्रिया सफल नहीं हो पाती। वेग भले ही कम हो परन्तु पानी अच्छी मात्रा में हो और हाथ-पैर भी यथायोग्य प्रवृत्त हों तो तैरने की क्रिया सफल होती है। आपका संवेग (इच्छा) उस समय कार्य करने में सफल हो सकता है जिस समय आप तैरने के लिए उत्साहित हो जाते हैं और कार्य को सफल करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

निष्कर्ष यह हुआ कि जिस प्रकार तैराक संवेग भाव से नदी पार कर सकता है उसी प्रकार संसारी प्राणी संवेग-निर्वेग भावों के द्वारा संसाररूपी समुद्र को पार करने में सक्षम हो सकता है। संवेग-निर्वेग भावों के बिना संसार-समुद्र को तीन काल में भी पार नहीं किया जा सकता।

संसारी प्राणी कर्मोदय की तीव्र अवस्था होने के कारण अपने हित की चिन्ता छोड़कर दूसरे के हित की चिन्ता करता है, किन्तु कर्म के कमजोर होने पर जीव जब स्वयं बलजोर होता है तब अपना हित करने में सफल हो सकता है। जिस समय जीव कमजोर हो जाता है अर्थात् जीव जब रागद्वेष करता है तो कर्म बन्ध होता है। जीव कर्म बाँधना नहीं चाहता तो भी कर्म बन्ध जाते हैं। अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि जिस समय कर्मों की बाढ़ कमजोर हो और जीव बलजोर बनकर छलांग लगा ले तो निश्चित रूप से वह अपना हित कर सकता है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान के द्वारा ही जीव अपना हित कर सकता है। शुक्लध्यान के लिए आचार्यों द्वारा दो उदाहरण दिये गये हैं-

जैसे कि कोई एक बालक है जो कि सशक्त नहीं है उसके हाथ-पैरों में बल कम है और उसके हाथों में एक कुल्हाड़ी दे दी, वह कुल्हाड़ी से लकड़ी को काट रहा है, लकड़ी के ऊपर धीरे-धीरे प्रहार करता चला जा रहा है जिससे बहुत देर में वह लकड़ी कटती है। लेकिन यदि कोई सशक्त जवान पहलवान लकड़ी के संधि स्थान पर एक बार प्रहार करता है; एक बार में ही वह तीन भागों में विभाजित हो जाती है। उसी प्रकार साधक धर्मध्यानरूपी कुल्हाड़ी से कर्मों पर धीरे-धीरे प्रहार करता है तो अधिक समय में कर्म कम कटते हैं लेकिन जब वह शुक्लध्यानरूपी सशक्त कुल्हाड़ी के द्वारा संधि स्थान देखकर कर्मों पर प्रहार करता है तो एक बार में ही बहुत से कर्म कट जाते हैं।

कर्म कर्म का हित चाहते हैं इसका अर्थ यह है कि पूर्वोपार्जित बलवान द्रव्यकर्म जीव में

औदयिक आदि भावों को पैदा कर नवीन द्रव्यकर्मों को ग्रहण कर अपनी संतान को पुष्ट करता है। जीव, जीव का हित चाहता है। इसका अर्थ स्वतः सिद्ध है कि जीव स्वात्मोपलब्धि रूप मोक्ष को चाहता है इसीलिए मोक्ष प्राप्ति के साधनभूत रत्नत्रय, चार आराधना आदि को अपनाकर मोक्षमार्ग को प्रशस्त करता है इसी से जीव का हित होता है। इसीलिए यह सार्थक उक्ति कही गई है कि **''स्वार्थं को वा न वाञ्छति''।**

''अपने-अपने माहात्म्य के प्रभाव के बढ़ने पर स्वार्थ को अर्थात् अपनी-अपनी उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता ? सभी चाहते हैं।''

इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि अपने-अपने प्रभाव के बलशाली होने पर कौन अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं करता ? जैसे जीव यदि छठवें गुणस्थान में प्रमाद की भूमिका में आ जाता है तो वह शीघ्र ही प्रमाद से दूर होने का प्रयास करता है क्योंकि प्रमाद से जीव का अहित होता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा है कि-

''कोउ-कोउ समय आत्मा कर्म ने दाबे छै और कोउ कोउ समय कर्म आत्मा ने दाबे छै।'' यह निश्चित बात है कि कर्म के बलशाली होने पर आत्मा दब जाता है और आत्म पुरुषार्थ बलशाली होने पर कर्म दब जाते हैं। फिर भी दोनों के बीच कभी-कभी आत्मपुरुषार्थ इतना अधिक बलशाली हो जाता है कि कर्म आत्मा पर अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते। अन्ततः आत्मा की विजय हो जाती है और अन्तर्मुहूर्त में कर्मों पर प्रहार कर अनन्त काल तक के लिए विजय शील होकर वह आत्मा सिद्धालय में विराजमान हो जाता है।

उत्थानिका—इसलिए समझो कि कर्मों से बँधा हुआ प्राणी कर्मों का संचय किया करता है। जब ऐसा है तब -

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

अन्वयार्थ— (परोपकृतिं) परोपकार को **(उत्सृज्य)** छोड़कर **(स्वोपकारपरः)** अपने उपकार करने में तत्पर **(भव)** हो, **(दृश्यमानस्य)** दिखाई देने वाले **(लोकवत्)** इस जगत् की तरह **(अज्ञः)** अज्ञानी जीव **(परस्य)** पर का **(उपकुर्वन्)** उपकार करता हुआ पाया जाता है।

पर को उपकारों का अब ना, पात्र बनाओ भूल कभी,
निज पर ही उपकार करो अब, पात्र रहा अनुकूल यही।
करते दिखते सदा परस्पर, लौकिक जन उपकार यथा,
करते दिखते अज्ञ निरन्तर, पर पर ही उपकार तथा ॥३२॥

O Witless one ! thou art serving this visible show that is not thyself;

thou shouldst now renounce doing good to others and take to doing good to thine own Self !

Note - It is the way of the world that one gives up serving those who are found to be inimical to oneself. The soul has been serving its physical body and the rest of the visible sensible panorama; in the belief that its good lies with the things outside itself. But it has now learnt their real nature. They are-all the ties and joys and relationships of the world, taken together-only so many enemies in disguise ! The *acharya*, therefore. exhorts the soul that is endowed with true insight into the nature of things to abandon them to their own fate and turn to its own welfare, that is, to take self contemplation.

विवेचना—कल आपके समक्ष यह विषय रखा गया था कि कर्म, कर्म का हित चाहता है और जीव, जीव का हित चाहता है। साथ में यह भी कहा गया था कि "अपनी-अपनी उपकारक वस्तु को कौन नहीं चाहता अर्थात् सभी चाहते हैं। उसी बात को स्पष्ट करते हुए इस कारिका में आत्महित करने की प्रेरणा दी जा रही है। आचार्य कहते हैं कि आज तक संसारी प्राणी, अविद्या, अज्ञान और मोह के वशीभूत होकर शरीरादिक परद्रव्य को अपना मानकर उस पर खूब उपकार करता आया है। शरीरादिक के पोषण व संरक्षण करने में अपना समय देना ही शरीर का उपकार है। इसी को पात्र बनाकर आज तक उपकार किया है। अब गुरु उपदेश देते हैं कि इस अविद्या, अज्ञता को छोड़ो और निज को पात्र बनाकर निजात्मा का उपकार करने का प्रयास करो।

दुनिया के लोग जब तक मोहवश दूसरे को दूसरे रूप में नहीं जानते, बल्कि मोहवश पर पदार्थों को अपना मानते हैं तभी तक उन पर उपकार करते हैं। ज्यों ही ज्ञानवश अपने को अपना और दूसरे को दूसरा जानने लग जाते हैं, त्यों ही दूसरों का उपकार छोड़कर अपने आत्म-तत्त्व का उपकार करने में तत्पर हो जाते हैं। यह ज्ञानी की पहचान है, अतः अज्ञता छोड़ो और विज्ञता को स्वीकार करो। जो हमेशा दूसरे का अर्थात् शरीरादिक पर पदार्थों का उपकार करता रहता है वह उसकी अज्ञता है।

प्रश्न उठता है कि विज्ञता क्या है? इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि भेदविज्ञान के बल पर स्व अर्थात् आत्मा को आत्म स्वरूप से और शरीरादिक पुद्‌गल को पुद्‌गल स्वरूप में जानना ही विज्ञता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वास्तविक वस्तु स्थिति को जानना ही विज्ञता है और वास्तविकता को नहीं समझना ही अज्ञता है।

आचार्यों ने भी कल्याणकारी यही देशना देते हुए भव्यों को सम्बोधित किया है कि–

आदहिदं कादव्वं जदि सक्कदि परहिदं च कादव्वं।
आदहिद परहिदादो आदहिदं सुटठु कादव्वं॥
(उद्धृत भगवती आराधना टीका पृ०२५८)

तात्पर्य यह है कि पहले आत्महित करना चाहिए, यदि शक्ति हो, सामर्थ्य हो तो परहित भी करना चाहिए, लेकिन आत्महित और परहित इन दोनों में से आत्महित को अच्छी तरह कर लेना चाहिए।

बुद्धिमान् पुरुष मुख्य रूप से अपना हित पहले करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि आत्महित किए बिना शक्ति होने पर भी पर हित नहीं किया जा सकता। लेकिन अज्ञानी अपना हित छोड़कर शक्ति, सामर्थ्य नहीं होने पर भी दूसरे के हित में हमेशा तत्पर रहता है। सभी संसारी प्राणी, सामाजिक प्राणी समाज में, परिवार में रहते हुए इस बात से अनुभूत भी हो चुके हैं कि दुनिया में सबका कितना भी उपकार करो फिर भी कोई कृतज्ञता ज्ञापित नहीं करते। उपकार को उपकार स्वरूप स्वीकार नहीं करते। समय आने पर सब धोखा देते हैं। उपकारी को भी अपकारी सिद्ध करने में लगे रहते हैं फिर भी इस अज्ञ प्राणी को यह बात अपनी ही अविद्या और मोह के कारण समझ में नहीं आती। पुराणों में भी अनेक उदाहरण पढ़ने को मिलते हैं। वर्तमान में भी दिन-प्रतिदिन अपने ही लोगों के बीच, जो वास्तव में अपने नहीं हैं, लेकिन मोहवश अपना मान लिया है जैसे कि माता-पिता अपने बेटों का, अपनी सन्तान कब अपने ही माता-पिता को अपकारी कहकर उनसे मुख मोड़ ले, इसका कोई भरोसा नहीं। वृद्धावस्था में भी उनसे विमुख होकर रहते हैं या उनको विमुख कर देते हैं। इस संसार की बड़ी विचित्र स्थिति है। इस विचित्रता को जो समझ लेते हैं और आत्महित में संलग्न हो जाते हैं वास्तव में वे ही धन्य हैं।

अत: तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास करो, क्योंकि काल थोड़ा है हम सभी दुर्बुद्धि वाले हैं इसलिए ऐसा कुछ थोड़ा-सा सीख लो जिससे जन्म-जरा-मरण की संतति समाप्त हो जाये।

उत्थानिका—यहाँ पर शिष्य कहता है—किस उपाय से और स्व और पर में विशेषता (भेद) जानी जाती है और उसके जानने वाले को क्या होगा ? किस फल की प्राप्ति होगी ? आचार्य कहते हैं—

गुरूपदेशादभ्यासात् संवित्ते: स्वपरान्तरम्।
जानाति य: स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥३३॥

अन्वयार्थ— (य:) जो मनुष्य **(गुरूपदेशात्)** गुरु के उपदेश से **(अभ्यासात्)** अभ्यास से तथा **(संवित्ते:)** आत्म-ज्ञान से **(स्वपरान्तरम्)** स्व और पर पदार्थों के अन्तर को **(जानाति)** जानता

है **(सः)** वह **(निरन्तरम्)** सतत् **(मोक्ष-सौख्यं)** मोक्ष के सुख को **(जानाति)** जानता है।

गुरु का उपदेशामृत निज को, सर्वप्रथम तो पिला दिया,
तदनुसार अभ्यास बढ़ाया, प्रयोग करता चला गया।
निजानुभव से निज-पर अन्तर, तभी निरन्तर जान रहा,
जान रहा वह मोक्ष सौख्य भी, अब तक जो अनजान रहा ॥३३॥

He who has acquired the discrimination between the Self and the notself, through the teachings of the preceptor, by repeated meditation on the nature of things, or by direct inner Self-perception, that great soul enjoys the happiness appertaining to salvation constantly !

Note - Salvation and the happiness appertaining to it are obtained by self-contemplation, when the *karmas* are destroyed and the soul is left as a pure Spirit, omniscient, and blissful and immortal in its own nature.

विवेचना—अनादिकाल से पर को अपना मानने वाला, मोह के विभ्रम में रहने वाला जीव स्व और पर का सम्यक् या वास्तविक ज्ञान किस माध्यम से प्राप्त कर सकता है। इस जिज्ञासा के समाधान स्वरूप इस कारिका में आचार्य उपदेशित कर रहे हैं कि स्व-पर भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो गुरु के उपदेश से अभ्यास करना आवश्यक होता है। हितैषी भव्य प्राणी यदि स्व-पर विवेक ज्ञान पाना चाहता है तो उसे वह ज्ञान दुनिया के किसी भी स्कूल, कॉलेज, यूनिवर्सिटी में खोजने पर भी नहीं मिल सकेगा। उसे तो गुरु की प्रयोगशाला में जाना होगा, गुरु स्व पर वास्तविक भेदविज्ञान का सम्यक् उपदेश देंगे, उस पिपासु को उपदेशामृत का पान करायेंगे। तदनुसार उसे उस उपदेश का अभ्यास करना होगा, उस भेद विज्ञान का प्रयोग करना होगा, तब निजानुभव से निज और पर का स्वरूप ज्ञान हो जायेगा। फलस्वरूप उसी स्व पर भेदविज्ञान के बल पर साधना करता हुआ मोक्ष सुख को पा सकेगा। आज तक स्व पर भेदविज्ञान के अभाव में मोक्ष सुख का ज्ञान भी नहीं हो पाया। उस पर श्रद्धान भी जागृत नहीं हो पाया। फलतः इस मोही अज्ञानी प्राणी ने पर को अपना मानकर पर के उपकार में ही अपना जीवन व्यतीत किया है। स्वात्महित का विचार ही नहीं किया।

गुरु की शरण में समर्पण के साथ गुरु के निर्देशन में अभ्यास करने पर स्वसंवित्ति से ज्ञान और वैराग्य वृद्धिंगत होता है। जिससे जीवन में प्रत्येक पल, प्रत्येक परिस्थिति में घटित होती हुई घटनाओं में आध्यात्मिक भेदविज्ञान के बल पर शिष्य का मन सहनशील होता जाता है और परीषह, उपसर्गों में समता भाव का प्रयोग करते हुए कर्म निर्जरा करता है। निर्जरा करते-करते एक समय ऐसा आता है कि कर्मों का पूर्ण क्षय होने पर मोक्ष सुख का अनुभव होता है।

इस भेदविज्ञान के बल पर ही शरीर की रुग्ण अवस्था में भी अपने आपको रुग्ण नहीं मानने की मनोवृत्ति पैदा होती है, उस मनोवृत्ति के होने पर रोग की तीव्रता की पीड़ा में भी मन आकुल-व्याकुल नहीं होता। किसी के द्वारा कटु, कठोर वचन अथवा अपशब्दों के प्रयोग करने पर भी रोष में नहीं आता। किसी के प्रति मन में राग-द्वेष करना व्यर्थ समझकर आत्म-ज्ञान एवं वैराग्य को बढ़ाता चला जाता है। गुरु के उपदेश से वह समझ लेता है कि यह सभी अवस्थायें जीव के स्वभाव रूप नहीं हैं, जीव की अपनी नहीं हैं किन्तु ये तो कर्म सापेक्ष हैं, हमेशा रहने वाली नहीं हैं। ये भी चली जायेंगी, जो भी स्थिति आयेगी, वह भी चली जायेगी ऐसा दृढ़विश्वास करता हुआ, उन घटनाओं में हर्ष-विषाद या शोक नहीं करता।

अत्यधिक पुण्य संयोग से सच्चे गुरु की शरण प्राप्त होती है, इस दुर्लभता को ध्यान में रखते हुए गुरु के प्रति समर्पित होकर उनके उपदेशामृत के अभ्यास से इस भेदविज्ञान की जो कि मोक्ष सुख की साधनभूत है ऐसी महान् उपलब्धि के बारे में सोचो, विचार करो। एक बार नहीं इसको तो बार-बार विचार और अभ्यास में लाओ। जैसे अन्यत्व भावना में बार-बार पढ़ते हैं-

तू चेतन अरु देह अचेतन यह जड़ तू ज्ञानी।
मिलै अनादि यतन तैं बिछुड़ै ज्यों पय अरु पानी
रूप तुम्हारा सबसे न्यारा, भेदज्ञान करना,
जौ लों पौरुष थकैं न तौलों उद्यम सों चरना ॥

बारहभावनाओं का चिन्तन करने से भेदविज्ञान मजबूत होता है अतः जिस प्रकार शरीर को भोजन अति आवश्यक होता है वैसे ही वैराग्य बढ़ाने हेतु भावनाओं का चिन्तन आवश्यक होता है। आचार्य महाराज (ज्ञानसागरजी) से किसी जिज्ञासु ने एक बार प्रश्न किया था कि महाराज! इन बारह भावनाओं का प्रतिदिन चिन्तन क्यों करना आवश्यक है? क्या होता है प्रतिदिन बारह भावना पढ़ने से ? तब आचार्य महाराज ने यही उत्तर दिया था कि जैसे शरीर को प्रतिदिन भोजन करना आवश्यक होता है वैसे ही भेदविज्ञानी साधक को प्रतिदिन भावनाओं का चिन्तन रूपी भोजन करना भी अति आवश्यक होता है। शरीर का भोजन पूरा हो या न हो, अन्तराय हो जाय या उपवास कर लें, लेकिन उस समय में भी बारह भावना रूपी भोजन करना आवश्यक रहता है। तभी साधक के कदम साधना पथ पर अबाधगति से बढ़ते जाते हैं और अन्त में अपने लक्ष्य मोक्ष सुख को पा जाते हैं। भेदविज्ञान होने पर आत्मा को अनुपम संतोष जनक आनन्द प्राप्त होता है। उसके फलस्वरूप ही मोक्ष सुख पर विश्वास करते-करते एक दिन मोक्ष सुख को पा लेता है।

उत्थानिका—आत्मा का अनुभव करते हुए यह आत्मा उत्कृष्ट एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है। इस तरह मन तथा वाणी के अगोचर अथवा वचनों से भी न कहे जा सकने वाले स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर लेता है। आगे इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वत:।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मन: ॥३४॥

अन्वयार्थ–(स्वस्मिन्) अपने में ही **(सदभिलाषित्वात्)** प्रशस्त [मोक्ष सुख की] अभिलाषा करने से **(अभीष्टज्ञापकत्वत:)** अपने प्रिय पदार्थ का जानने वाला होने से तथा **(स्वयं हितप्रयोक्तृत्वात्)** अपने हित में अपने आपको लगाने से **(आत्मा एव)** आत्मा ही **(आत्मन: गुरु:)** अपना गुरु है।

प्रशस्त-तम है अपनेपन में, जो उसका अभिलाषक है,
स्वयं किसी उपदेश बिना भी इष्ट-तत्त्व का ज्ञापक है।
जो कुछ अब तक मिला मिलेगा, निज हित का भी भोक्ता है,
अत: समझ तूँ आतम का तो, आतम ही गुरु होता है॥३४॥

Because of its internal longing for the attainment of the highest Ideal, because of its understanding of that Ideal, and because of its engaging itself in the realisation of its Ideal, because of these the soul is its own preceptor!

Note - The outside Teachers and guides are only helpful where the soul itself is ripe for advancement on the path; their word is of no avail where the hearer is not open to receive it. For this reason the real teacher and guide is the soul itself; and so far as exertion is implied in the realisation of the Ideal, it is the soul's own action which can ever lead to its advancement and progress on the path. Hence the statement that it is its own preceptor !

विवेचना–मोक्ष सुख के अनुभव के विषय में गुरु कौन होता है? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप कारिका में आचार्य पूज्यपादस्वामी जी अपनी अध्यात्म देशना दे रहे हैं। यदि जानना चाहते हो तो इस ग्रन्थ में सहेतुक समाधान दिये हैं। सर्वप्रथम तो मोक्षसुख का अभिलाषी स्वयं आत्मा होता है, क्योंकि आत्मा ही मोक्षसुख चाहता है। दूसरी बात मोक्षसुख के उपायों को स्वयं आत्मा अपनाता है, स्वयं रत्नत्रय को ग्रहण करता है, उसकी साधना भी आत्मा ही करता है और सुख प्राप्ति के उपायों में भी आत्मा स्वयं प्रवर्तन करता है इन सभी हेतुओं के आधार पर यही कहा जायेगा कि जब आत्मा ही इनमें मुख्य है तो मोक्षसुख का अनुभव भी आत्मा ही करता है।

जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार तथा उपादान और निमित्त की बहुत विशद और विस्तृत व्याख्या की गई है। निश्चयनय की दृष्टि से देखें तो आत्मा का कोई गुरु नहीं होता। निश्चयनय की दृष्टि से गुरु-शिष्य के व्यवहार की व्याख्या ही नहीं होती अर्थात् कोई गुरु नहीं होता, कोई शिष्य

नहीं होता। अध्यात्म की दृष्टि से यहाँ आत्मा को ही जो गुरु कहा जा रहा है, वह उपादान की अपेक्षा ही कहा है। जिसमें कार्य होता है वह उपादान कहलाता है। जैसे घट बनने का कार्य मिट्टी में होता है तो घट का उपादान मिट्टी होती है। पट अर्थात् वस्त्र का उपादान कपास होता है। कुण्डल, केयूर, हार आदि आभूषणों का उपादान स्वर्ण होता है। उसी प्रकार मोक्षसुख के अनुभव करने का उपादान आत्मा स्वयं होता है। मोक्ष प्राप्ति का उपादान आत्मा ही होता है अतः इस दृष्टि से आत्मा को ही गुरु कहा गया है।

निमित्त की दृष्टि में यदि पूछा जाये कि गुरु कौन होता है तो स्पष्ट है कि जो शिक्षा-दीक्षा देते हैं, शिष्य के अज्ञान अंधकार को जो दूर करने में कारण होते हैं वे गुरु कहलाते हैं। वैसे तो प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान का भण्डार है। कोई भी गुरु शिष्य के जीवन में अन्य पदार्थों के देने के समान ज्ञान देता हो, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता कि गुरु अपना ज्ञान शिष्य के जीवन घट में भर देता तो गुरु का ज्ञान-घट खाली हो जायेगा अर्थात् गुरु का ज्ञान कम हो जायेगा, लेकिन ऐसा कभी नहीं देखा जाता। वरन् नीति तो यह कहती है कि ज्यों-ज्यों ज्ञान का दान किया जाता है त्यों-त्यों उसमें वृद्धि होती चली जाती है। इससे यही निष्कर्ष सामने आता है कि गुरु शिष्य को उसके अपने ज्ञान भण्डार का ज्ञान कराते हैं कि तुम स्वयं अनन्तज्ञान शक्ति के पुञ्ज हो। किसी दूसरे से ज्ञान शक्ति तुम्हारे भीतर आती हो, ऐसा नहीं, किन्तु इतना अवश्य है कि गुरु शिष्य की दृष्टि को ज्ञान-शक्ति की ओर पहुँचाने का प्रयास अवश्य करते हैं। उसकी ज्ञानशक्ति कैसे उद्‌घाटित हो, यह सिखाते हैं। उनके बिना शिष्य को स्वतः इसका ज्ञान नहीं होता इसलिए निमित्तस्वरूप गुरु की आवश्यकता होती है। उनका हमारे जीवन में बड़ा उपकार होता है। अतः गुरु के प्रति विनय, वैय्यावृत्ति, उनकी आज्ञा का पालन तथा उनके मार्गदर्शन में अनुशासित होकर रहना, यह शिष्य का परम कर्त्तव्य होता है। विनयशील, सेवाशील, कर्त्तव्यनिष्ठ और अनुशासनप्रिय शिष्य को ही गुरु से ज्ञान प्राप्त करने की पात्रता होती है।

जैसे दर्पण में पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता स्वयं होती है वह अन्यत्र कहीं से प्राप्त होती हो, ऐसा नहीं है। लेकिन उसके ऊपर यदि धूल जम जाती है तो उस धूमिल दर्पण में पदार्थ स्पष्ट नहीं झलकते, अतः दर्पण की मलिनता को हटाना आवश्यक होता है। उसी प्रकार हमारा ज्ञानरूपी दर्पण ज्ञानावरण कर्मरूपी धूल से धूमिल होता है या ज्ञानावरण कर्मरूपी पर्दे से ढँक जाता है, जिसके कारण ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। गुरु देशना देकर शिष्य को यह बतलाते हैं कि उस पर्दे को हटाने का प्रयास करो, दर्पण की धूल को हटाओ। साथ ही उसको हटाने की प्रक्रिया को भी बतलाते हैं। देशना के अनुसार शिष्य यदि परिश्रम करता है, साधना को अपनाता है तो पूर्ण अनन्तज्ञानशक्ति को उद्‌घाटित कर सकता है।

इस निमित्त की अपेक्षा व्याख्या में देखें तो गुरु का हमारे जीवन में कितना महत्त्व है? उनका

कितना उपकार है? हम उनके कितने ऋणी हैं? यह सब ख्याल में आता है, लेकिन उपादान की अपेक्षा देखें तो आत्मा ही स्वयं अपना गुरु होता है दोनों ही व्याख्यायें अपने आपमें सम्यक् हैं।

उत्थानिका—यहाँ पर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरों की सेवा क्यों करनी होगी ? अर्थात् जब खुद का खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकों की सेवा मुमुक्षुओं को नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, कारण कि वैसा मानने से अपसिद्धान्त हो जायेगा। ऐसा कहने वाले शिष्य के प्रति आचार्य जवाब देते हैं–

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अन्वयार्थ— गुरु आदि के उपदेश से **(अज्ञः)** अज्ञानी **(विज्ञत्वं)** विज्ञानता (ज्ञान दशा) को **(न आयाति)** प्राप्त नहीं होता और **(विज्ञः)** ज्ञानी **(अज्ञत्वं)** अज्ञानता को **(न ऋच्छति)** प्राप्त नहीं होता है **(अन्यः)** अन्य अध्यापक, गुरु आदि **(तु)** तो (ज्ञान प्राप्ति में) **(गतेः)** चलने में **(धर्मास्तिकायवत्)** धर्मास्तिकाय की तरह **(निमित्तमात्रम्)** केवल सहायक मात्र हैं।

अज्ञ रहा तो अज्ञ रहेगा, नहीं विज्ञता पा सकता,
विज्ञ रहा तो विज्ञ रहेगा, नहीं अज्ञता पा सकता।
केवल निमित्त धर्म द्रव्य है, गति में जैसा होता है,
एक अन्य के कार्य विषय में, समझो वैसा होता है ॥३५॥

Those not yet qualified for the acquisition of Truth cannot become the knowers of truth; the knowers of Truth cannot become deviod of it; external Teachers are useful like Ether which is but helpful in the motion (of moving things) !

Note - The *acharya* here elucidates the nature of the teaching from an outside source. It is like ether which is helpful to the object in motion, but which does not push or move any one. Similarly an external Guide can help only the soul that has acquired a longing to proceed on the Path of Freedom; he cannot impart the impulse which is to initiate the proceeding !

विवेचना—आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी इस कारिका में उस शिष्य के आक्षेप का समाधान दे रहे हैं जो कहता है कि यदि आत्मा का आत्मा ही गुरु होता है तो फिर अन्य धर्माचार्यों की, दीक्षा गुरुओं की, शिक्षा गुरुओं की अथवा सामान्य गुरुओं की सेवा, विनय आदि नहीं करना चाहिए क्योंकि खुद का गुरु खुद ही है ऐसा कहा जा रहा है?

आचार्य उसको समाधान प्रदान करते हुए कहते हैं कि देखो! उपादानदृष्टि की प्रमुखता से

उक्त कारिका का विषय दिया गया है और यहाँ भी पुनः कहा जा रहा है, कि कोई भी अज्ञानी अर्थात् अभव्य जीव या जिसमें ज्ञान ही नहीं है ऐसे जड़ पदार्थ को कभी विज्ञता प्राप्त नहीं हो सकती और कोई विज्ञ अर्थात् ज्ञान स्वभावी जीव कभी अज्ञता अथवा ज्ञान रहित अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। फिर भी यदि किसी का विपरीत ज्ञान गुरु उपदेश से सम्यक् रूप परिणत हो जाये तो इसमें गुरु निमित्त मात्र होते हैं। उपादान स्वयं उसका ही होता है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने उस निमित्त को ''गतेर्धमास्तिकायवत्'' कहा है अर्थात् जिस प्रकार चलने में तत्पर जीव और पुद्गल को उनकी गति में धर्मद्रव्य उदासीन कारण होता है वैसे ही गुरु भी उदासीन निमित्त होते हैं जबकि गुरु को तो हमेशा प्रेरक निमित्त के रूप में मानते आये हैं। इसमें भी आचार्यों की कितनी गहरी सोच है कि शिष्य अपने श्रम को छोड़कर गुरु पर ही आधीन न हो जायें इसलिए उदासीन निमित्त रूप में व्याख्या की है।

मेरे समक्ष अनेक बार कई विद्वानों ने प्रश्न किए कि गुरु तो प्रेरक निमित्त होते हैं, किन्तु यहाँ उन्हें उदासीन निमित्त क्यों कहा ? इसका समाधान यही दिया गया कि गुरु प्रेरणा तो देते हैं, निर्देशन भी देते हैं, आज्ञा भी देते हैं फिर भी उस प्रेरणा को, निर्देशन व आज्ञा को साकार रूप देने के लिए शिष्य को ही श्रम करना अनिवार्य होता है। अन्यथा गुरु ने जो प्रेरणा दी उसका कोई महत्त्व नहीं रहेगा। गुरु अपने शिष्यों को जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं और बनाना ही चाहिए, अन्यथा पक्षपात हो जायेगा ? यदि ऐसा है तो शिष्यों को सोचना चाहिए कि यदि गुरु को इस प्रकार का प्रेरक निमित्त मानोगे तो सबसे बड़े पक्षपाती तो केवलज्ञानी माने जायेंगे, क्योंकि अनादिकाल से आज तक उन्होंने किसी शिष्य या भक्त को अपने जैसा नहीं बनाया।

किसी भी कार्य के उत्पादन में तथा विध्वंसन में बाह्य पदार्थ सहायक मात्र होते हैं। वास्तव में तो किसी भी कार्य के होने व बिगड़ने में उसकी योग्यता ही साक्षात् कारण होती है। जैसे कि गमन रूप क्रिया में धर्मास्तिकाय या धर्म द्रव्य निमित्त मात्र होता है। वास्तव में तो गमन क्रिया पदार्थों के अंदर रहने वाली गमन-शक्ति के द्वारा होती है। धर्मद्रव्य जबरदस्ती किसी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुँचाता। इसी तरह गुरु या शिक्षक अपना ज्ञान देकर दूसरे को ज्ञानी नहीं बना सकता। यदि शिष्य के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है तो ही वह गुरु या अध्यापक की सहायता से विद्वान् या ज्ञानी बन सकता है। यदि उसके स्वयं के कर्म की क्षयोपशम अवस्था नहीं है तो शिक्षक या गुरु शिष्य को ज्ञानी नहीं बना सकते। तोते को तो मनुष्य की बोली सिखाई जा सकती है किन्तु बगुले को वैसा बोलना नहीं सिखाया जा सकता।

कुछ लोग आपस में चर्चा करते हैं कि हमारा लड़का निपट अज्ञानी था, परन्तु गुरु के पास गया तो इतना ज्ञानी हो गया कि कह नहीं सकते। उसे देखकर ऐसा लगता है मानों उसके गुरु ने

उसमें अपने समस्त ज्ञान को उड़ेल दिया हो, जैसे एक जग से दूसरे जग में पानी उड़ेल देते हैं। हमारा लड़का तो बिल्कुल ठूँठ था अब तो सरस्वती उसके मुख के अग्रभाग पर विराजमान है। यह तो निमित्तगत व्यवहारिक भाषा है लेकिन इसमें भी विचार करेंगे तो यही पायेंगे कि पूर्व से ही उस लड़के के अंदर ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता विद्यमान थी। गुरु या शिक्षक के निमित्त से ज्ञान प्रकट हो गया तो कहने में आ गया कि गुरु ने विद्वान् बना दिया। यदि स्वयं में ज्ञान-शक्ति न हो, ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता या योग्यता न हो तो गुरु भी ज्ञानी नहीं बना सकते। जैसे रेत को कितनी ही बार पेलें तो भी तेल नहीं निकल सकता, किन्तु तिल को एक बार पेलने से ही तेल निकल आता है क्योंकि तिल में तेल निकलने की क्षमता होती है।

अन्त में यही निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि व्यवहार से गुरु हमारे लिए ज्ञान प्रदान करने में सहायक हैं । इस बात का भी अपने आपमें बहुत महत्त्व है। अतः गुरुओं के उपकारों को हमेशा स्मरण में लाते रहना चाहिए और यथासमय उनकी यथायोग्य सेवा, वैय्यावृत्ति आदि करने में अग्रणी होना चाहिए। ''गुरुओं के प्रति किया उचित सम्मान ही हमारे ज्ञान की अभिव्यक्ति में कारण होता है।''

जैन दर्शन में कथित निश्चय और व्यवहार तथा उपादान और निमित्त के कथन का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके गुरु का यथायोग्य महत्त्व समझें और सेवा सुश्रुषा करें।

उत्थानिका—अब शिष्य कहता है कि ''अभ्यास कैसे किया जाता है'' ? इसमें अभ्यास करने के उपायों को पूछा गया है। सो अभ्यास और उसके उपायों को कहते हैं। बार-बार प्रवृत्ति करने को अभ्यास कहते हैं। यह बात तो भलीभाँति प्रसिद्ध ही है। उसके लिए स्थान कैसा होना चाहिए ? कैसे नियमादि रखने चाहिए ? इत्यादि रूप से उसका उपदेश किया जाता है—

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थितः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥३६॥

अन्वयार्थ— (चित्तविक्षेपः अभवत्) जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है **(तत्त्वसंस्थितः)** तत्त्व विचार में स्थित है बुद्धि जिसकी **(योगी)** ऐसा योगी/मुनि **(एकान्ते)** निर्जन स्थान में **(अभियोगेन)** आलस्य, निद्रा को त्याग कर/सावधानी से **(निजात्मनः)** अपनी आत्मा के **(तत्त्वं)** स्वरूप-चिन्तन का **(अभ्यस्येत्)** अभ्यास करे।

रागादिक लहरें ना उठतीं, जिनका मानस शान्त रहा,
हेय तथा आदेय विषय में, तत्त्व-ज्ञान निर्भ्रान्त रहा।
योगी-जन निर्जन वन में जा, निद्रा-विजयी तथा बने,
प्रमाद तज निज साधन कर ले, कालजयी फिर सदा बने ॥३६॥

He in whose mind no distrurbances occur, and who is established in the knowledge of the Self-such an ascetic should engage himself diligently in the contemplation of his soul, in lonely place !

Note - The one-pointedness of the mind which is necessary for steady meditation is exceedingly difficult in a place where there is even a likeihood of disturbance. Hence, it is pointed out here that self-contemplation should be performed in a lonely place.

विवेचना–योगी हमेशा तत्त्व का ध्यान करता है या तत्त्व को सुनने का अभ्यास करता है। तत्त्व का अर्थ प्रयोजनभूत तत्त्व से है। सात प्रकार के तत्त्व बताये गये हैं। जीव की मुख्यता स्वतः सिद्ध है। अतः उसे आदि में और अन्त में प्राप्त होने से मोक्ष को अन्त में रखा है। मोक्ष के कारणभूत दो तत्त्व–संवर और निर्जरा हैं। संसार के कारणभूत दो तत्त्व–आस्रव और बन्ध। जीव और अजीव का मेल होने से इस प्रकार का सम्बन्ध जुड़ जाता है और जब इस सम्बन्ध के फेल करने के लिए प्रयास प्रारम्भ होता है तो अन्त में मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसके लिए शुद्ध आत्मतत्त्व का अर्थात् अपने प्रयोजनभूत तत्त्व का उन्हें आधार लेना होता है और उसके लिए रत्नत्रय को अंगीकार करना होता है। मोक्षमार्ग पर आरुढ़ होने के उपरान्त अपने आप काम नहीं होता, पुरुषार्थ करना आवश्यक होता है।

जैसे–आप धन कमाना चाहते हैं तो दुकान खोलने मात्र से काम नहीं चलता। बल्कि उसमें जो धन लगाया जाता है; उसके माध्यम से धन वृद्धि के लिए कुशलतापूर्वक युक्ति के साथ कार्य किया जाता है। तब जितना धन लगाया जाता है, उससे दुगुना–दुगुना होता हुआ धन बढ़ता चला जाता है। उसी प्रकार जिस योगी ने यह संकल्प ले लिया कि अपने को आत्मज्ञान प्राप्त करना है तो उसके लिए बताया कि सर्वप्रथम उसके मन में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होना चाहिए। किसी प्रकार का कालुष्यभाव नहीं होना चाहिए। तभी तत्त्व का अवलोकन कर सकता है। दर्शन कर सकता है। यही आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने समाधितन्त्र ग्रन्थ में कहा है–

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलैः यन्मनोजलम् ॥३५॥

वही योगी अपने आत्मतत्त्व का अवलोकन कर सकता है, जिसके मानस सरोवर में राग–द्वेष रूपी कल्लोल नहीं बढ़ती हैं, लहरें नहीं उठती हैं। राग–द्वेष ही तो कल्लोल हैं, ये ही तरंगें हैं, ये ही लहरें हैं, इन लहरों के कारण भीतर का आत्मतत्त्व देखने में नहीं आता। पानी में यदि लहरें उत्पन्न हो जायें और देखो तो लहर में ही आपकी दृष्टि फँसकर रह जायेगी। भीतर नहीं पहुँच पायेगी, किन्तु जिस पानी में लहरें नहीं उठ रही हों, जल बिल्कुल शान्त है, उसमें यदि देखोगे तो जो कुछ भी उसमें रखा है वह देखने में आयेगा। उसमें अपना मुख भी दिख जायेगा। उसी प्रकार

यहाँ पर कह रहे हैं। विक्षेप का अर्थ–राग द्वेषादि। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार गाथा १/७ में धर्म की व्याख्या करते हुए यही कहा है–''**मोहक्खोहविहीणो**'' अर्थात् मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का समता रूप परिणाम ही धर्म माना जाता है। यहाँ पर कहा जा रहा है कि जब तक चित्त में विक्षेप उत्पन्न होते रहेंगे, तब तक योगी एकान्त में जाने पर भी किसी प्रकार से आत्मदर्शन नहीं कर सकेगा। एकान्त में जाने के उपरान्त भी जो योगी 'अभियोगेन' अर्थात् आलस्य छोड़ करके निजात्म तत्त्व का अभ्यास करता है तो उसे उसकी प्राप्ति हो सकती है। निजात्मतत्त्व का दर्शन जिसे होता है, उसके जीवन की लीला ही परिवर्तित हो जाती है। कैसे परिवर्तित हो जाती है? जैसे–रोगी व्यक्ति प्रातःकाल में अपने आप निरोगता का, स्वस्थता का अनुभव करता है। उसी प्रकार प्राथमिक दशा में भी क्यों न हो, जिसे अपनी आत्मा का सही–सही श्रद्धान के साथ संवेदन होना प्रारम्भ हो जाता है उसके जीवन में परिवर्तन हो जाता है। कायाकल्प वाली बात आ जाती है।

उत्थानिका–यहाँ पर शिष्य पूछता है कि भगवन्! जिसका लक्षण कहा गया है ऐसी ''संवित्ति हो रही है।'' यह बात योगी को किस तरह से मालूम हो सकती है? और उसकी हर एक क्षण में उन्नति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा सकता है? आचार्य कहते हैं कि हे धीमन्! सुनो मैं उसके चिह्न का वर्णन करता हूँ–

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

अन्वयार्थ– (यथा-यथा) जैसे–जैसे **(संवित्तौ)** अनुभूति में **(उत्तमं तत्त्वं)** उत्तम तत्त्व [शुद्धात्म स्वरूप] **(समायाति)** आता है **(तथा तथा)** वैसे–वैसे **(सुलभा-अपि)** सुलभता से प्राप्त हुए भी **(विषयाः)** विषय भोग **(न रोचन्ते)** रुचते नहीं हैं।

तत्त्वों में जो परम तत्त्व है, आत्म तत्त्व जो सुख-दाता,
जैसे-जैसे अपने-अपने, संवेदन में है आता।
वैसे-वैसे भविकजनों को रुचते ना हैं भले-भले,
पुण्योदय से सुलभ हुए हैं, भोग सभी पीयूष घुले ॥३७॥

As greater and greater progress is made in the realization of the glorious Self, so is lessened, more and more, the liking for even those objects of pleasure which may be obtained with ease.

Note - This *sloka* describes the effect of the progress in self enjoyment. It is destructive of the cravings of the lower nautre. The Self is blissful by nature; he who begins to enjoy the divine thrill of spiritual bliss certainly cannot thereafter hanker for worldly pleasure, the craving for which

decreases as the enjoyment of true happiness increases.

विवेचना—जैसे-जैसे साधक के ज्ञान में उत्तम तत्त्व अर्थात् शुद्ध-तत्त्व अनुभूति में आता जाता है वैसे-वैसे उसको पंचेन्द्रियों के विषय, भोग एवं कषाय सम्बन्धी भाव अच्छे नहीं लगते अर्थात् जिस समय शुद्धात्म तत्त्व का संवेदन होने लग जाता है उस समय अन्तर्मन बिल्कुल शान्त रहता है और उसका अन्तस् का जीवन एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति से जुड़ जाता है।

आत्म-संवित्ति का आनन्द लेने वाले साधकों को, तीन लोक में सर्वोत्तम और सुलभता से प्राप्त होने वाले विषय भी नहीं रुचते। उनका आत्म-तत्त्व आनन्द से भरा रहता है। लेकिन आज तो यह स्थिति है कि आत्मतत्त्व की चर्चा तो बहुत हो रही है परन्तु मन विषयों की ओर जा रहा है। ऐसे लोगों की आत्मतत्त्व की चर्चा मात्र चर्चा तक ही सीमित रहती है उन्हें उत्तम आत्मतत्त्व की अनुभूति का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने 'समयसार' ग्रन्थ के निर्जरा अधिकार की गाथा २१५ में इसी बात का उल्लेख किया है कि–

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धी य तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ॥२१५॥

ज्ञानी जीव किसी भी प्रकार के विषयों की आकांक्षा नहीं करता। भोगोपभोग की सुलभता से उपलब्ध विषय सामग्री में भी ज्ञानी जीव की चित्तवृत्ति नहीं जाती। उसे जब वर्तमान की उपलब्ध सामग्री ही नहीं रुचती तो भविष्य में विषयों के प्रति आकांक्षा कैसे हो सकती है? साथ ही भूतकाल में भोगे हुए विषयों की स्मृति भी क्यों करेगा ? यदि सुन्दर से सुन्दर सामग्री भी ज्ञानी जीव के समक्ष लाकर रख दी जाये तो भी वह उसको देखता तक नहीं, इस प्रवृत्ति को विषयों के प्रति 'हेय बुद्धि' बोलते हैं। विषयों को छोड़ने के उपरान्त जब साधक का आत्मतत्त्व निश्चल हो जाता है और गुप्ति में लीन हो जाता है तब उसे किसी भी प्रकार के विषय नहीं रुचते।

जैसा कि प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन महाराज ने एक उदाहरण दिया है कि जिनका मन शांति-सुख से सम्पन्न है ऐसे महापुरुषों को भोजन से भी द्वेष हो जाता है अर्थात् उन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता फिर विषय-भोग की तो बात ही क्या करना। यह निश्चित बात है कि जिन्हें सुलभ विषय-भोग भी नहीं रुच रहे हैं, तो समझ लेना कि उसकी संवित्ति में शुद्धात्मतत्त्व झलकने लगा है और जिसे शुद्धात्मतत्त्व की प्रतीति होने लगती है उसे अन्य विषय-भोग कभी भी रुचिकर प्रतीत नहीं होते। इस प्रकार इस विषय में दोनों तरफ से व्याप्ति घटित होती है।

हे वत्स! देखो, शीतल जल में रहने वाली मछली यदि कुछ समय के लिए बाहर पृथ्वी पर आ जाती है तो वह पृथ्वी उसके लिए जलाने लग जाती है। जब पृथ्वी ही उसे जलाने में समर्थ है

तो साक्षात् अग्नि के अंगारों का तो कहना ही क्या ? वे तो उसे निश्चित ही जला देंगे क्योंकि अंगारों की तपन को वह सहन ही नहीं कर सकती।

अत: विषयों के प्रति अरुचि ही योगियों की स्वात्म-संवित्ति की प्रकटता को सिद्ध करती है क्योंकि स्वात्मसंवित्ति का अभाव होने पर विषयों से अरुचि नहीं हो सकती। जिसने अपने जीवन में पञ्च-महाव्रतों सहित आकिञ्चन्यधर्म को धारण किया है उसे पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में न हर्ष होता है और न विषाद होता है तभी आकिञ्चन्यधर्म सुरक्षित रहता है। उस समय बाह्यतत्त्व अपने आप ही छूट जाते हैं। लेकिन यदि बुद्धि में विषयों के प्रति लगाव है तो यह निश्चित बात है कि उसे आत्मतत्त्व हाथ नहीं लगा। अर्थात् आत्मतत्त्व की अनुभूति नहीं हुई। इसे एक उदाहरण से समझें कि आत्म-संवित्ति और विषयों के प्रति रुचि, ये दोनों दिन और रात के समान हैं अर्थात् जैसे दिन है तो रात नहीं रहती और रात है तो दिन नहीं रहता। ऐसे ही आत्मसंवित्ति है तो विषयाभिलाषा नहीं रहती और विषयाभिलाषा है तो आत्मसंवित्ति नहीं हो सकती।

ज्ञानी के पास दो शक्तियाँ होती हैं–एक ज्ञान की, दूसरी वैराग्य की। कोई योद्धा भी जब रणांगन में उतरता है तो उसके पास भी दो शक्तियाँ होती हैं–एक शक्ति ढाल की, दूसरी तलवार की। तलवार की शक्ति प्रहार करने के लिए होती है तो ढाल की शक्ति से अपनी सुरक्षा के लिए होती है। उसी प्रकार ज्ञानी ज्ञान रूपी खड्ग के द्वारा बन्धे हुए कर्मों पर प्रहार करके उनका संहार करता है और वैराग्यशक्ति के द्वारा वह अपने आपको विषय कषायों से बचाता है जिससे नवीन कर्म का आस्रव व बन्ध भी रुक जाता है। इस विषय में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार ग्रन्थ के निर्जराधिकार में दो गाथायें लिखी हैं–

जहविसमुवभुज्जंतो वेज्जा पुरिसा ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं, तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ॥१९५॥
जह मज्जं पिवमाणो, अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो, णाणीवि ण बज्झदि तहेव ॥२०१॥

जिस प्रकार वैद्य विष खाकर भी मरण को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी जीव कर्म-फल को भोगता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। दूसरा उदाहरण दिया कि जैसे कोई पुरुष अरति भाव से अर्थात् अप्रीतिपूर्वक किसी भी मादक पदार्थ को पीता है तो भी मतवाला नहीं होता, उसी प्रकार जिसके पास ज्ञान नेत्र हैं ऐसा ज्ञानी किसी भी पदार्थ का उपभोग करता हुआ भी नवीन कर्मबन्ध अवस्था को प्राप्त नहीं होता। इसी भाव को आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है।

उत्थानिका–स्वात्मसंवित्ति के अभाव होने पर विषयों से अरुचि नहीं होती, किन्तु विषयों के प्रति अरुचि बढ़ने पर स्वात्म-संवित्ति भी बढ़ जाती है–

यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

अन्वयार्थ– (यथा यथा) जैसे-जैसे **(सुलभाः)** सुलभ **(विषयाः अपि)** पञ्चेन्द्रिय के विषय भी **(न रोचन्ते)** आत्मा को अच्छे नहीं लगते **(तथा तथा)** वैसे-वैसे **(संवित्तौ)** अनुभूति में **(उत्तमं तत्त्वं)** उत्तम तत्त्व [शुद्धात्म स्वरूप] **(समायाति)** प्रतिभासित होने लगता है।

पुण्योदय से सुलभ हुए हैं, भोग सभी पीयूष घुले,
जैसे-जैसे भविकजनों को, रुचते ना हैं भले-भले।
वैसे-वैसे अपने-अपने, संवेदन में है आता,
तत्त्वों में जो परम तत्त्व है, आत्मतत्त्व जो सुख दाता ॥३८॥

As even those objects of pleasure which are easily obtainable become increasingly intolerable, in the same measure does the glorious self come into one's enjoyment.

Note - The enjoyment of the natural inherent joy of life increases side by side with the sense of indifference for worldly pleasures. Thus the more there is of the enjoyment of the internal spiritual happiness, the less is the craving for the sense-produced pleasures; and, conversely, the greater the sense of indifference for worldly attractions and joys, the greater the enjoyment of the real bliss appertaining to life.

विवेचना—पूर्वोक्त कारिका को स्पष्ट करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी कहते हैं कि ज्यों-ज्यों सहज उपलब्ध इन्द्रिय विषय भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते त्यों-त्यों स्वात्म संवित्ति में वृद्धि होती रहती है, जो अपने जीवन को विषय कषायों से ऊपर उठाता है वही निज शुद्धात्मतत्त्व का प्रतिभासन कर पाता है। जब तक किसी व्यक्ति का शुद्धतत्त्व के प्रति श्रद्धान उपयोग में या अनुभूति की भूमिका में नहीं आता तब तक उस व्यक्ति को दुनिया के जितने भी पंचेन्द्रिय के विषय हैं, वे रोचक लगते रहते हैं। परन्तु ज्यों ही विषयों के प्रति रुचि हट जाती है त्यों ही उसे शुद्धात्म तत्त्व अच्छा लगने लगता है।

जब जीव मन के माध्यम से पञ्चेन्द्रिय के विषयों की ओर अथवा बाहर की ओर यात्रा करता है, तब आप भले ही कहो कि उसकी उस समय आत्म-तत्त्व के प्रति आदरपूर्ण दृष्टि होती है। लेकिन ध्यान रखना जब बाह्य यात्रा होती है तब जीव निश्चित ही प्रमाद की भूमिका में होता है। प्रमाद अनेक प्रकार से होता है ''**दसलक्षण धर्म की प्रवृत्ति**'' को भी प्रमाद कहा है। ''**कुशलेष्वनादरः प्रमादः**'' ऐसा 'आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी' ने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में कहा है।

कुशल अर्थात् उत्तम आत्मतत्त्व के प्रति अनादर भाव हो तो वह प्रमाद है। जब कभी बाह्य में कुछ भी कार्य करने की इच्छा करेंगे तो वह प्रमाद की अवस्था ही होगी। अत: जब विषयों से चित्त हटेगा तभी शुद्धात्म तत्त्व के प्रति सम्मुख होगा और उत्तम तत्त्व से विमुख होगा तो विषयों के सम्मुख रहेगा ही।

प्रमाद अनेक प्रकार के होते हैं उनमें से एक ध्यानकृत अथवा गुप्तिकृत प्रमाद और एक समितिकृत प्रमाद भी होता है। अन्तर्मुहूर्त तक ही अप्रमत्तदशा रहती है इसके उपरान्त नियम से प्रमाददशा आती है भले ही लौकिक दृष्टि से उसे अप्रमत्त कहें।

युग के आदि में वृषभनाथ भगवान् के पुत्र जो प्रथम कामदेव बाहुबली थे, उन्होंने एक वर्ष की तपस्या धारण की थी। वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, सर्वार्थसिद्धि से आए थे। भरत चक्रवर्ती एवं आदिम तीर्थंकर आदिनाथ जी भी सर्वार्थसिद्धि से आए थे। बाहुबली जी ने वैराग्यमूलक तपस्या धारण की थी। एक वर्ष तक आहार चर्या को भी नहीं उठे। आदिनाथ भगवान् छह महीने तक तपस्या में अडिग रहे और छह महीने तक उन्हें आहारचर्या को उठना पड़ा फिर भी आहार नहीं हुए। इसका अर्थ यह नहीं समझना कि 'वृषभनाथ भगवान्' छोटे हो गये और बाहुबली भगवान् आगे निकल गये। लौकिक दृष्टि से दिनों की गणना में लोग कह सकते हैं कि वे एक वर्ष तक हिले नहीं, डुले नहीं, खाये नहीं, पीये नहीं, उठे नहीं, बैठे नहीं, देखा नहीं, सुना नहीं, कुछ बोले नहीं अत: इस दृष्टि से वे एक वर्ष तक अनूठी तपस्या में स्थित रहे, अप्रमत्त रहे लेकिन आगम कहता है कि कोई भी कितने भी समय तक तपस्या में स्थित रहें फिर भी उन्हें उतने समय तक के लिए अप्रमत्त नहीं कह सकते क्योंकि आगम में सप्तम गुणस्थान का समय अन्तर्मुहूर्त मात्र कहा है इसके बाद नियम से प्रमत्तदशा आती है। अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त छद्मस्थ अवस्था में अप्रमत्त से प्रमत्त में आना अनिवार्य होता है। जैसे आप लोग अनिमेष अवस्था में नहीं रह सकते। अनिमेष अर्थात् टिमकार नहीं होना, पलकों का नहीं झपकना। देवों में तो ऐसा ही होता है अर्थात् वे अनिमेष ही होते हैं, उनकी पलकें नहीं झपकती लेकिन आप लोगों की पलकें झपकना अनिवार्य होता है। इसी प्रकार छद्मस्थावस्था में अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त अप्रमत्त से प्रमत्त और प्रमत्त से अप्रमत्त होना अनिवार्य होता है। आप लोग तो हमेशा प्रमाद में ही रहते हैं। यहाँ तो मुनियों की बात कही जा रही है, यह ध्यानकृत प्रमाद की बात हुई। इसके आगे समितिकृत प्रमाद के बारे में विचार किया जाता है।

''**मूलोत्तरगुणमलजनक: प्रमाद:**'' अर्थात् मूलगुणों और उत्तरगुणों में जो मल (दोष) उत्पन्न होता है वह बाह्य प्रमाद माना जाता है। तीर्थंकरों में बाह्य प्रमाद नहीं पाया जाता; क्योंकि उनके मूलगुणों और उत्तरगुणों में किसी भी प्रकार के दोष नहीं लगते। इसका भी कारण यह है कि उनका वर्द्धमान चारित्र होता है।

कोई यह प्रश्न कर सकता है कि सातवें से छटवें गुणस्थान में आना ही तो दोष है? परन्तु ऐसा

नहीं है क्योंकि छटवें गुणस्थान में आना अलग है और मूलगुणों व उत्तरगुणों में दोष लगना अलग है। यह बाह्य प्रमाद गुणों में दोष पैदा करता है। लेकिन दूसरा आभ्यन्तर प्रमाद है जो उपयोगगत ही होता है। **''शुद्धात्मानुभूतिः चलनरूपः आभ्यन्तरप्रमादः।''**

शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति से जो विचलित कर देता है वह आभ्यन्तर प्रमाद है। कोई भी ऋद्धिधारी हों या तीर्थंकर भी क्यों न हों, उनको भी इस प्रमाद की अवस्था में आना ही पड़ता है। सप्तम गुणस्थान की अप्रमत्त दशा में जितना काल होता है उससे दुगुना काल छट्ठे गुणस्थान की प्रमत्त दशा में होता है। प्रत्येक साधक को हजारों बार सातवें से छठवें और छठवें से सातवें गुणस्थान में झूला झूलने के समान चढ़ना-उतरना आवश्यक होता है।

जैसे कोई झूला-झूलने जाता है तो वह पहले ऊपर की ओर जाता है फिर नीचे आता है। झूला-झूलने का आनन्द लेने के लिए नीचे आना अनिवार्य होता है। उसी प्रकार मुनिराज भी अप्रमत्त और प्रमत्त रूप सातवें से छठवें में आते हैं। हालाँकि नीचे आना वस्तुतः ठीक नहीं है, लेकिन यह अनिवार्य है। जिस प्रकार झूले में बच्चे का पालन-पोषण होता है उसी प्रकार मुनि महाराज का इन दोनों गुणस्थानरूपी झूले में पालन-पोषण होता है। इसके बाद श्रेणी चढ़ने का सौभाग्य प्राप्त होता है। यदि क्षपक श्रेणी है तो उसमें चढ़ना ही होता है, गिरना नहीं होता। लेकिन जो उपशम श्रेणी चढ़ता है तो वहाँ से नियम से नीचे गिरना होता है। उपशम श्रेणी वाला नीचे सातवें-छठवें गुणस्थान तक आकर सम्हल भी सकता है अर्थात् नीचे आकर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उन दोनों गुणस्थानों में हजारों बार विशुद्धि बढ़ाने का प्रयास करके क्षपक श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इन सब कार्यों में मात्र अन्तर्मुहूर्त काल लगता है।

आगम का उल्लेख है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी एक अन्तर्मुहूर्त में अपना संसार समाप्त करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। एक अन्तर्मुहूर्त के भीतर अनेक लघु अन्तर्मुहूर्त होते हैं। उनमें सभी प्रक्रियायें सम्पन्न हो सकती हैं। आगम का अध्ययन करने से जीव के उपयोग की अनेक विचित्रतायें देखने को मिलती हैं। अपने आपके परिणामों को हम आगम से ज्ञात करके यह नहीं जान सकते कि किस समय कौन से गुणस्थान वाले परिणाम चल रहे हैं। मतिज्ञान-श्रुतज्ञान से भी नहीं जान सकते। आगमिक-अनुमान के आधार पर संभावित रूप से जाना जा सकता है। अवधिज्ञान से भी साक्षात् नहीं जाना जा सकता, लेकिन अवधिज्ञान से ऐसा जान सकते हैं कि इसके मिथ्यात्व का उदय है तो पहले गुणस्थान के परिणाम हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं है अतः पंचमगुणस्थान है। प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है तो पञ्चम गुणस्थान के परिणाम हैं इत्यादि। आत्मा के परिणामों को साक्षात् जानने की क्षमता तो मनःपर्ययज्ञान के पास भी नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि मनःपर्ययज्ञानी भी ईहा मतिज्ञान पूर्वक दूसरे के मन में स्थित विचारों को जान सकते हैं। मनःपर्ययज्ञानी भी प्रकृति के आधार पर यह तो जान सकते हैं कि यह मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्दृष्टि परन्तु वे भी

यह नहीं जान सकते कि यह भव्य है या अभव्य। कितना कठिन है परिणामों को जानना, आगम को जानना ? किन्तु आज कल लोग थोड़ा-सा अध्यात्म का अध्ययन कर लेते हैं और कहते हैं कि अरे! हमें तो आत्मा झलक रहा है। कहाँ झलकने लगा ? क्या आत्मा कोई चाँदनी है जो झलकने लगी। आत्म-परिणामों के बारे में चुनौती के साथ निर्णय देना प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसा करने वालों को आगम का कहना है कि यह उनकी अनधिकार चेष्टा है।

अपने परिणामों के बारे में अपने आपको क्या मानना चाहिए ? यदि किसी को ऐसी जिज्ञासा है तो उसको आचार्यों का कहना है कि मानना और नहीं मानना यह तुम्हारे ऊपर आधारित नहीं है। तुम्हें तो सिर्फ इस प्रकार की भावना करना चाहिए कि राग द्वेष करना मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव तो शुद्धज्ञान-दर्शनमय है। वर्तमान में वह स्वभाव कर्मों से आच्छादित होने के कारण अभिव्यक्त नहीं है फिर भी मैं शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर सकता हूँ।

शुद्धोपयोग की भूमिका प्रमाद अवस्था में नहीं होती, वरन् अप्रमत्त अवस्था में होती है। वह भी गुप्ति की अवस्था में होती है। शुद्धोपयोग, वीतराग चरित्र, निश्चय चारित्र, निर्विकल्प समाधि, वीतराग सम्यक्त्व की भूमिका में होता है। अतः गृहस्थों के शुद्धोपयोग या शुद्धात्मानुभूति होती है, ऐसा कथन आगम के अनुरूप नहीं है।

''**कुशलेषु अनादरः प्रमादः**'' यह आत्मा की कमजोरी का प्रतीक है। कुशल कार्य का अर्थ है जिससे हमारा हित हो, भला हो उस कार्य के प्रति अनादर वृत्ति का होना प्रमाद है। यह प्रमाद आत्मा का अहित करने वाला है। आत्मपुरुषार्थ के द्वारा प्रमाद को नष्ट किया जा सकता है। अतः आत्मपुरुषार्थ को दृढ़ करने के लिए बार-बार आत्मभावना एवं आत्मतत्त्व का स्पर्श करने का प्रयास करने में सजगता रखनी चाहिए। अपने उपयोग से राग-द्वेष रूप परिणमन को पूर्ण रूप से दूर करने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' ग्रन्थ में कहते हैं कि-

परमाणुमित्तियं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२०१॥

अर्थात् जिस व्यक्ति के जीवन में राग की परमाणु प्रमाण भी कणिका विद्यमान रहती है वह व्यक्ति समस्त आगम का ज्ञाता होने के बाद भी अपनी आत्मा को नहीं जान सकता अर्थात् वह शुद्धात्मानुभूति नहीं कर सकता।

अन्त में सुकुमाल के चरित्र को याद करते हुए यह सिद्ध किया जा सकता है कि 'सुकुमाल' जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ। फलतः जिन्हें सुलभ विषय कषाय भी अच्छे नहीं लगे। जिनको सूर्य की किरणें भी कष्टप्रद अनुभूत होती थीं। सरसों के दाने भी जिन्हें चुभते थे। उनको ही तीन दिन तक सियालिनी पैर की एड़ी से चोटी तक भक्षण करती रही फिर भी आत्म संवित्ति के बल पर वे

ध्यान में अडिग रहे। यह अद्भुत दृश्य अपने सामने उदाहरण के रूप में है कि किस तरह विलासिता में पला हुआ सुकुमाल का शरीर था। उसने इस प्रकार के दुस्सह उपसर्ग को कैसे सहन किया होगा? आचार्य कहते हैं कि जैसे-जैसे जीव को सुलभ विषय नहीं रुचते, वैसे-वैसे उत्तम आत्म-तत्त्व अनुभूति में आता चला जाता है। इस समय किसी भी प्रकार के उपसर्ग-परीषह हों सभी साम्य भाव से सहन होते चले जाते हैं, क्योंकि उस समय उपयोग में बाहर का सम्बन्ध टूट जाता है। साधक जब तपस्या में लीन होता जाता है तब उसका उपयोग विषयों से विमुख हो जाता है। कषायों से भी ऊपर उठ जाता है। फलतः अपने आत्मतत्त्व में उपयोग लगता चला जाता है। जिससे निरीहता बढ़ती जाती है, गुणस्थान भी बढ़ता जाता है, मोहनीय का एवं ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम भी बढ़ता जाता है। संयमलब्धि एवं विशुद्धिलब्धि स्थान भी बढ़ते जाते हैं।

साधक की साधना का भीतरी आयाम महत्त्वपूर्ण होता है। साधक का बाह्य विषयों से जैसे-जैसे सम्बन्ध छूटता चला जाता है वैसे-वैसे साधक को भीतर से अलौकिक आनन्द आने लग जाता है। सुकुमाल ने तीन दिन तक इतनी वेदना सहन की। आप लोग तीन दिन की बात तो छोड़ दो, तीन मिनट भी सहन नहीं कर सकेंगे। जिनको मखमल के गद्दे भी चुभते थे। जिन्होंने अपनी पत्नियों को पहनने के लिए रत्नों के कम्बल की जूतियाँ बनवा दीं। धन्य है, वह सुकुमाल, जिसने कमाल का काम किया। सोचने की बात है कि कितना वैभव ? कितनी सम्पदा ? कितना ऐशो-आराम ? इनके बीच रहने वाला भी रात में उठकर खिड़कियों से पार हो कर जंगल में चला गया। जैसे-जैसे जंगल में प्रवेश करता गया वैसे-वैसे उसके पैरों से खून निकलता चला गया, जहाँ-जहाँ कंकर, पत्थर चुभे वहाँ खून के धब्बे बनते गये। आप लोग भी भजन में बोलते हैं न-

चले हैं सुकुमाल देखो मुनि बन के।
पैरों में लहु आज बहे छन-छन के॥
चले हैं...।

वज्रवृषभनाराचसंहनन था, फिर भी शरीर इतना कोमल! हड्डियाँ वज्र जैसी थी, फिर भी सरसों का दाना चुभता था। यह सब उपयोग की बात है भीतरी मन की बात है। मन में शरीर के प्रति जितना अधिक मोह होता है, उतना ही अधिक शरीर के कष्टों की ओर ध्यान जाता है, अन्यथा नहीं। शुक्ललेश्या के साथ सर्वार्थसिद्धि चले गये। आज भी वहीं होंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् ने कहा कि आत्म-ध्यान की साधना एवं रत्नत्रय की आराधना के लिए कोई भी संहनन पर्याप्त है और संस्थान की तो बात ही नहीं। साधना तो क्या साध्यभूत मुक्ति की भी प्राप्ति किसी भी संस्थान के द्वारा हो सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज भी आपको रत्नत्रय की आराधना एवं साधना करने के लिए किसी भी चीज की कमी नहीं है। यदि कमी है तो मात्र भावों की कमी है।

आचार्य गुणभद्रस्वामी जी ने भी 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ की कारिका १४८ में कहा है कि– जिसके कषायों के उफान उपशमित हो जाते हैं, जिसको पंचेन्द्रियों के विषय अच्छे नहीं लगते, उसके लिए ही आत्मध्यान एवं आत्मचिन्तन की बात रुचिकर होती है। वही आत्मानुशासन का आनन्द लेने योग्य होता है।

आप लोग तो दूसरों की निन्दा सुनने में, दूसरों के दोष खोजने में घण्टों-घण्टों विदाउट इण्टरवल के समय लगाते रहते हैं। नींद आने का समय हो तो भी सावधान हो जाते हैं। लेकिन स्वाध्याय सुनने या करने को कहो तो, नींद का समय नहीं होने पर भी नींद आना प्रारम्भ हो जाती है। स्वाध्याय चालू होते ही व्यक्ति ऊँघने लगते हैं। उस समय पूछो कि सुन तो रहे हो तो 'हओ' कह देते हैं। थोड़ी देर बाद फिर पूछो कि सो तो रहे हो, तो भी नींद में 'हओ' कह देते हैं। रुचि की बात है। सामायिक करने बैठते हैं तो कमर में दर्द होने लगता है। माथा दुखता है। माला फिरती नहीं। चक्कर आने लगते हैं। एक जघन्य सामायिक में भी कितने बार आसन बदलना पड़ते हैं। उसी समय यदि दुकान जाने की कह दो तो सब ठीक हो जाता है। रीढ़ की हड्डी भी सीधी हो जाती है। कमर दर्द था यह भी भूल जाते हैं। चक्कर भी रफूचक्कर हो जाता है। बेटे भी कहें कि पिता जी! हम बैठे हैं दुकान पर, आप विश्राम कर लो बाद में मंदिर जाओ। स्वाध्याय, पूजन का समय हो गया। तो भी पिता जी कहते हैं–कुछ नहीं, अभी तो हम दुकान चला रहे हैं और चला लेंगे। कहने का मतलब यह है कि जिस अवस्था में दुकान भी चला सकते हैं, मकान भी चला सकते हैं, उसी अवस्था में छोटा सा नियम निभाने की कहो तो यह कहते हुए पाये जाते हैं कि यह नियम हम से नहीं निभ सकता। डॉ० साहब कह दें कि शुगर की बीमारी है अब आप जिन्दगी भर तक शक्कर या कोई भी मीठा नहीं खा सकते। नमक भी नहीं खा सकते, तली हुई चीजें तो देख भी नहीं सकते। ऐसी स्थिति में आप प्रत्येक बात को स्वीकार करते जाते हैं। सब कुछ निभा लेते हैं, क्योंकि डॉक्टर पर विश्वास है लेकिन जिनवाणी माँ एवं सच्चे गुरु पर विश्वास नहीं है। जिनवाणी माँ कहती है कि जैसे डॉ० साहब के कहने पर तैयार रहते हो, वैसे ही आस्रव-बन्ध से बचने के लिए, पाप से बचने के लिए, दूसरों की निन्दा एवं दोषों को खोजने की प्रवृत्ति से बचने के लिए भी हमेशा-हमेशा तैयार रहना चाहिए।

आचार्य गुणभद्र महाराज कहते हैं कि जिसको विषय-कषाय अच्छे लगते हैं। आरम्भ-परिग्रह के प्रति उत्साह रहता है, धन-संग्रह के लिए भी दिन-रात श्रम करने को तैयार रहता है, लेकिन धार्मिक बातों में मौन रहता है। दान-पुण्य कार्य अच्छे नहीं लगते। (ज्ञानार्णव ४७, १४९) शादी-विवाह का अवसर हो तो लाखों का धन यूँ ही बरसा देता है। मंदिर निर्माण की यदि बात सामने आती है तो वे ही लोग ऐसा कहते हुए पाये जाते हैं कि भैय्या ? इस साल तो दुकान ही नहीं चली, अभी उधारी में काम चल रहा है इत्यादि। स्वयं के एवं परिवार के खान-पान, रहन-सहन,

वेशभूषा एवं इधर-उधर की बातों में पैसे को पानी की तरह बहाते हैं, परन्तु धार्मिक कार्यों में वह कहता है कि टैक्स दिया जा रहा है। इस विषय में आचार्य कहते हैं कि जो व्यक्ति ऐसा विचार करता है इसमें उसका दोष नहीं है, किन्तु उसके तीव्र मोह का उदय चल रहा है, जिसके फलस्वरूप उसके इस प्रकार के परिणाम होते हैं।

अन्त में इस कारिका का उपसंहार यही है कि प्रातःकाल जैसे-जैसे सूर्य उदित होता चला जाता है, रात मिटती जाती है तो उजाला अपने आप ही दिखने लगता है। सायंकाल में भी सूर्य अस्त होता जाता है तो उजाला घटता चला जाता है, अंधकार आना प्रारम्भ हो जाता है कुछ समय बाद सब कुछ दिखना ही बन्द हो जाता है। इसी प्रकार अवसर्पिणीकाल में धर्मरूपी सूर्य का प्रकाश अर्थात् धर्म की बातें, विवेकज्ञान की बातें घटती जाती हैं। अधर्मरूपी अविवेक एवं अज्ञानरूपी अन्धकार बढ़ता जाता है। अच्छाइयाँ घटती जाती हैं, बुराइयाँ बढ़ती जाती हैं। इसी प्रकार जैसे-जैसे ज्ञानी का उपयोग सरलता से प्राप्त हुए विषयों से हटता जाता है, वैसे-वैसे आत्मतत्त्व के प्रति बढ़ता जाता है। इसी बात को आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने उक्त दो कारिकाओं में स्पष्ट किया है जिनका बार-बार चिन्तन करने से हमारा जीवन भी अध्यात्म की ओर आकर्षित होता है और अध्यात्म दृष्टि का लाभ होता है। जीवन का वास्तविक तथ्य समझ में आता है। सुकुमाल को भी जब वास्तविक तत्त्व समझ में आया था तभी उन्होंने दुःसह उपसर्ग/परीषह को सहन किया। धन्य हैं वे जिन्होंने आत्मतत्त्व को समझा और अपने जीवन को आदर्शमय बनाया। आज तक हमें विषयों की बात तो समझ में आती रही परन्तु आत्मतत्त्व का ज्ञान हमसे वंचित रहा। अब ऐसा आत्मपुरुषार्थ जागृत करें जिससे हम अपने आपको विषय-कषायों से हटाकर आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में तत्पर बनें।

उत्थानिका—हे वत्स! स्वात्मसंवित्ति के बढ़ने पर क्या क्या बातें होती हैं? किस रूप में परिणति होने लगती है? आदि बातों को आगे की कारिका में बताते हैं—

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥

अन्वयार्थ— (निश्शेषं) जब समस्त **(जगत्)** संसार **(इन्द्रजालोपमं)** जादूगर के खेल जैसा [निःसार] **(निशामयति)** देखते है, तब **(आत्मलाभाय)** आत्म-स्वरूप पाने के लिए **(स्पृहयति)** इच्छा करता है, उस समय यदि **(अन्यत्र)** आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थों में **(गत्वा)** जाता है तो **(अनुतप्यते)** सन्तप्त/व्याकुल होते हैं।

इन्द्र-जाल सम स्वभाव वाला, पल-पल पलटन शीला है,
सार-शून्य-संसार सकल है, नील-निशा की लीला है।
इस विध चिन्तन करता योगी, आत्म-लाभ का प्यासा है,
पल-भर भी यदि बाहर जाता, खेद खिन्न हो खासा है॥३९॥

The seeker of the self regards the whole world as a product of illusion, and is moved by the desire to attain to self-realization. If he ever becomes entangled in anything else he repents of it.

Note - Self-realization is possible only by completely turning the back on the temptations and snares of the world; hence. he who longs to attain to it must, regard the panorama of the world as transient, instable and fleeting, in other words, as the product of illusion. The wise man will thus never allow himself to be entangled in anything worldly. Born with all the weaknesses of the human nature, he is nevertheless subject to powerful cravings and impulsions, and may, under their influence, deviate from the proper path. The *acharya* says that the true characteristic of a wise man is that whenever he is entangled in any of the wordly pleasures, neglecting his proper *dharma* (duty), he will be repenting of his wrong action, even while doing it. For repentance implies confession which is half the amends.

विवेचना–अब आगे बताते हैं कि आत्म अनुभवी साधक का मन इस संसार में कहीं नहीं लगता। उसे यह सारा संसार जादूगर के खेल की तरह निःसार रूप दिखता है। जैसे-जैसे शुद्धात्म तत्त्व झलकने लग जाता है, वैसे-वैसे यह संसार इन्द्रजाल के समान दिखाई देने लगता है। इन्द्रजाल किसको बोलते हैं? जादू।

जैसे कोई बंगाली जादूगर होते हैं, वे एक-एक फूँक मारकर नई-नई चीज दिखाते रहते हैं। लेकिन ध्यान रखना उस जादू के पैसे से कभी भी पेट नहीं भरता। कहने का मतलब है कि जादू के खेल से जो पैसे का लाभ होता है वह आजीविका का साधन नहीं बन पाता। उस जादू की कोई चीज सारभूत नहीं होती। उसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि जिन्हें यह संसार इन्द्रजाल के समान प्रतिभाषित होता है, वे योगी धन्य हैं। उनकी आँखें धन्य हैं, जिन्होंने इस संसार की सम्यक् स्थिति को देखा।

''आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् को मेरा नमस्कार है क्योंकि उनकी आँखें निर्विकार बन गयीं, किसी भी प्रकार का विकार नहीं रहा। धन्य हैं उनका सौभाग्य कि उन्हें यह संसार स्वप्न के समान देखने में आया।''

इस संसार को तृणबिन्दु, इन्द्रजाल, मृगमरीचिका आदि की उपमा दी गई है। जिसको आत्मलाभ की इच्छा होती है उसी को यह संसार इन्द्रजाल के समान दिखता है जो आत्मलाभ करना चाहता है वह हमेशा अपने उपयोग को, आत्मा को छोड़कर अन्यत्र बाह्य पर पदार्थों की ओर नहीं ले जाता यदि कदाचित् पूर्व संस्कारवश अन्यत्र जाता भी है तो वहाँ पश्चाताप, संताप का अनुभव करता है। जैसा कि पूज्यपाद आचार्य स्वयं कह रहे हैं कि–

'गत्वान्यत्रानुतप्यते' वह बाहर जाकर पश्चाताप एवं संताप से पीड़ित होता है और विचार करता है कि अरे! यह काम मुझे नहीं करना चाहिए था ? यह तो मेरे से बहुत बड़ी गलती हो गई। मेरा काम तो आत्म स्वभाव में रहने का है। कहाँ चला मैं ? कहाँ भटक गया मैं ? इस प्रकार पश्चाताप एवं प्रतिक्रमण करता है। आत्मालोचना करता है। आत्म-निन्दा करता है। प्रायश्चित लेता है और पुनः तप में लीन हो जाता है, यह योगी की चर्या है।

योगी विद्यार्थी के समान सावधान रहता है। छात्र तो परीक्षा के समय ही विशेष सावधान रहता है बाकी तीन सौ पैंसठ दिन अध्ययन करता है। यदि अच्छी तरह से अध्ययन किया गया है तो पेपर हाथ में आने के उपरान्त उसे हल करने में तीन घण्टे का समय कैसे निकल गया पता भी नहीं चलता। किन्तु जिसने अध्ययन नहीं किया उसके लिए तीन घण्टे का समय निकालना अत्यन्त कठिन होता है। जैसे जेल में समय निकालना कठिन होता है। परीक्षार्थी इधर-उधर नहीं देख सकता क्योंकि शिक्षक विद्यार्थी को देखते हैं। नकल करना चाहें तो भी नहीं कर सकता। समय निकल जाता है फिर घण्टी लग जाती है। शिक्षक पेपर लेने आ जाते हैं, तब वह सोचता है मेरा प्रश्न पत्र तो पूर्णतः हल नहीं हो पाया। लेकिन अध्ययनशील विद्यार्थी के समक्ष यह कोई समस्या नहीं आती। वह समय से पूर्व ही हल कर लेता है। तीन घण्टे उसके कैसे निकल जाते हैं उसे अहसास भी नहीं हो पाता। उसी प्रकार योगी जब इस संसार को विषय-कषायों से परिपूर्ण, इन्द्रजाल सम देख लेता है, असार रूप समझ लेता है, परिवर्तनशील समझ लेता है, अपने आत्मतत्त्व से भिन्न समझ लेता है तो उसकी आत्मसाधना एवं योगसाधना में समय कब निकल गया ? उसे यह विदित भी नहीं हो पाता। वह तो अध्ययनशील विद्यार्थी के समान समय का सदुपयोग करता है और आत्मतत्त्व में लीन रहता है। वह हमेशा सफल होता है। लेकिन जो विषयी-कषायी प्राणी हमेशा विषय-कषायों में रत रहते हैं, आत्मा की एवं संसार की सम्यक् पहचान जिन्हें नहीं होती, वे हमेशा असफल होते हैं उनकी क्या चर्चा करें हम।

अध्ययनशील छात्र ज्यादा अभ्यास करता है। ज्यादा अध्ययन करता है तो भी अतृप्त बना रहता है और अधिक अध्ययन करने के प्रति उत्साहित रहता है। उस छात्र को सौ में से यदि नब्बे नम्बर भी मिल जाते हैं तो भी वह सोचता है अभी मैं दस नम्बर से फेल हूँ, पूर्ण रूप से पास नहीं हूँ। यही स्थिति पहुँचे हुए योगी की होती है कि कितनी भी अधिक योग साधना करे तो भी अतृप्त रहते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि यह मेरा स्वभाव नहीं है। दुनिया भले ही कुछ कह दे कि ये पहुँचे हुए साधु हैं, पर वे उसमें तृप्त नहीं होते, प्रसन्न नहीं होते। वे विचार करते हैं कि अभी मैं संसार में हूँ, अभी मेरा भी विभाव परिणमन चल रहा है, अभी स्वभाव का अनुभव नहीं हो रहा है, अभी मैं कर्मोदय की अवस्था में हूँ इत्यादि। मेरी साधना जितनी तीव्रगति के साथ होनी चाहिए, वैसी क्यों नहीं है।

भक्ति करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी जी ने कहा कि–हे भगवन्! आपने संयम के समस्त लब्धिस्थानों को पार किया है, धन्य हैं आप! धन्य है आपका जीवन। हम भी आपकी भक्ति करते–करते यही चाहते हैं कि उन समस्त लब्धिस्थानों को पार कर सकें और परमात्म पद प्राप्त कर लें। संयम के समस्त लब्धिस्थानों को पार करना कितना अनूठा कार्य है। यह अलौकिक बात है और आध्यात्मिक बात है, मात्र बाहरी बात नहीं है। इसकी पहचान करने के लिए या इसकी उपमा देने के लिए दुनिया में कोई दूसरी चीज नहीं है जिससे उपमित किया जा सके। जब अपने ही लब्धिस्थानों को आप नहीं समझ सकते तो भगवान् ने जिन लब्धिस्थानों को पार किया है उनको कैसे जान सकोगे ?

संयम लब्धिस्थानों को बढ़ाने की स्पर्धा होना चाहिए। **''अहं अग्रे अहं अग्रे''** **''मैं आगे, मैं आगे''** का भाव आना चाहिए। हमेशा अपने आपको सम्हालने का प्रयास करना चाहिए। यह संसार तो स्वप्नशील है। इस असार संसार में भी जो सार समझता है वह गलत है। जिस प्रकार स्वप्न में आये हुए दृश्य वास्तविक नहीं होते उसी प्रकार संसार की लीला इन्द्रजालिया द्वारा दिखलाये हुए खेल के समान है। यह संसार संध्या की लाली के समान सार–शून्य अन्धकारमय है।

आचार्यों ने संसारी प्राणी को सम्बोधित करते हुए इस संसार के स्वरूप को अनेक उपमाओं से समझाने का प्रयास किया है फिर भी समझ में नहीं आता। बल्कि संसार में ही समीचीनता का अनुभव करता है तो इसमें आचार्यों का क्या दोष ? इसी बात को स्पष्ट करते हुए आगे की कारिकाओं में व्याख्यान किया जा रहा है।

उत्थानिका–आत्मानुभवी के चिह्नों को दिखाते हैं–

इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥४०॥

अन्वयार्थ– (निर्जनं) निर्जन स्थान **(जनितादरः)** जिसे अच्छा प्रतीत होता है ऐसा पुरुष **(एकान्तसंवासं इच्छति)** एकान्त में रहना चाहता है **(निजकार्यवशात्)** अपने कार्यवश से **(किञ्चित् उक्त्वा)** कुछ कह करके **(द्रुतम्)** शीघ्र **(विस्मरति)** भूल जाता है।

जन, मन, तन-रंजन में जिसको, किसी भांति ना रस आता,
अतः सदा एकान्त चाहता, मुनि बन वन में बस जाता।
निजी कार्य वश कभी किसी से, कुछ कहना हो कहता है,
कहकर भी झट विस्मृत करता, अपनेपन में रहता है॥४०॥

The seeker after the self longs for solitude, prefering dissociation with men; if he has to speak to men for a purpose of his own, he puts it out of his

mind as soon as it is said !

Note - Solitude is absolutely necessary for pure self-contemplation.

विवेचना—योगी हमेशा एकान्तवास चाहता है जबकि संसारी प्राणी एकान्त से दूर भागता है। कुछ वर्ष पहले भारत में आपत्तिकाल लगा था, सत्तरह-अठारह महीने तक चला था। उस समय अड़तालीस व्यक्तियों को जेल में बन्द किया गया था। जिनके ऊपर संदेह या अविश्वास होता था, उन्हें ऐसे कमरे में बन्द कर दिया जाता था जहाँ पर किसी बाहरी व्यक्ति से सम्बन्ध न हो सके। कोई पत्र-पत्रिका वहाँ न पहुँच सके। प्रकाश भी न पहुँच सके। उनको भोजन देने वाले का मुख भी जहाँ से दिख न सके, ऐसा महीनों तक एकान्तवास का अनुभव कराया गया था। इसे उन्होंने सबसे बड़ा दण्ड समझा था। जबकि योगी स्वयं ही सहर्ष एवं सहज रूप से ऐसे एकान्तवास की खोज करता है। उनका यह एकान्तवास आपत्ति काल रूप नहीं माना जाता, दण्ड नहीं माना जाता। योगी तो ऐसे आपत्ति काल का स्वयं वरण करता है। एकान्तवास में आत्मसाधना करने वाले योगी प्रशंसनीय होते हैं। कोलाहल में रहना पड़े तो योगी सोचते हैं कि यहाँ तो कोलाहल है, यहाँ कोई हल नहीं है। यह कोलाहल तो पञ्चेन्द्रिय के विषयों की अपेक्षा से मन को प्रसन्न करने का साधन मात्र है अर्थात् मनोरञ्जन का साधन है।

आप लोग भी एकान्त में जाकर देख लो वहाँ समस्त सम्बन्ध टूट जाते हैं तो मन अपने आप ही शान्त हो जाता है। जब कभी किसी को मानसिक अशांति होती है या मानसिक तनाव होता है तो डॉक्टर सर्व प्रथम यही सलाह देते हैं कि इसको एकान्त में विश्राम की आवश्यकता है। इसके साथ कोई भी बातचीत न करें। बार-बार उसके पास स्वास्थ्य के बारे में चर्चा न करें। प्रायः करके जो रोगी होता है, उसके पास जो भी मिलने आते हैं वे सभी एक ही बात पूछते हैं कि आप ठीक हैं? अब आपका स्वास्थ्य कैसा है? 'हओ' कहते-कहते उसका सिर दर्द और हो जाता है। आपका कर्त्तव्य है कि उसकी औषधि चल रही है तो आप लोग भी औषधि के योग्य वातावरण तैयार करो। अर्थात् उससे बातचीत मत करो वहाँ के वातावरण को शान्त बनाए रखो। अन्यथा रोगी के मन में भी विकल्प होंगे कि आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं? क्या कर रहे हो ? कहाँ जाओगे ? इन विकल्पों के होने में आप कारण बनेंगे। तनाव बढ़ेगा। फलतः स्वास्थ्य भी बिगड़ सकता है। अब आप ही बताइये कि आप तो उसके स्वास्थ्य का समाचार लेने गये थे लेकिन आपकी ही चर्चा में यदि कोई ऐसी बात आ जाये जिससे वह घबड़ा जाये तो क्या मतलब ? फिर भी लोक व्यवहार के नाते आपका आना-जाना, पूछताछ करना होता है। करिए, लेकिन विवेक के साथ करिए। आपके निमित्त से यदि रोगी को कुछ सोचना पड़ेगा तो उसमें भी मन का श्रम होता है। इसीलिए जहाँ पर कोलाहल न हो वहाँ पर औषधालय या अस्पताल निर्मित होते हैं। प्राकृतिक कोलाहल मानसिक तनाव पैदा नहीं करता, किन्तु वह तो संगीत का काम कर सकता है। प्राकृतिक कोलाहल में कोरा

हल भी निकल सकता है। सिंह गर्जना भी एकान्त वास बनाए रख सकती है, लेकिन नरसिंहों की गर्जना विकल्प पैदा करने वाली हो सकती है। इसलिए योगी हमेशा एकान्त चाहता है।

'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ (कारिका २६/५) में आचार्य शुभचन्द्रस्वामी जी ने कहा है कि जो योगी योग साधना एवं आत्म ध्यान की साधना करना चाहते हैं वे एकान्तवास में रहें क्योंकि कोई भी निमित्त सामने रहता है तो तत्सम्बन्धी विकल्प हो सकते हैं।

''**निर्जनं जनितादरः**'' अर्थात् योगी हमेशा निर्जनता के प्रति आदर रखते हैं निर्जन स्थान में रहते हुए भी यदि कोई व्यक्ति उनके निकट आता है और यदि उससे कुछ बोलना बहुत ही आवश्यक होता है तो आचार्य कहते हैं कि ''**निजकार्यवशात्किञ्चि-दुक्त्वा विस्मरति द्रुतम्**'' योगी अपने कार्यवश कुछ बोलकर शीघ्र ही भूल जाते हैं। उसे स्मरण में नहीं रखते। बोलने के बाद क्या बोला ? कैसा बोला ? कितना बोला ? इसके बारे में कुछ नहीं सोचते, किन्तु बोलने के उपरान्त शान्त हो जाते हैं। जो बोला है उसकी तालिका बना कर नहीं रखते, क्योंकि बाहर चर्चाओं को या बाह्य पदार्थों को जितना ज्यादा याद रखेंगे उतने ही ज्यादा विकल्प भी उत्पन्न हो सकते हैं। जो योगी की साधना में बाधक सिद्ध होते हैं। आत्म साधना करने के लिए योगी का मन साफ-सुथरा होना आवश्यक है। मन के साथ यदि बाह्य कनेक्शन जुड़ते हैं तो आत्म चिन्तन में बाधा आती है। जैसे रेडियो में बहुत सारे कनेक्शन होते हैं उनमें से किसी एक को चालू किया जाता है तब तो आवाज स्पष्ट आती है। लेकिन कभी-कभी दो-दो स्टेशन एक साथ लग जाती हैं तो दो-दो आवाजें आती हैं। स्पष्ट आवाज नहीं आती क्योंकि उस समय कुछ इधर का, कुछ उधर का सुनाई देता है। इसी प्रकार योगी के मन में यदि प्रयोजन भूत-तत्त्व के साथ, निष्प्रयोजन-तत्त्व का सम्बन्ध भी जुड़ा रहता है तो प्रयोजनभूत आत्मतत्त्व में एकाग्रता नहीं आ सकती। यदि आप आत्मतत्त्व में लीन होना चाहते हैं तो सर्वप्रथम मन में जितने भी संकल्प-विकल्पों का समूह है उन सबको निकाल कर बाहर कर दीजिये। सामायिकपाठ-द्वात्रिंशतिका में आप प्रतिदिन पढ़ते हैं-

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुं।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

अर्थात् संसाररूपी वन में भटकाने में कारणभूत समस्त विकल्पों का निराकरण करके तुम परमात्म-तत्त्व में लीन हो जाओ, क्योंकि विकल्प जाल के साथ परमात्म-तत्त्व का ध्यान नहीं हो सकता।

प्राचीनकाल में युग के आदि में ऋषभनाथ भगवान् से लेकर भगवान् महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने छद्मस्थ अवस्था में किसी भी श्रावक से चर्चा करना तो दूर उनको आशीर्वाद भी नहीं दिया। यहाँ तो किसी की तरफ नहीं देखो, बात नहीं करो, आशीर्वाद नहीं दो तो लोग कहते हैं कि महाराज तो हमाई तरफ देखत तक नइयां, हमसे तो कुछ बोलत तक नइयां, अरे! आशीर्वाद

तक तो देत नइया। अरे तीर्थंकरों की ओर ध्यान दो, तो लगता है कि धन्य हैं! कैसी होती होगी मुनियों की चर्या, साधुओं की चर्या। कैसी निरीह चर्या करते होंगे ? उनकी वीतरागता कितनी अनूठी और अनोखी होती होगी। यहाँ तो उपदेश भी देते हैं, आशीर्वाद भी देते हैं, चर्चा भी करते हैं, फिर भी शिकायतें बनी रहतीं हैं। क्या करूँ पञ्चम काल है? फिर भी श्रावकों के अनुसार ही साधु चर्या करें, ऐसा तो नहीं हो सकता। तत्त्व-चर्चा हो तो फिर भी समय को देखते हुए की जा सकती है। पश्चात् उनसे कहना ही पड़ेगा कि चलिए, अब मेरा समय हो गया, तभी अपनी साधना हो सकेगी, अन्यथा नहीं।

योगी अपने कार्यवश या प्रयोजन वश कुछ कह कर कैसे भूल जाते हैं इसे एक उदाहरण से समझने का प्रयास कर सकते हैं। जैसे-परीक्षा के समय परीक्षा हॉल में परीक्षार्थियों को बीच में दो-दो फीट का अन्तर देकर बैठाया जाता है, ताकि वे नकल न कर सकें। लेकिन फिर भी विद्यार्थी एक दूसरे को कागज फेंककर संकेत करके पूछते हैं। जो विद्यार्थी लिखने में व्यस्त है यदि उससे कोई विद्यार्थी कुछ पूछता है तो थोड़ा-सा बता देता है। बताने के उपरान्त क्या बताया ? इसे याद नहीं रखता किन्तु तुरन्त भूल जाता है और पुनः अपने प्रश्न-पत्र को हल करने में लीन हो जाता है। ठीक उसी तरह योगी किसी श्रावक के कुछ पूछने पर या अपने प्रयोजन वश कुछ कह देते हैं और विद्यार्थी की भाँति क्या कहा ? इसे याद नहीं रखते किन्तु उसे उसी क्षण भुलाकर तुरन्त अपनी आत्म साधना में तत्पर हो जाते हैं।

इसी प्रकार की साधना सभी को करना चाहिए। इसके द्वारा अनेक मानसिक एवं शारीरिक तनाव शान्त हो जाते हैं। स्मरण शक्ति विकसित होती है। नवीन-नवीन तत्त्व ज्ञान का लाभ होता है। मैं तो प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि हे प्रभो! मेरी और इन सभी की विस्मरण शक्ति वृद्धि को प्राप्त हो, लेकिन किसको भुलाना यह भी ध्यान में रखना। जो विकल्प पैदा करने वाले विचार हैं, मानसिक तनाव बढ़ाने वाले विचार हैं, संक्लेश उत्पन्न करने वाले विचार हैं उन सबको भूल जाऊँ। इन्हें भुलाने के लिए मुझे स्मरण शक्ति नहीं किन्तु विस्मरण शक्ति चाहिए। उपरोक्त समस्त विचार मोक्षमार्ग में बाधक होते हैं इसीलिए उन्हें भुलाना आवश्यक भी है, अन्यथा प्रयोजनभूत तत्त्व-ज्ञान ख्याल में कैसे आयेगा। बड़े-बड़े योगियों को देखो, वे कैसे समस्त विकल्पों को क्षणमात्र में भुला देते हैं, एक और नीलाञ्जना जैसे अपने विचारों को परिवर्तित कर लेते हैं। जैसे मञ्च पर एक नीलाञ्जना नृत्य करते-करते कब विलीन हो जाती है और दूसरी नीलाञ्जना कब आ जाती है? साधारण दर्शकों को पता भी नहीं चलता उसी प्रकार योगी भी बाह्य विचारों को भूलकर, परिवर्तित कर अपने आत्म चिन्तन में कब लीन हो जाते हैं पता भी नहीं चलता।

अपने उपयोग को अन्तर से बाह्य दुनिया में जाने के लिए पाँच इन्द्रियरूपी खिड़कियाँ हैं। साथ में एक मन भी है जो बाहर की यात्रा करता रहता है। इस मन को पाँच इन्द्रियों के विषयों के

अतिरिक्त अपने आत्मतत्त्व में लगा दो। सीधी-सीधी बात है कि जिनसे हमारा प्रयोजन सिद्ध न हो ऐसे विषयों में मन को क्यों लगाना ? जिन वचनों से प्रयोजन सिद्ध न हो तो ऐसे वचन भी क्यों बोलना और ऐसी कोई चेष्टा भी नहीं करना जिससे प्रयोजन सिद्ध न हो ? कम बोलने से प्रयोजन सिद्ध न होता हो ऐसा नहीं है। वकील भी बोलते हैं, जज भी बोलते हैं। कम बोलना पड़े किन्तु अर्थ ज्यादा निकले, ऐसे वचनों का प्रयोग करना सीखना चाहिए।

आज का युग वैज्ञानिक युग है। सुनते हैं कि रूस, अमेरिका की मिलेट्री में ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता है कि छोटी सी एक गोली खाने पर आठ-आठ दिन तक भोजन करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। कमजोरी भी महसूस नहीं होती। नींद में भी कमी नहीं आती बल्कि समय पर जितनी नींद आवश्यक है उतनी आती है। मन की प्रशस्तता भी बनी रहती है। इन सभी में कोई अन्तर नहीं आता। इसमें यदि सूक्ष्मता से निरीक्षण किया जाये तो उस व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक शक्ति काम करती रहती है। इस परीक्षण से स्पष्ट होता है कि भोजन के बिना कैसे रहा जा सकता है? पूर्व साधना एवं पूर्व संस्कार के कारण ऐसा विचार आता है। इस परीक्षण को पढ़कर पूर्व धारणा को छोड़ देना चाहिए। जैसे एक खुराक दवाई लेने पर भोजन के बिना काम चल सकता है, उसी प्रकार इधर-उधर के अप्रयोजनीय विकल्पों को किए बिना भी काम चल सकता है।

विकल्पों को दूर करने का उपाय क्या है? इसके लिए एक चिन्तन या एक सिद्धान्त सामने रखना चाहिए। हमेशा यह सोचना चाहिए कि कोई भी विकल्प करने से जब मेरे अनुकूल कोई कार्य नहीं हो सकता तो मैं विकल्प क्यों करूँ? क्योंकि जैसा मैं चाहूँ वैसा सामने वाला कर ही देगा यह कोई नियामक नहीं है। इसलिए पहले से ही मन को ऐसा तैयार करके रखें कि यदि मेरे अनुकूल कोई कार्य नहीं हुआ तो विकल्प ही उत्पन्न न हों। ''कभी-कभी ऐसा होता है कि हजारों बार भी विकल्प करने के बाद जैसा चाहा वैसा कार्य नहीं होता तो इस स्थिति में सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि विकल्प करने से विकल्प के अनुसार कार्य होते ही हों, ऐसा कोई नियम नहीं है।'' इसके उपरान्त भी पूर्व संस्कार वश विकल्प उत्पन्न होते हैं अतः साधक इन विकल्पों को दूर करने हेतु योग साधना एवं आत्म नियंत्रण का प्रयोग करते हैं।

एक लेख पढ़ा था, जिसका शीर्षक था-''निद्रा आवश्यक तो है पर अनिवार्य नहीं।'' निद्रा के बिना जीवन नहीं चल सकता ऐसा नहीं है। जैनाचार्यों ने भी कहा है कि शारीरिक और मानसिक श्रम करने से शरीर में जो थकान आती है, उस थकान को दूर करने हेतु निद्रा आवश्यक है लेकिन निद्रा न आ रही हो, शरीर में कोई थकान भी न हो तो निद्रा लेना अनिवार्य नहीं है।

यह सिद्धान्त है कि लोग जितनी ज्यादा निद्रा लेते हैं, उतने ही आयु कर्म के निषेक उदीरित होते हैं। नाड़ी भी तीव्रगति से चलती है। यदि दिन में निद्रा लेते हैं तो नाड़ी की गति और ज्यादा तीव्र होती है, अतः दिन में शयन करना तो अनिवार्य क्या, आवश्यक भी नहीं है। भिन्न-भिन्न क्रियाओं

से नाड़ी की गति भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है। प्रमाद की अवस्था में नाड़ी की सबसे ज्यादा गति होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि निद्रा नहीं आने से टेंशन बढ़ते हैं और यह भी कहते हैं कि टेन्शन को दूर करना हो तो सो जाओ, सो जाने से मानसिक तनाव दूर हो जाते हैं। ऐसी धारणा सही नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि मानसिक तनाव से या श्रम से शरीर में या मन में जो थकावट आती है वह जरूर निद्रा से दूर हो सकती है। लेकिन आचार्यों ने मानसिक तनाव को दूर करने के लिए निद्रा को आवश्यक नहीं बताया किन्तु ध्यान का अभ्यास करो, ऐसा कहा है। ध्यान में क्या करना ? तो कहते हैं मा चिंतह, मा जंपह अर्थात् बोलो मत, चिन्तन मत करो, मन को पूर्ण रूप से अपने आपमें लगा दो, इसी का नाम धर्मध्यान है। इस धर्मध्यान के द्वारा मन विश्राम अवस्था का अनुभव करता है। 'द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ' में आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी जी ने इस विषय में एक गाथा लिखी है-

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिंतह किं वि जेण होई थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

इस गाथा में परम ध्यान को परिभाषित किया है। सोचो, विचार करो कि जैसे ध्यान की परिभाषा बतलाई है वैसा कभी अभ्यास किया है या नहीं ? यदि किया होता तो अभी तक कभी का मन शान्त हो गया होता। मन की थकान, मन की अशान्ति बनी हुई है इसका मतलब यही है कि आज तक इस ध्यान का अभ्यास नहीं किया। ध्यान की भूमिका के रूप में बारह-भावनाओं का चिन्तन करने से भी मन बहुत शान्त हो जाता है। आप लोग अपने बच्चों को जब सुलाते हैं तो क्या करते हैं? कोई गीत सुनाना प्रारम्भ कर देते हैं, लोरी गाना प्रारम्भ कर देते हैं। मानों वह लोरी और गीत नींद की गोली का काम करती है। उस गीत और लोरी के स्थान पर बारह-भावना, मेरी भावना, वैराग्य भावना भी सुनाई जा सकती है। सुनते-सुनते बच्चों का मन शान्त हो जाता है फिर सो जाता है उसी प्रकार ध्याता योगी का मन भी बारह भावनाओं का चिन्तन करते-करते शान्त हो जाता है, विकल्पों से दूर हो जाता है। फलतः आत्म ध्यान में तल्लीन हो जाता है। शरीर स्तब्ध हो जाता है। उस समय मानसिक एवं शारीरिक विश्राम अवस्था प्राप्त होती है। आप लोगों को इसका अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। मैं मानता हूँ कि यह अभ्यास एक दो दिन में सफल नहीं हो सकता। ''किसी भी कार्य का अभ्यास सफल करने में यथायोग्य समय तो आवश्यक होता ही है, लेकिन अभ्यास प्रारम्भ करेंगे तभी तो सफलता मिलेगी।''

सर्वप्रथम कोई एक आसन सिद्ध होना चाहिए अर्थात् एक घण्टे के लिए या जितने समय तक आप ध्यान करना चाहें उतने समय तक आसन स्थिर होना चाहिए। आसन स्थिर होने से निश्चित रूप से शून्य दशा आयेगी और ध्यान के आनन्द की लहर भी आना प्रारम्भ हो जायेगी। मन और शरीर की चंचलता के माध्यम से इन्द्रियाँ उत्तेजित होती हैं। फलतः वे विषयों का ग्रहण करती हैं।

विषयों के ग्रहण से उपयोग बाहर चला जाता है, चंचलता आ जाती है। ऐसी स्थिति में उन विषयों को प्राप्त करने के लिए मन अपना आयाम प्रारम्भ कर देता है। अर्थात् बाह्य दुनिया की यात्रा प्रारम्भ कर देता है। इसलिए सर्वप्रथम ध्याता को आसन-विजयी, निद्रा-विजयी होना चाहिए। आसन-विजय के साथ-साथ मन पर भी विजय प्राप्त करना अनिवार्य होता है। जिसका मन नियन्त्रित नहीं होता वह ध्यान करने में सफल नहीं हो सकता। अतः मन को एक विषय में केन्द्रित करना आवश्यक होता है। रीढ़ की हड्डी को बिल्कुल सीधा रखें, हिलायें डुलायें नहीं तो निश्चित रूप से एकाग्रता आयेगी। ध्यान की अवस्था में बाहर से भी न बोलें, अन्दर भी न बोलें। इस प्रकार के प्रयोग करने में जब आप अभ्यस्त हो जायेंगे तो फिर आप ऐसा कभी नहीं कहोगे कि मन नहीं लगता या मन शान्त नहीं होता। विधिपूर्वक ध्यान करेंगे तो मन निश्चित रूप से शान्त होगा।

यदि आपका मन नियंत्रण में नहीं है तो आप चाहे एयरकण्डीशन में रहो या डबल एयरकण्डीशन में रहो आप टेन्शनलैस नहीं हो सकते। ध्यान के लिए कोई एयरकण्डीशन की आवश्यकता नहीं होती। आज के युग की कण्डीशन कैसी हो रही है? पश्चिमी हवा ने ऐसा प्रभाव डाला है कि मन को कितना भी मनाने का प्रयास करें तो भी वह मनमाना होता चला जाता है। स्मरण शक्ति को बढ़ाने के लिए आज गोली ली जा रही है, औषधि ली जा रही है, ऐसे उपचार किये जा रहे हैं जिनसे बुद्धि का विकास हो। आचार्य कहते हैं बुद्धि अपने उपयोग का प्रतिरूप है, उस उपयोग का कभी विकास नहीं होता है। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर ज्ञानोपयोग की अभिव्यक्ति विकसित होती है। लेकिन लौकिक क्षेत्र में बुद्धि के विकास करने की जो विधियाँ हैं उनसे बुद्धि का विकास करके भी क्या करना है? मुझे तो कुछ समझ में नहीं आता। ''ढाई अक्षर काम का, ढाई अक्षर प्रेम का'' आत्मा शब्द में भी ढाई अक्षर हैं, अतः इसके अतिरिक्त बुद्धि की अपने को कोई आवश्यकता ही नहीं है।

आत्मा है, ज्ञान है इनको कहीं बाहर से नहीं लाना। आत्मा याद रहे बस इतना ज्ञान पर्याप्त है। अन्य कुछ चीजें याद नहीं आती तो इसमें परेशान होने की क्या जरूरत है। अपने को उस घड़ी धन्य समझना चाहिए जिसमें बाह्य वस्तुओं का स्मरण नहीं होता हो। योगी का स्वरूप 'यथाजात' रूप कहा गया है। योगियों के लिए बच्चों के यथाजात रूप को उदाहरण में लिया गया है और कहा है कि जिस प्रकार बच्चे यथाजात होते हैं, उनमें हर्ष-विषाद, राग-द्वेष आदि का कैसा भी वातावरण हो, उसका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे घर में किसी का मरण हो गया, लोग रोने लगे, बच्चों को घर के बाहर कर दिया, तब भी वे आपस में हँसते हैं, खेलते हैं, बातचीत करने में व्यस्त हो जाते हैं। उन्हें वियोगजन्य दुःख नहीं होता, क्योंकि उन्हें ज्ञात ही नहीं होता कि मरण क्या वस्तु है? उनको न संयोग से मतलब रहता है, न वियोग से। मकान बन जाये तो हर्ष नहीं, गिर जाये तो विषाद नहीं। स्वामित्व भाव जहाँ से प्रारम्भ होता है वहीं हर्ष और विषाद होते हैं। उसी प्रकार योगी

के जीवन में स्वामित्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि नहीं होती, इसलिए वे हर्ष-विषाद, राग-द्वेष आदि विकल्पों से दूर रहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ की एक गाथा में संसारी प्राणी को समझाने का प्रयास किया है परन्तु खेद की बात है कि हम लोगों ने उस गाथा के मर्म को समझने का प्रयास नहीं किया।

''सण्णाओ तिलेस्सा इंदियवसदा य अट्टरुद्दाणि ॥१४०॥''

चार संज्ञाओं, तीन अशुभ लेश्याओं एवं पंचेन्द्रियों के विषयों के वशीभूत होकर संसारी प्राणी ने अपने ज्ञान का दुरुपयोग किया है। ज्ञान का उपयोग कहाँ करना चाहिए था ? कहाँ नहीं ? इसका ख्याल ही नहीं किया। धर्मध्यान के लिए ज्ञान का उपयोग करना चाहिए था किन्तु आर्त्त-रौद्रध्यान में किया। यही ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका आत्म-हित के क्षेत्र में उपयोग नहीं करना भी ज्ञान का सबसे बड़ा दुरुपयोग है। अब इसे अपनी भूल के रूप में स्वीकार करें और आत्म-हित में ज्ञान का उपयोग करें। इसी सदुपदेश से हमारा कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं।

उत्थानिका—आत्मस्थ योगी बाह्य क्रियाओं को करता हुआ भी उनका कर्ता नहीं होता। क्यों नहीं होता ? इसका समाधान करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी आगे की कारिका को लिखते हैं—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

अन्वयार्थ—(स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु) किन्तु आत्म तत्त्व में स्थिर रहने वाला **(ब्रुवन् अपि)** बोलता हुआ भी **(न हि ब्रूते)** नहीं बोलता है **(गच्छन् अपि)** चलता हुआ भी **(न गच्छति)** नहीं चलता है और **(पश्यन् अपि)** देखता हुआ भी **(न पश्यति)** नहीं देखता है।

यदपि बोलते हुए दीखते, तदपि बोलते कभी नहीं,
चलते जाते हुए दीखते, फिर भी चलते कभी नहीं।
आत्म तत्त्व स्थिर जिनका उनकी, जाती महिमा कही नहीं,
दृश्य देखते हुए दीखते, किन्तु देखते कभी नहीं ॥४१॥

He who has firmly established himself in the knowledge of the Self, such a one does not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing !

Note - When a man has put his faith firmly in the Self his actions cease

to bind. that is to say, affect him. His activity in such a case ceases to be volitional and becomes automatic, as it were. Of such a being it is correct to say that speaking he does not speak, moving about he does not move about, and seeing he does not see.

विवेचना—जिसने अपने आत्म-तत्त्व को स्थिर कर लिया है, पर पदार्थों से अपना मुख मोड़ लिया है ऐसा मुमुक्षु बोलते हुए भी नहीं बोलता, जाते हुए भी नहीं जाता, देखते हुए भी नहीं देखता। उसका मतलब यह है कि ज्ञानी मुमुक्षु किसी भी क्रिया को करते समय उसमें आसक्त नहीं होता। किसी भी क्रिया में राग-द्वेष का भाव नहीं करता। प्रत्येक क्रिया करते समय विरक्ति का भाव रखता है। मुमुक्षु को ज्ञात होता है कि इन पर पदार्थों से मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है। इस सिद्धान्त पर उसका दृढ़ विश्वास भी होता है। इसीलिए वह बाह्य पर पदार्थों के बीच क्रिया करते हुए भी, ज्ञाता-दृष्टा रहता है। लोगों को दिखने में आता है कि यह हमें देख रहा है, लेकिन वह कहाँ क्या देख रहा है? यह हम नहीं समझ पाते। बोलते हुए भी उसका क्या दृष्टिकोण होता है, वह हमें ज्ञात नहीं होता। ज्ञानी यदि किसी के शरीर की ओर देखता भी है तो उस शरीर में रहने वाले आत्मा को देखने का प्रयास करता है। वह देखता है कि इस शरीर में वह कहाँ छुपा हुआ है? जैसे मैं अपने शरीर में छुपा हूँ। आपको देख रहा हूँ पर आप कौन हैं? कहाँ हैं? यह देखता हूँ। यह जो मेरा और आपका शारीरिक रूप दिखाई दे रहा है वह मैं नहीं हूँ और आप भी नहीं हैं। आप इस शरीर से पृथक् आत्मतत्त्व स्वरूप हो। मैं भी इस शरीर से पृथक् आत्म-तत्त्व हूँ। अन्दर की बात को आप लोग नहीं समझ सकते।

यह दुनिया हमेशा शरीरों में अटकी हुई है। इसकी दृष्टि सूरत-शकल में अटकी हुई है। इसकी दृष्टि में बाहर ही सब कुछ है। भीतर की कोई बात ही नहीं रहती। जबकि योगी की दृष्टि में भीतर ही सब कुछ रहता है। बाहर की सब बात समाप्त हो जाती है। तभी तो योगी बोलते हुए भी नहीं बोलते, ऐसी स्थिति का अनुभव कर पाते हैं।

लगता ऐसा है कि मानो, यह तो बच्चों का खेल जैसा है। लेकिन ध्यान रक्खो यह सामान्य खेल या बच्चों का खेल नहीं है, यह तो अध्यात्म दृष्टि का एक अनोखा खेल है। इस अनोखे खेल को जो खेल लेता है उसे अन्य किसी दूसरे खेल खेलने की जरूरत ही नहीं होती।

उत्थानिका—आत्मध्यानस्थ योगी वस्तुओं को देखकर भी, यह क्या है? किसके सदृश है? आदि विकल्पों को नहीं करता। यहाँ तक कि आत्मतत्त्व को छोड़कर शरीर के बारे में भी विचार नहीं करता। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए आगे आचार्य महाराज कहते हैं—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥

अन्वयार्थ—(योगपरायण:) आत्म-ध्यान में लगा हुआ **(योगी)** योगी साधक **(इदम्)** यह **(किम्)** क्या है **(कीदृशं)** कैसा है **(कस्य)** किसका है **(कस्मात्)** किस कारण से है **(क्व)** कहाँ है **(इति)** इस तरह **(अविशेषयन्)** विशेष विचार न करता हुआ **(स्वदेहम् अपि)** अपने शरीर को भी **(न अवैति)** नहीं जानता है।

यह सब क्या है? क्यों हैं? किस विध? कब से? किसका? है किससे?
इस विध चिन्तन करता-करता, जो निज चिति में फिर-फिर से!
अपनी काया की भी सुध-बुध, भूल कहीं खो जाता है,
योग परायण योगी वह तो, एकाकी हो जाता है॥४२॥

The ascetic immersed in the process of self-realization has no awareness of even his body. being undisturbed by questions such as what is the soul ? What is its nature ? Who is its master ? From whom is it derived ? Where does it reside ? and the like.

Note - In the culminating *samadhi* (the condition of entrancement of self-realization) thought is over-powered by the thrilling pulsation of the joyusness of self-feeling. Consequently, no question arises as to the nature attributes, etc., of the soul-substance. The entire soul is then filled with the rapturous rhythm of a life that is at once illumined and blissful by its own light and the inherent ecstasy of delight. In that state there can of course be no engrossment of the conscious faculty with the idea of the physical poersonality or its basis and abode, the body of matter.

विवेचना—चैतन्यतत्त्व की अनुभूति करने वाला योगी हमेशा अन्तर्दृष्टि वाला होता है। वह आत्मतत्त्व के स्वरूप को जानता है, देखता है, उससे परिचित रहता है। उसी अन्तस्तत्त्व की अनुभूति का आनन्द लेता है। उसके अतिरिक्त दुनिया के समस्त बाह्य तत्त्व की बात तो बहुत दूर, वह तो शरीर सम्बन्धी भी कोई विकल्प नहीं करता। आत्म-तत्त्व की साधनारत साधक को तो शरीर का भी कोई ख्याल नहीं रहता। यह शरीर क्या वस्तु है? इसका स्वरूप क्या है? किसके सदृश है? इसका स्वामी कौन है? इसकी उत्पत्ति किससे होती है? यह कहाँ पर रहता है? इत्यादि विकल्पों को भी नहीं करता। शरीर की चिन्ता नहीं करता। शरीर भूखा है, प्यासा है, सुख-सुविधा में है या कष्टों में है, ऐसा भी कोई विकल्प नहीं करता। योगी जब शरीर सम्बन्धी कोई चिन्ता नहीं करता तो दुनिया की अन्य समस्त बाह्य वस्तुओं की चिन्ता करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

महा उपसर्ग, परीषहों के आने पर भी योगी का ध्यान आत्म-तत्त्व की ओर से विचलित नहीं होता किन्तु इस स्थिति में भी साम्य भाव से बना रहता है। 'साम्य-भाव' ही योगी का सम्यक्

चारित्र है। रत्नत्रय की वृद्धि एवं उसकी सुरक्षा साम्य-भाव से होती है। साम्य-भाव योगी के जीवन का वैभव होता है, जिसे वह हमेशा सम्हालकर रखता है। साम्यभाव योगी के जीवन की शोभा है।

अन्तस्तत्त्व के अनुभव में लीन हुए योगी अन्तस्तत्त्व के बारे में भी प्रश्न रूप चिन्तन नहीं करता। जैसे कि यह आत्मतत्त्व क्या है? कैसा है? किसका है? क्यों है? कहाँ है? इत्यादि विकल्पात्मक आत्मचिन्तन नहीं करता। वह योगपरायण योगी आत्मयोग में लीन हो जाता है। दुनिया क्या है? इसका विचार नहीं करता वरन् दुनिया में मैं कौन हूँ ? इस प्रश्न के उत्तर में, अपने चैतन्य तत्त्व के चिन्तन में, आत्मध्यान में खो जाता है। अपनी काया की सुध-बुध भूल जाता है और एकाकी होकर एकत्व स्वरूप आत्म-तत्त्व में लीन हो जाता है। योगी का जीवन 'तुम तुम्हारे में, हम हमारे में,' इस प्रकार की पृथक्त्व दृष्टि से सहित होता है।

यह संसारी प्राणी मोह के वशीभूत होकर पर वस्तुओं को अपना मानता है। इस जग में भ्रमित बुद्धि के कारण हिरण की भाँति रेत को जल समझकर, दौड़-दौड़कर उसे पाने के लिए भ्रमण करता रहता है। भटकते-भटकते आखिर में हताश होकर, थककर जल को तो प्राप्त नहीं कर पाता किन्तु जल की खोज में अपने प्राण गँवा देता है। सोचो, विचार करो, क्या उसी हिरण की भाँति संसार में हमारी दशा नहीं हो रही है? हम भी तो, चेतन और अचेतन वस्तुओं में मोह से उत्पन्न भ्रम के कारण भेद नहीं कर पा रहे हैं। यह शरीर और आत्मा अनादि सम्बन्ध से सहित है। उस एकत्व के प्रति हमारी भेद-दृष्टि नहीं जाग पा रही है। आचार्य कहते हैं बिना प्रयत्न के कुछ नहीं होता। देखो! दूध में जल मिला है और उसको पृथक् करना हो तो प्रयत्न आवश्यक है। बिना प्रयत्न के, बिना पुरुषार्थ के कोई भी कार्य सफल नहीं होता है। फिर इस मोक्षमार्ग में हम अपना पुरुषार्थ जाग्रत क्यों नहीं करते। यहाँ भी यही विश्वास बनाए रखना चाहिए कि धर्म पुरुषार्थ एवं मोक्षपुरुषार्थ के बिना कभी भी मुक्ति संभव नहीं है। आप लोग प्रतिदिन बारह-भावनाओं का चिन्तन करते हैं उसमें अन्यत्व भावना का भी चिन्तन करते हैं कि-

मोह रूप मृग-तृष्णा जग में मिथ्या जल चमकै।
मृग चेतन नित भ्रम में उठ-उठ दौड़े थक-थक के।
जल नहीं पावै प्राण गमावै भटक-भटक मरता।
वस्तु पराई मानै अपनी, भेद नहीं करता।
तू चेतन अरु देह अचेतन, यह जड़ तू ज्ञानी।
मिले-अनादि यतनतैं बिछुड़ै, ज्यों पय अरु पानी।
रूप तुम्हारा सबसों न्यारा, भेद-ज्ञान करना।
जौलों पौरुष थकै न तौलों उद्यम सों चरना ॥५/१२॥

"**स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायण:**" अर्थात् वह योगी जो कि योग-परायण है वह ध्यान के समय अपनी देह को भी भूल जाता है। मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? यह सब क्या है? इन सभी प्रश्नों से उसका मन प्रश्नायित नहीं होता। इस प्रकार की कोई छान-बीन नहीं होती। मैं मुनि हूँ यह भी याद नहीं रहता। मनुष्यगति नामकर्म के उदय से अपने आप (मनुष्य) को औदयिकभाव रूप में स्वीकार तो करता है लेकिन पर्याय बुद्धि नहीं रखता, क्योंकि कर्मों के उदय के प्रभाव से वह ऊपर उठ चुका होता है।

प्रक्षेपास्त्र में ईंधन की आवश्यकता कब तक होती है? प्रक्षेपास्त्र के द्वारा यान को जब तक कक्ष में प्रक्षिप्त करते हैं तब तक ईंधन आवश्यक होता है, उसके उपरान्त नहीं। उसी प्रकार परम-समाधि में जाने के लिए दिगम्बरत्व आवश्यक होता है। समाधि के समय बाहर शरीर आदि में उपयोग नहीं रहता। योगी शरीर में है, पर शरीर का कोई ख्याल नहीं। शरीर में है पर शरीर सो मैं नहीं। इस भेदविज्ञान की अनुभूति में डूब जाता है।

परम-समाधि की यात्रा बहुत आनन्ददायक होती है पर उस यात्रा को करना साहस की बात है। निर्विकल्प-समाधि के समय शरीर की क्रिया का अनुभव नहीं होता। निर्विकल्प समाधि क्या है? इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे कि-विमान (यान) तीव्रगति वाला होता है पर धरती पर नहीं। विमान को ऊपर उड़ने में पहिये की आवश्यकता होती है। ऊपर उठते ही पहिये गायब हो जाते हैं उसी प्रकार साधक को आत्मध्यान में ऊपर उठने के लिए आचरण रूपी पहिये की आवश्यकता होती है, लेकिन जिस समय योगी ध्यान में निर्विकल्प हो जाता है उस समय आचरण रूपी पहिये की आवश्यकता नहीं होती। जब योगी इस समाधि में तल्लीन हो जाता है तभी आत्मानन्द का अनुभव करता है।

उत्थानिका—आचार्य कहते हैं, धीमन्! सुनो, समझो—

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥४३॥

अन्वयार्थ— (य:) जो [जीव] **(यत्र)** जहाँ पर **(निवसन् आस्ते)** रहता है **(स तत्र)** वह वहाँ [उस स्थान पर] **(रतिम् कुरुते)** प्रीति करता है और **(य: यत्र)** जो जहाँ **(रमते)** रम जाता है **(स)** वह **(तस्मात्)** उस स्थान से **(अन्यत्र)** अन्य जगह **(न गच्छति)** नहीं जाता।

जो भी मानव निवास करता, जहाँ कहीं भी पाया है,
नियम रूप से उसने अपना वहाँ राग दिखलाया है।
भाव-चाव से जहाँ रम रहा, जीवन अपना बिता रहा,
उसे छोड़कर कहीं न जाता, छन्द यहाँ यह बता रहा ॥४३॥

He who abides in a place, becomes attached to the place, he who takes a liking to a locality does not give it up to go elsewhere ?

Note - This is the general rule. When a person likes a place he sticks to it does not think of leaving it and of going to another place. Similary the ascetic who loves the state of the *samadhi* of self-realization never entertains the idea of departing from it, it being full of delicious joy and ecstasy for him.

विवेचना—अध्यात्म की अनुभूति करने वाले उच्च साधक योगी की ऐसी विलक्षण दशा कैसे संभव होती है? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य कहते हैं कि चूँकि अध्यात्म की अनुभूति की दशा अद्‍भुत दशा है। संसारी मोही प्राणी ने कभी इस अवस्था का अनुभव नहीं किया इसलिए उसे इस बात का आश्चर्य होता है कि क्या कोई आत्म-साधना की इतनी उच्च अनुभूतियों के शिखर पर पहुँच सकता है? हाँ, क्यों नहीं पहुँच सकता है। जो जिस क्षेत्र में रहता है, जो जिस कार्य का अभ्यास करता है वह वहीं अभ्यस्त हो जाता है और उसी क्षेत्र में सर्वोच्च सफलता भी प्राप्त करता है। लोक में भी देखा जाता है कि जो मनुष्य जिस घर में, जिस गाँव में, जिस नगर में, जिस देश में, जिस राष्ट्र में रहता है वहीं उसका मन लगता है। वहीं उसे अच्छा लगता है। वहीं पर वह खुश रहता है। वह वहाँ से अन्यत्र जाना ही नहीं चाहता।

जैसे कि कोई भारतीय/भारतवासी विदेश यात्रा पर गया हो वहाँ के वातावरण एवं सुख-सुविधाओं के साधनों को देखकर, तात्कालिक कुछ समय के लिए उन वस्तुओं के प्रति रञ्जायमान तो होता है। लेकिन अपनी विदेश यात्रा पूर्ण होने पर भारत लौटकर आता है तो उसके मित्रगण एवं परिजन उससे मिलने आते हैं। विदेश यात्रा की वार्ता होती है। उसी बीच उसके मित्रगण उससे पूछते हैं कि क्यों भाई! यात्रा कैसी हुई ? बहुत आनन्द आया होगा ? मुझे भी सही-सही बताओ कि वहाँ कैसा लगा ? तब वह गहरी साँस लेते हुए बोलता है कि—क्या बताऊँ ? यात्रा तो बहुत अच्छी रही, आनन्द भी बहुत आया परन्तु-परन्तु...क्या ? क्या कहना चाहते हो, कहो जल्दी कहो। तब वह बताता है कि यात्रा तो विदेश की करता रहा, लेकिन अपने भारतदेश की हर पल याद आती रही। सोचो, विचार करो। यात्रा विदेश की चल रही है और भारत की याद आ रही है। यह सब क्या है? बड़ा आश्चर्य है बस यही स्थिति योगी की होती है। शुद्धोपयोग अथवा निर्विकल्प-समाधि की दशा में वह अपने देश में रहता है लेकिन कभी-कभी जब योगी परम-समाधिरूपी देश से बाहर शुभोपयोग अर्थात् विदेश की यात्रा पर जाता है तब षड् आवश्यक रूपी वैभव में रहता हुआ भी बार-बार परम-अध्यात्म रूपी अपने देश की याद करता रहता है।

अब इसमें कोई आश्चर्य की बात ही नहीं है कि योगी, योग-साधना करता है और उसके

फलस्वरूप अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। यही कारण है कि जब उसे अपनी आत्म-साधना में अभूतपूर्व आनन्द आता है तो उसे छोड़कर उसकी अन्यत्र कहीं भी प्रवृत्ति नहीं होती।

उत्थानिका—जब दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता, तब क्या होता है? उसे आगे के श्लोक में आचार्य कहते हैं–

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बध्यते न विमुच्यते ॥४४॥

अन्वयार्थ— **(तद्विशेषाणाम्)** उन [शरीर आदि पर पदार्थों के] विशेषणों [विशेषताओं] को **(अगच्छन्)** न जानता हुआ **(अनभिज्ञः)** अजान **(जायते)** बन जाता है **(च)** और **(अज्ञाततद्विशेषः)** उन शरीरादि की विशेषताओं पर ध्यान न देने वाला **(न बध्यते)** कर्म से नहीं बँधता **(तु)** किन्तु **(विमुच्यते)** छूट जाता है।

बाहर योगी जब ना जाता, बाहर का फिर ज्ञान कहाँ?
बाहर का जब ज्ञान नहीं है, विषयों का फिर नाम कहाँ?।
विषयों का जब नाम नहीं है, रागादिक का काम कहाँ?
रागादिक का काम नहीं तो, बन्ध कहाँ? शिवधाम वहाँ ॥४४॥

The ascetic, not stirring out of his Self and not attending to the particular natures of the not-self, does not become their enjoyer; by not enjoying the not-self he is not bound by *karmas*, but becomes released from them !

Note - The law governing *karma* and transmigration is this that attachment and aversion for objects of the sense are the causes of bondage of the soul. They cause the influx of a kind of subtle invisible matter into the soul substance, and the fusion of the inflowing material with the soul is the form of the bondage of *karma* that is so harmful to the self. The soul not falling in the category of the objects of sense, its contemplation does not give rise to attachment and aversion; on the contrary, it is productive of a state of equanimity and indifference in the mind that is engaged in the enjoyment of the natural inborn joy of his own real self. Hence he is not afflicted with fresh *karmic* bondage while he is engaged in self-contemplation. In addition, his existing *karmic* bonds also begin to break up on account of the prevailing state of equanimity; because what is attracted into the soul in consequence of an agitated state of the mind must begin to dis-

perse and depart when contrary state is established therein. The *acharya*, therefore, says that the *samadhi* of self-feeling has a two-fold merit: it is firstly, not productive of any additional mancipation for the soul, and secondly, it is actually destructive of the existing bondage.

विवेचना—आत्मतत्त्व में स्थिर हुआ योगी जब अध्यात्म बाह्य वस्तुओं के गुणधर्म से संबंधित कुछ भी विचार नहीं करता और उनके भेद-प्रभेदों के बारे में भी नहीं सोचता। फलस्वरूप उनके प्रति योगी को न राग होता है, न द्वेष होता है। राग-द्वेष नहीं होने से तत्सम्बन्धी कर्म-बन्ध की प्रक्रिया भी नहीं होती। वरन् पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।

साधारणतः अध्यात्म के प्रसंग के श्रोताओं के मन में यह प्रश्न आता ही है कि योगी के जीवन में इस तरह की आत्म-स्थिरता कैसे संभव होती होगी ? जहाँ कि शरीर का एवं अन्य बाह्य वस्तुओं का ख्याल ही नहीं आता, यह अति आश्चर्य की बात तो है। पर इसे एक उदाहरण से समझने का प्रयास किया जा सकता है। जैसे कि मछली जब जल में रहती है तो आनन्द का अनुभव करती हुई अपना जीवन जीती है, क्योंकि जल ही उसका जीवन है। बच्चे बोलते हैं न–

मछली जल की रानी है, जीवन उसका पानी है।
हाथ लगाओ डर जाती है, बाहर निकालो मर जाती है ॥

मछली जल में रहती है तो आनन्द का अनुभव करती है, जल से बाहर आते ही व्याकुल हो जाती है। वैसे ही आत्मस्थिर योगी जब शुद्धोपयोग की भूमिका में होते हैं, तब परमानंद का अनुभव करते हैं। लेकिन शुभोपयोग की भूमिका में आते ही पुनः शुद्धात्म-तत्त्व की अनुभूति हेतु मछली की भाँति आकुल-व्याकुल हो जाते हैं। फलतः वे योगी बार-बार उस शुद्धोपयोग को प्राप्त करने का हमेशा आत्म-पुरुषार्थ बनाए रखते हैं। योगी ही नहीं किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव भी जब शुभोपयोग की भूमिका से अशुभोपयोग में पहुँच जाते हैं तब वे भी जल से रहित मछली की तरह पुनः शुभोपयोग में आने के लिए एवं शुद्धोपयोग की भावना करने के लिए हमेशा उद्यत रहते हैं।

शुद्धोपयोग में योगी क्या करता है? तो आचार्य कहते हैं कि "**मा चिट्ठह मा जंपह**" चेष्टा मत करो, बोलो मत, यहाँ तक कि चिन्तन भी मत करो। कहने का तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग में कुछ करना नहीं होता किन्तु करने की क्रिया से पूर्ण विश्राम होता है।

उत्थानिका—अध्यात्म का अर्थ क्या है? भेदविज्ञान का अर्थ क्या है? इसको जो अपनाता है वह सुख को प्राप्त है। अतः महात्माओं ने इसी के लिए उद्यम किया है। हम भी इसी उद्यम को अपनायें। इसी विषय को आगे की कारिका में स्पष्ट किया जा रहा है–

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४५॥

अन्वयार्थ– (परः) अन्य पदार्थ (आत्मा से) **(परः)** अन्य हैं अतः **(ततः)** उस अन्य पदार्थ से **(दुःखम्)** दुःख होता है और **(आत्मा)** आत्मा अपना **(आत्मा एव)** आत्मा ही है अतः **(ततः)** उस (आत्मा) से **(सुखम्)** सुख होता है **(अतएव)** इसी कारण **(महात्मानः)** महापुरुषों ने **(तन्निमित्तं)** उस आत्मा की प्राप्ति के निमित्त **(कृतोद्यमाः)** उद्यम किया था।

पर तो पर है समझो भ्राता!, पर से अति दुख मिलता है,
आतम तो आतम है भ्राता, आतम से सुख मिलता है।
यही जानकर यही मानकर, महामना ऋषि सन्त यहाँ-
आत्म-साधना में रत रहते, सुख पाने गुणवन्त महाँ ॥४५॥

The not-self are surely never the Self; only sorrow accrues to the soul from them : the Self ever remains the Self; it is, therefore, the cause of happiness; because of this, great personages have exerted themselves for the realization of the Self !

Note - The distinction between sense-produced pleasure and the natural joy appertaining to the soul itself is again emphasized here by the *acharya*, for what shall a man profit if he gains the whole world but loses his own soul ? The fact is, as the *jainacharyas* have demonstrated, over and over again, that the soul is blissful by nature and comes into the enjoyment of surpassing, unsurpassed bliss by the simple practice of self-feeling. The pleasures of the world are false and illusory, as compared with the joyousness of life itself. They even fail and deceive one in the most critical moment. Moreover, nothing in the class of the not-self is lasting and unperishing, so that he who becomes attached to them has sooner or later to lament their loss. Sometimes he himself has to part from the objects of pleasure, when the parting is all the more terrible. What good can, then, come of attachment to the objects in the world ? Atman (the self) alone is, thus, the fit object of attachment, and it rewards the devotee with life eternal and knowledge and joy unlimited.

विवेचना–निश्चित रूप से यह बात युक्तिसंगत है कि पर तो पर है, पर के संयोग से दुःख होता है। आत्मा तो आत्मा है, उससे सुख होता है। इसलिए जो महात्मा हैं वे सुख प्राप्ति के लिए हमेशा अपनी आत्मा में उद्यमशील रहते हैं। साधक का लक्ष्य सुख प्राप्ति का होता है। अतः वे उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधनस्वरूप आत्मतत्त्व में हमेशा उद्यमित रहते हैं। आत्म-उद्यम में रत

होना यह सुख का सच्चा साधन है। पर पदार्थों के साथ जब तक सम्बन्ध बना रहता है तब तक निश्चित रूप से रागद्वेषादि परिणाम उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेषादि परिणामों से दुःख देने वाले असाता आदि अशुभ कर्मों का बन्ध होता है और बंधे हुए कर्म जब उदय में आते हैं तो दुःख के कारणभूत साधन प्राप्त होते हैं। उन साधनों से दुःख उत्पन्न होता है। अन्त में दुःख की अनुभूति होने से जीव अपने आपको दुःखी मानता है। लेकिन जो महापुरुष होते हैं वे पर पदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर, जिसको सुख का साधन माना गया है ऐसी अपनी आत्मसाधना में रत रहते हैं। आत्म-साधना में ही उद्यमशील रहते हैं।

परमानन्दस्तोत्र में भी कहा गया है-

उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यात्, देह-चिन्ता च मध्यमा।
अधमा कामचिन्ता स्यात्, पर-चिन्ताऽधमाधमा ॥४॥

आत्मचिन्तन करना उत्तम है, आत्मचिन्तन में साधनभूत शरीर की चिन्ता करना मध्यम है। काम अर्थात् विषय-वासना सम्बन्धी चिन्ता करना अधम है तथा इन सबसे भिन्न जो प्रयोजनभूत नहीं हैं, ऐसे पर पदार्थों की चिन्ता करना अधम-अधम है।

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि जो हमेशा आत्म-चिन्तन में लीन रहते हैं वे उत्तम पुरुष होते हैं। उन उत्तम महापुरुषों के जीवन चरित्र से उस उत्तम आत्म-चिन्तन की प्रेरणा पाकर हमें भी उसके अभ्यास करने में तत्पर होना चाहिए। वास्तव में इस सिद्धान्त का सम्यक् परिचय नहीं होने के कारण मोह के वशीभूत होता हुआ यह संसारी प्राणी अप्रयोजनभूत पर पदार्थों से राग या द्वेष करता है। फलतः दुःखी होता हुआ संसार-परिभ्रमण का कष्ट सहता रहता है। इसलिए पर-पदार्थों का इतना स्वागत मत करो जितना आप लोग कर रहे हो। जो विद्वान् होते हैं, ज्ञानी, मनीषी होते हैं, योग-साधना में लीन योगी होते हैं वे पर पदार्थों का सहारा नहीं लेते क्योंकि वे पर पदार्थों को सुख का साधन नहीं मानते, किन्तु जो विद्वान् नहीं हैं, वे पर पदार्थों का अवलम्बन लेते हैं, उन्हें सुख का साधन भी मानते हैं। ऐसी विपरीत मान्यता वालों की क्या दशा होती है उसे आगे की कारिका में बताया जा रहा है।

उत्थानिका—अज्ञानी हमेशा विपरीत मान्यता को स्वीकार करता है, लेकिन विपरीत मान्यता का फल क्या होता है? यह नहीं जानता। उसे ही आगे बताते हैं-

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तोःसामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४६॥

अन्वयार्थ-(यः) जो **(अविद्वान्)** मूर्ख/बहिरात्मा **(पुद्गलद्रव्यम्)** पुद्गल द्रव्य का **(अभिनन्दति)** आत्मीय भाव से समादर करता है **(तस्य जन्तोः)** उस बहिरात्म प्राणी का **(तत्)** वह

[शरीर आदि पुद्गल द्रव्य] **(जातु)** कभी भी **(चतु:गतिषु)** चारों गतियों में **(सामीप्यं न मुञ्चति)** साथ नहीं छोड़ता।

कभी स्व-पर को नहीं जानता, रहा अचेतन यह तन है,
फिर तन का अभिनन्दन करता, मूढ़ बना तू चेतन है?।
साथ चलेगा तुझको फिर ना, चउगतियों में छोड़ेगा,
पापों से जोड़ेगा तुझको, भव-भव में तूँ रोयेगा ॥४६॥

Matter which the undiscerning soul attaches itself to, never leaves him wherever he goes in the four *gatis* !

Note - *Gatis* signify the four principal types of embodied existence, in which souls are being constantly born and reborn in the course of their transmigration. These are the celestial, the hellish, the human and the sub human or the lower kingdoms, the last of which includes all kinds of animals, plants and all other lower forms of life. All these are imposed on the soul because of the companionship of matter of which the not-self are chiefly composed. The law of the influx of matter has already been noticed a little earlier. It shows that the effect of the love of the not-self on the Self is its being over-powered by matter in the shape of the undesirable forces of *karma* that drag it from one *gati* to another or in the numerous classes and sub-classes of the same type. The *acharya*, therefore, discourses on the folly of the undiscerning who perpetuate their bondage by their own acts not knowing the nature of the Law that keeps the soul tied to the ever revolving wheel of transmigration. He who allows himself to fall in love with matter-and all the not-self are perceived by us only in so far as they are matter-should know that the object he falls in love with will not abide to console or grant solace to his heart for ever, but matter will cling to him, because of that act of love, all the more closely. knowing this, the seeker after the glory of the Self will shun the pursuit of the objects of the world once the law is shown to him.

विवेचना—जो विद्वान् नहीं है वह अविद्वान् माना जाता है। वह हमेशा पुद्गल द्रव्य का ही स्वागत करता है। उसी का अभिनन्दन करता है। पुद्गल द्रव्य को ही चाहता है। उसी का आदर करता है। उसकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहता है। उस अविद्वान् अर्थात् अज्ञानी को इसका क्या फल मिलता है? आचार्य कहते हैं कि ''यः अविद्वान् पुद्गलद्रव्यस्य अभिनन्दति तस्य जीवस्य तत्

पुद्गलद्रव्यं चतुर्गतिषु सामीप्यं न मुञ्चन्ति '' अर्थात् जो पुद्गल द्रव्य का अभिनन्दन करता है तो पुद्गल द्रव्य भी उस जीव का चारों गतियों में कभी भी सामीप्य नहीं छोड़ता, क्योंकि अज्ञान एवं मोहवश जो पुद्गल को अपने सुख का साधन मानता है तो निश्चित रूप से पुद्गल द्रव्य भी भवों-भवों तक उसका पिण्ड नहीं छोड़ता। उसकी समीपता को कभी नहीं छोड़ता। फलतः उसका चतुर्गति परिभ्रमण भी नहीं छूटता। शरीर के लिए दुनिया के सारे पदार्थ होते हैं, इनमें से जो अनुकूल या इष्ट होते हैं उनके प्रति राग होता है और जो प्रतिकूल या अनिष्ट होते हैं उनके प्रति द्वेष होता है। दुनिया चलाने के लिए अथवा संसारवृद्धि के लिए राग और द्वेष ये दोनों ही पर्याप्त हैं।

कहीं पर पढ़ा था कि ''जानने के लिए तीन लोक हैं और छोड़ने के लिए तीन पदार्थ हैं। वे तीन पदार्थ हैं- राग, द्वेष और मोह।'' क्या छोड़ूँ ? आप बताओ। जो आप कहेंगे वह हम छोड़ देंगे। कई लोग आ जाते हैं और शांति के साथ बैठ जाते हैं। मुझसे निवेदन करते हैं कि महाराज! हम आपसे कुछ नियम लेना चाहते हैं। हाँ, ले लो, जो नियम लेना चाहते हो। नहीं, नहीं! आप ही बताइये, आप जो बतायेंगे उसी का पालन करूँगा। मैं सोचता हूँ, यह तो गड़बड़ है। हम शांति के साथ बैठे हैं तो मुझे विकल्पों में क्यों डाल रहे हो। स्वयं ले लो। नहीं, आपका दिया हुआ नियम हम निश्चित रूप से पालन करेंगे। ऐसा कहते हैं, किन्तु जब हम नियम बता देते हैं तो कहते हैं कि यह तो बहुत बड़ा नियम है। तो फिर माला फेर लेना, माला तो फेरते हैं, आप दूसरा कोई नियम बतायें। तो मैं कह देता हूँ आपके कौन-कौन से नियम हैं? मैं तो जान नहीं सकूँगा, इसलिए तुम जो नियम लेना चाहो, स्वयं ले लो, हम आशीर्वाद दे देते हैं। वैसे मैं एक बात बता दूँ कि छोड़ने के लिए तीन चीजें हैं-राग, द्वेष और मोह। छोड़ो, क्यों छोड़ पाओगे ? महाराज! इनको तो हम कैसे छोड़ पायेंगे। जो राग, द्वेष, मोह नहीं छोड़ सकता तो पुद्गलद्रव्य भी उसका पिण्ड नहीं छोड़ सकता।

कर्म या नोकर्म आत्मा के साथ अपने आप चिपके हों, ऐसा नहीं है। इसको तो आत्मा के राग, द्वेष परिणामों ने चिपकाया है। ऐसा चिपकाया है कि यदि उनको उखाड़ने का प्रयास किया जाता है तो चमड़ी भी खिंच जाती है, घाव हो जाता है, पपड़ी जम जाती है, उसे निकालो तो घाव और अधिक बढ़ जाता है। मतलब यह है कि कर्म और नोकर्म यानि शरीर कोई उखाड़कर अलग करने की वस्तु नहीं है। फिर भी यदि कर्म और नोकर्मों को अलग करना चाहते हो तो जिन राग-द्वेष-मोह परिणामों के कारण ये संयोग को प्राप्त होते हैं, उनको छोड़ने का प्रयास करो तो ये कर्म, नोकर्म अपने आप छूट जायेंगे। आपकी राग-द्वेष की प्रणाली से यह स्पष्ट होता है कि आपके पास मोह विद्यमान है क्योंकि मोह के बिना रागद्वेष नहीं होते, लेकिन मोह जहाँ है वहाँ राग-द्वेष नियम से होते ही हों ऐसा भी नहीं है। जैसे-दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ (मोह) का उदय तो होता है, परन्तु राग-द्वेष परिणाम नहीं होते। कहा भी है-

मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमतवादी। छहढाला १/३

संसार की जड़ मोह है। मोहरूपी महामदिरा के कारण यह जीव अपने आपको भूला रहता है। आत्मस्वरूप का सम्यक् परिचय प्राप्त नहीं कर पाता। इसलिए पर पदार्थों के प्रति मोहित होता हुआ संसार को बढ़ाता रहता है और चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

किसी भी वस्तु को जानने में राग, द्वेष, मोह कैसे होते हैं? यह एक उदाहरण से समझ सकते हैं। जैसे यह पेंसिल है, इससे लिखने की क्रिया सम्पन्न होती है, ऐसा जानना सम्यग्ज्ञान है। लेकिन यह पेंसिल मेरी है, ऐसा जानना मोह है। यह बहुत अच्छी है इस प्रकार जानना राग है और यह बुरी है ऐसा जानना द्वेष है। वस्तु एक है उसे जानने की चार प्रणाली हैं। सम्यक् जानना, वस्तु का सही-सही ज्ञान है। इससे बन्ध नहीं होता। लेकिन शेष तीन प्रणालियों से जानना बन्ध का कारण है, क्योंकि अच्छा जानेगा तो उसे अपने पास रखने का प्रयास करेगा। बुरा जानेगा तो उसे हटाने का प्रयास करेगा। इसी को कहते हैं ''मोह पाप का बाप बखाना।'' इसी वजह से दुनिया में झगड़ा है और कुछ नहीं। इसी के कारण जीव पाँचों पापों को अपनाता है; फलस्वरूप किये गये पाप का फल भोगता हुआ दुःखी होता है। राग, द्वेष और मोह किसी दूसरे से संबंधित नहीं हैं। इनका सम्बन्ध तो अपने उपयोग से है। इन्हें छोड़ने का आप प्रयास कीजिये। आप इन्हें छोड़ने का कितना भी प्रयास करेंगे तो भी ये पूर्ण रूप से छूटने वाले नहीं हैं। ध्यान रखना, पर फिर भी एक सीमा तक तो छोड़ ही सकते हैं। इनको जितना छोड़ोगे उतना आनन्द प्राप्त करोगे। अन्यथा मोह के कारण हम पर द्रव्य को जितना अधिक चाहेंगे तो वह भी हमेशा साथ रहेगा। जैसे कि एक शरीर छूटता है तो दूसरा शरीर तैयार रहता है, जिसके कारण चार गति एवं चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण चालू रहता है। इनमें से आप कहीं भी चले जाओ, यह सामग्री आपको तैयार मिलती रहती है।

अतः आचार्य कहते हैं कि हमने पुद्गलद्रव्य को जो समीपता दे रखी है, उससे अब बचने का प्रयास करो। राग, द्वेष, मोह हमारे शत्रु हैं, मोक्षमार्ग में बाधक हैं, इन्हीं के कारण आज तक हमारा संसार ज्यों का त्यों बना है। जब तक इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं करोगे तब तक यह संसार भी कभी मिटने वाला नहीं है। ''छोड़ने के लिए तीन चीजें'' राग, द्वेष और मोह–इनको छोड़ने का अभ्यास करो। कहकर नहीं, चुपचाप करते चलो। राग, द्वेष करते हो तब कहकर के करते हो क्या? नहीं। तो फिर छोड़ने के लिए भी कहने की क्या जरूरत है? इसे मैं छोड़ रहा हूँ, यह बताने की आवश्यकता ही नहीं है। वह तो बिना बताये ही विदित होता है। इसकी पब्लिसिटी तो अपने आप होती है। जैसे अंधकार चला गया है यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं होती। हाँ, जो अंधा है उसके लिए कह सकते हैं। अंधा बिना कहे अपने आप भी जान सकता है कि दिन हो गया। अब प्रकाश आ गया होगा। अंधा, कैसे जानेगा ? तो कहते हैं वह भी व्यक्तियों की थोड़ी-सी चहल-पहल से, चिड़ियों की चहचहाहट से अथवा अन्य बहुत से संकेतों से समझ जाता है कि दिन हो गया। सूर्योदय हो चुका। उसके पास आँखें नहीं हैं तो क्या हुआ, कान तो हैं। कान के माध्यम से

भी वह जान सकता है कि रात है या दिन।

इसी प्रकार शरीर मिला है तो यह भी निश्चित समझो कि शरीर के प्रति मेरा राग था, मोह था तभी तो मिला। एक बार आप शरीर के प्रति विरक्ति का भाव लाइये तो शरीर मिलने की संतति भी छूट जायेगी। शरीर के स्वभाव के बारे में चिन्तन करने से विरक्ति का भाव जागृत होता है। छहढाला में पं० दौलतराम जी ने लिखा ही है कि–

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार बहै घिनकारी, असि देह करें किमि यारी ॥

मैं हमेशा बोलता हूँ ''असि देह करें हम यारी''। यारी का क्या अर्थ होता है? राग। जो विद्वान् होता है, ज्ञानी होता है वह शरीर के प्रति यारी नहीं करता। इस शरीर के चक्कर से बचने के लिए योगी जन क्या करते हैं इसे आगे बताते हैं।

उत्थानिका–आत्मस्वरूप में तत्पर रहने वालों को क्या होता है? आचार्य कहते हैं–

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

अन्वयार्थ– (व्यवहारबहिःस्थितेः) व्यवहारचारित्र से बाहर ठहरे हुए **(आत्मानुष्ठान-निष्ठस्य)** आत्मध्यान में लवलीन **(योगिनः)** मुनि के **(योगेन)** आत्मध्यान के द्वारा **(कश्चित्)** कोई अपूर्व **(परमानन्दः)** परम आनन्द **(जायते)** उत्पन्न होता है।

बाहर के व्यवहार कृत्य से, तन-मन-वच से मुड़ता है,
भीतर के अध्यात्म वृत्त से चेतन-पन से जुड़ता है।
फलतः परमानन्द जागता, राग-भाग्य अब भाग चला,
योगी का यह योग योग है, वीतराग पथ लाग चला ॥४७॥

He who is firmly established in his own Self and keeps away from the wordly intercourse, a supreme kind of happiness is produced in the being of such a *yogi* !

Note - Divine bliss is the nature of the soul which is realized the moment one is rid of all the sense of attachment to the world and is immersed in pure self-contemplation.

विवेचना–जो साधक आत्मा के अनुष्ठान में निष्ठ रहता है वह व्यवहार से बिल्कुल बाहर रहता है। वह व्यवहार को भीतर लेने का प्रयास नहीं करता। व्यवहार का अर्थ क्या है? बोलना-चालना, पढ़ना-लिखना आदि ही नहीं है, क्योंकि व्यवहार का अर्थ यदि चलना, बोलना आदि लेते हैं तो तीर्थंकर भगवान् भी बोलते हैं, चलते हैं। वे इस व्यवहार में रहते हुए भी व्यवहार से बाहर

रहते हैं।

आत्मा के अनुष्ठान में जो निष्ठ हैं अथवा जो प्रतिष्ठित हैं। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति लक्षण वाले व्यवहार से जो दूर रहते हैं। बाह्य योग-साधना में नहीं किन्तु अन्तर्योग साधना में जो लीन रहते हैं उन्हीं योगियों को आनन्द की अनुभूति होती है। जैसे-छोटे बच्चों को कोई अच्छी मिठाई बनाई हो तो बच्चे उसे दूसरे बच्चों से छुपा-छुपाकर खाने की कोशिश करते हैं। हाथ में छिपाकर बाहर एकान्त में ले जाकर खाता है तो माँ उसे डाँटती है कि-बेटा यहीं पर बैठकर खाना। हाथ, पैर, मुँह धोकर अच्छे प्रसन्न मन से खा लो, बाहर मत ले जाना। परन्तु बच्चा जानता है यह बहुत अच्छी मिठाई है इसे तो मैं अकेले में चुपचाप खाऊँगा। उसी प्रकार योगीजन विशिष्ट योग साधना के द्वारा अकेले में, शुद्धोपयोग की दशा में परमानन्द को प्राप्त करते हैं। यह आनन्द सामान्य से सभी योगियों को प्राप्त नहीं होता। लेकिन जो बच्चे अच्छी चीज को दूसरे बच्चों को बता-बताकर, दिखा-दिखाकर खाते हैं, उन्हें चुपचाप अकेले में खाने वाले बालक के समान आनन्द का अनुभव नहीं होता। उसी तरह जो योगी व्यवहार कार्यों में संलग्न रहते हैं, जो ख्याति, पूजा, लाभ की चाह रखते हैं, उनको कभी तीन काल में भी वह परमानन्द प्राप्त नहीं हो सकता। व्यवहार कार्यों से जो उदास हो जाते हैं या यूँ कहो कि बाह्य प्रवृत्ति करने में जो आलसी बन जाते हैं अर्थात् बाह्य प्रवृत्ति को करने में कोई उत्साह नहीं रखते, किन्तु समस्त बाह्य प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर अप्रमत्त बन जाते हैं और भीतरी आत्म-साधना में लीन हो जाते हैं उन्हें ही वह आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है। इसीलिए समस्त योगियों को योग-साधना की वृद्धि करना चाहिए। योग-साधना बढ़ती जायेगी तो 'आत्म-आनन्द' की लहर भी बढ़ती जायेगी।

आनन्द की लहर प्राप्त करने के लिए साधनारूप परिश्रम आवश्यक होता है। कौन-सा परिश्रम ? शारीरिक परिश्रम नहीं। शरीर को गौण करके ख्याति, पूजा, लाभ एवं पञ्चेन्द्रियों के विषयों को भी गौण करने से यह साधना सफल होती है, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार कोई भी धनवान या बनिया वृत्ति वाले लोग अपना कमाया हुआ धन अपने परिवार के बीच खर्च करता है, बाजार में घूमने वालों के लिए नहीं। उसी प्रकार ज्ञानी-योगी भी अपने द्वारा अर्जित ज्ञान-धन का उपयोग एकान्त में स्वयं अपने आत्मानन्द की प्राप्ति हेतु करता है। आज तक किसी ने अनन्तकाल से इस आत्मा के अनुष्ठान को प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं किया। आत्म-अनुष्ठान करना बहुत कठिन कार्य है। व्यवहार में रहते हुए इसका फल परमानन्द प्राप्त नहीं हो सकता। यह तो उन्हीं को प्राप्त हो सकता है जिन्हें इस आनन्द या इस अनुष्ठान के प्रति आस्था हो। साथ में जो निश्चय की भूमिका या शुद्धोपयोग की भूमिका प्राप्त करने में प्रयासरत हों, क्योंकि यह नीति है कि "जिसको जिसमें रुचि होती है वह उसी की प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर संकल्पित होकर प्रयासरत होता है, तो उसे सफलता भी मिलती है।" जैसे आपको किसी ने अपने घर भोजन करने के लिए निमन्त्रित

किया। यथासमय आप वहाँ पहुँचे। यथायोग्य आपका स्वागत सत्कार हुआ। भोजन परोसा गया। भोजन में जितने भी व्यञ्जन, मिष्ठान्न आदि बने हैं, वे सभी परोसे गये। अब आप क्या करेंगे ? सारे व्यञ्जन खायेंगे क्या ? नहीं। तब फिर बताओ क्या करोगे ? महाराज! सीधी-सीधी सी बात है हमें जो व्यञ्जन अच्छे लगते हैं उनको ले लेंगे। फिर जो व्यञ्जन अच्छे नहीं लगते उनके लिए भी यदि विशेष आग्रह किया जाता है तो आप कह देते हैं कि आपने निमन्त्रण किया, हम आ गये। आपने भोजन परोसा हम खायेंगे। परन्तु यह खाओ, वह खाओ, यह तो आपको खाना ही पड़ेगा, ऐसी कोई पाबन्दी मत रखो। हमें तो जो अच्छा लगता है उसी के स्वाद का आनन्द लेने दीजिए। इसी प्रकार जो ज्ञानी, ज्ञान के आनन्द का स्वाद लेना चाहते हैं, उनके लिए संसार की अन्य आकर्षक वस्तुओं के आकर्षण का प्रलोभन दिया जाये तो भी वे उनके प्रति आकर्षित नहीं होते। वे तो अपनी योग-साधना में तल्लीन रहते हैं। उसी के आनन्द की अनुभूति का रसास्वाद करते रहते हैं।

व्यवहार को गौण करना आवश्यक है। इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं। आप प्रतिदिन दूध पीते हैं। आपको दूध बहुत अच्छा लगता है लेकिन कभी इच्छा हो जाये कि 'खोवा' या 'मावा' बनाना है तो आपको क्या करना होगा ? दूध के प्रति जो राग है उसे छोड़ना पड़ेगा। यदि दूध के प्रति राग को नहीं छोड़ोगे तो मावा नहीं बना पाओगे और मावे से जो मीठे-मीठे पेड़े की मिठाई बनती है, वह भी नहीं बना पाओगे। उसका भी मधुर स्वाद नहीं ले पाओगे। एक बात और ध्यान रखना कि मावा जब बनाओगे तो दूध को तपाना होगा, क्योंकि दूध में जो पानी का अंश होता है उसे सुखाना आवश्यक होता है। तभी मावा या खोवा बनता है। आप दूध भी पीना चाहो और खोवा भी खाना चाहो तो दोनों एक साथ संभव नहीं हैं। यह बात अलग है कि आप एक लोटा दूध अलग रख लो और एक लोटे दूध का खोवा बना लो, यह तो फिर भी संभव है। दोनों को एक साथ मुँह में भी डाल सकते हो। लेकिन फिर भी दूध में खोवा का स्वाद, खोवा में दूध का स्वाद आ जाये, यह तीन काल में संभव नहीं है। खोवा शब्द स्वयं कह रहा है कि दूध को पहले खो दिया तब खोवा बनता है। कोई-कोई खोया भी बोलते हैं। अतः दूध को खोया तो खोवा को पाया। इसी प्रकार जो व्यवहार के अनुष्ठान रूपी दूध से राग को नहीं छोड़ पाता वह निश्चय के 'आत्मानुष्ठान' रूपी खोवे को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि जिस समय योगी बाहरी अनुष्ठान में आता है तो उस समय भीतरी आत्म-अनुष्ठान छूट जाता है और जिस समय भीतरी अनुष्ठान में आना चाहता है तो बाहरी अनुष्ठान छोड़ना आवश्यक होता है। जो योगी बाह्य अनुष्ठान के प्रति प्रशस्त राग को नहीं छोड़ पाते वे अन्तरंग के आत्म-अनुष्ठान को प्राप्त नहीं कर पाते। निश्चय में व्यवहार का और व्यवहार में निश्चय का अनुभव त्रिकाल में भी संभव नहीं है।

आप अध्यात्म को चाहते हैं और यदि शारीरिक या पंचेन्द्रिय के विषयों को छोड़ना नहीं चाहते, तथा मन के विषय ख्याति, पूजा, लाभ आदि को भी छोड़ना नहीं चाहते, तो ये सभी एक

साथ कैसे संभव हो सकते हैं? यदि कोई कहता है कि महाराज! ख्याति छोड़ेंगे, तो मेरा नाम ही नहीं रह जायेगा। इसलिए दाम मिट जाये, धाम मिट जाये, शरीर भी मिट जाये, परन्तु मेरा नाम तो रहना चाहिए। आप ऐसा कहते तो हैं पर वैसा कहाँ कर पाते हो ? जब दाम छूट जायेगा, धाम भी छूट जायेगा, आराम भी छूट जायेगा, शरीर भी छूट जायेगा फिर वर्तमान का नाम भी तो छूटेगा। वह कैसे रहेगा ? आपको यदि अध्यात्म का रस लेना है तो यह समझो कि नाम, काम, धाम और आराम इन सभी के छूटने पर, इनके अभाव में जो रहेगा, वास्तव में वही तुम्हारा अस्तित्व है क्योंकि ये नाम, काम, धाम आदि सभी पराश्रित हैं।

कल या परसों ही एक सज्जन आए उन्होंने निवेदन किया कि महाराज! इन बच्चों के नाम रख दीजिए। पाँच-छह बच्चे आए थे। मैंने कहा-ये बच्चे कहाँ हैं? ये तो आत्मा हैं। अब इनका अलग से क्या नाम बताएँ ? महाराज! ये आत्मा हैं, यह तो सही है परन्तु व्यवहार चलाने के लिए नाम तो चाहिए। देखो आप व्यवहार चला रहे हो, साथ में मुझे भी व्यवहार में खींचने का प्रयास कर रहे हो। ठीक है, व्यवहार चलाना चाहते हो तो नाम रख दो। कौन-सा नाम रखें ? यही तो पूछने आया हूँ। अन्त में मैंने भी कह दिया कि चौबीस तीर्थंकरों के नामों में से कोई भी नाम रख दो। नहीं महाराज! आप स्वयं बताइये, आपके मुख से जो नाम रखा जायेगा वह जीवन भर मंत्र का काम करेगा। हाँ, ठीक है, अभी तो तीर्थंकर के नाम से रख दो बाद में जब दीक्षा के योग्य हो जायेंगे तब ले आना मैं रख दूँगा। इतना सुनते ही वे सज्जन चुपचाप नमोऽस्तु करके चले गये।

कहने का तात्पर्य यह है कि योगी के पास आत्मा की बात करो, शरीर की नहीं। अन्य बाह्य पदार्थों की बात मत करो। इसको कहते हैं "**आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य**" आत्मा के अनुष्ठान में जो निष्ठ होते हैं वे हमेशा आत्मा की बात करते हैं। आत्महित की ही साधना करते हैं और आत्म कल्याण रूपी साध्य को साधते हैं। तो उन्हें 'परमानन्द' की प्राप्ति भी होती है। "**कश्चिद् योगेन योगिनः**" इसका भी यही अर्थ है कि वे महान् योगी कोई विशिष्ट योगसाधना के द्वारा कभी-कभी, एकान्त में परमानन्द को प्राप्त करते हैं। उन योगियों के आनन्द को देखकर सारे के सारे इन्द्र, नरेन्द्र, अहमिन्द्र आदि सभी तरसते हैं क्योंकि इस प्रकार का आनन्द इन्द्रादि को प्राप्त नहीं होता। 'छहढाला' में भी लिखा है-

"सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाहीं कह्यो ॥ ६/११ ॥

उन योगियों की दृष्टि शरीर की ओर नहीं होती, किन्तु तन, मन, जन से अलग मात्र चेतन की ओर होती है।

धन्य हैं, वे योगी! जो कुछ भी न करते हुए सब कुछ पा जाते हैं। दुनिया के लोग तो सुबह से शाम तक पसीना बहाते हैं। रात्रि में चैन से शयन तक नहीं कर पाते। उनको दिन भर में एक सैकेण्ड का भी आराम नहीं मिलता, चैन (शांति) नहीं मिलती। इतना ही है कि उनके गले में जो चैन

है उसको देखकर भले ही चैन का अनुभव करते रहते हैं। देख लो, अपने-अपने गले में चैन है न? इसलिए चैन में हो न ? गले में चैन होने पर भी आप कहते हैं कि हम बेचैन हैं। तो संसार में सभी चेतन प्राणी चाहे उनके पास चैन हो अथवा नहीं हो, फिर भी बैचेन ही रहते हैं। जो राग, द्वेष, मोह से सम्बन्ध रखता है वह भले ही गले में चैन पहने हो फिर भी बेचैन रहता है क्योंकि माना कि आपके गले में चैन है लेकिन किसी ने यदि चैन के बारे में पूछा नहीं तो चैन के पहनने का कोई मजा नहीं आता। इसलिए कुछ लोग, कभी-कभी अपनी चैन, कॉलर के ऊपर, यूँ-यूँ करते हैं (हँसी), इसमें हँसने की क्या बात है? कुछ लोग ऊपर का बटन खोल कर रखते हैं और कहते हैं कि 'हवा के लिए' खोल रखा है। जबकि रहस्य कुछ और रहता है कि भीतर से चैन और उसका लॉकेट बाहर सभी को दिखता रहे। इससे स्पष्ट है कि संसारी प्राणी का 'सुख-चैन' दूसरों के आश्रित है किन्तु योगियों का सुख किसी पर आश्रित नहीं होता। उनके जीवन में तो हमेशा होली, दीवाली का त्यौहार रहता है। क्या करें संसारी जीव पराश्रित होकर जी रहा है इसलिए उसे आनन्द नहीं मिल पा रहा है।

योग की सिद्धि के लिए छह साधन बतलाये हैं-१. उत्साह, २. आस्था, ३. रुचि, ४. लगन, ५. परिश्रम एवं ६. तत्त्वज्ञान। साथ में यह भी कहा कि जनपद का त्याग होना चाहिए। जनपद का अर्थ है-लौकिकता और लौकिक सम्पर्क से दूर रहना चाहिए। अन्यथा कितना भी प्रयास करें तो भी मात्र बाह्य साधनों के द्वारा कभी भी आत्मिक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् ने कहा है कि-पूर्ण रूप से चारित्र का पालन करो, पाँचों समितियों का, अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करो। योगी भले ही कितना जप-तप करें लेकिन जब तक लौकिकता नहीं छोड़ते तब तक वे वास्तविक श्रमण नहीं माने जाते। बाहर का सब कुछ छोड़ दिया और भीतर आनन्द नहीं मिला तो श्रमण बनने की कोई सार्थकता नहीं होती तथा आत्म-हित भी नहीं होता। यह नाम आत्मा के लिए अभिशाप सिद्ध होता है। आत्मा का रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः वे योगी लौकिकता से मौन रहते हैं तथा अपने आपमें लीन होकर परमानन्द का अनुभव करते रहते हैं। धन्य हैं वे योगी।

उत्थानिका—उस आनन्द के कार्य को बताते हैं-

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

अन्वयार्थ—**(आनन्दः)** आत्मानन्द **(अनारतम्)** निरन्तर **(उद्धं)** बहुत से **(कर्मेन्धनम्)** कर्मरूपी ईंधन को **(निर्दहति)** जलाता है **(च)** तथा **(बहिर्दुःखेषु अचेतनः)** बाहरी [परीषह, उपसर्गादिक] दुःखों से अनभिज्ञ **(असौ योगी)** वह योगी/आत्मध्यानी **(न खिद्यते)** खेद-खिन्न/दुःखी नहीं होता है।

योग साधना में कब दुख हो, योगी का उद्योग यही,
योगी भीतर बाह्य दुःख में, देता कब उपयोग सही?।
आतम में आनन्द उदित हो, साधक को सन्तुष्ट करे,
कर्मरूप ईन्धन को अविरल, जला जलाकर नष्ट करे ॥४८॥

Self produced happiness is constantly burning up the *karmic* fuel in large quantities, while the *yogi*, indifferent to the external pain, is not affected by it in the least !

Note - The master Ascetic is constantly absorbed in the enjoyment of the spiritual happiness pertaining to his soul, and is, therefore, not affected by bodily descomforts and pains to which he dose not even attend consciously.

विवेचना—जिस प्रकार अग्नि ईंधन को जलाती है, उसी प्रकार योगी को जो 'परमानन्द' प्राप्त होता है वह योगी की कर्म-सन्तति को जलाना प्रारम्भ कर देता है। आनन्दयुक्त वह योगी बाह्य दुःखों के, परीषह-उपसर्ग सम्बन्धी क्लेशों के अनुभव से खेद को प्राप्त नहीं होता।

इस प्रसंग में सहज ही एक प्रश्न उठता है कि आनन्द तो शीतलता प्रदान करता है, उसे जलाने की प्रक्रिया से कैसे उपमित किया है? इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं।

जैसे कि शीत ऋतु में जब अत्यधिक ठण्ड पड़ती है। तब शीत लहर भी चलती है। उस शीत लहर के प्रभाव से हरे-भरे वृक्ष भी जल जाते हैं। दो प्रकार के जल होते हैं—एक गर्म जल और दूसरा ठण्डा जल या बर्फ। देखा जाता है कि ठण्ड के द्वारा हरे-भरे वृक्ष भी जल जाते हैं और गर्मी के समय सूखे वृक्ष भी नहीं जल पाते हैं। इसी प्रकार 'आत्मिक-आनन्द' शीतल बर्फ की भाँति समस्त कर्म रूपी ईंधन को जला देता है। ध्यान रखना उस समय योगी को कोई खेद नहीं होता। क्यों नहीं होता ? इसे भी समझना आवश्यक है।

आप स्वयं अपने अनुभव से बताइये कि जब आप एक घण्टे तक श्रम करते हैं, कोई कार्य करते हैं, तब तो आपको तकलीफ होती है, कष्ट का अनुभव होता है लेकिन जब आप एक घण्टे तक भोजन करते हैं, उस समय भी हाथों को पचासों बार ऊपर-नीचे करके श्रम करते हैं तो कष्ट होता है क्या, बताओ ? नहीं महाराज! भोजन करते समय तो सौ बार भी हाथ यूँ-यूँ ऊपर-नीचे करना पड़े तो भी दुःख का अनुभव नहीं होता। क्यों नहीं होता ? सोचो, विचार करो और मुझे बताओ ? इसमें भावना की बात है, रुचि की बात है। हाथ के श्रम की बात नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य में दुःख या खेद होता ही हो, यह अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार योगी को भी 'आत्म-साधना' की भावना के फल स्वरूप अपनी योग-साधना के समय पर परीषह-उपसर्ग सहन

करते-करते कोई खेद नहीं होता।

एक और उदाहरण से इसी बात को समझ सकते हैं कि योगी को योग-साधना करते हुए खेद का अनुभव क्यों नहीं होता ? जैसे-गर्मी का समय हो और आप दुकान पर बैठे हों, अचानक बिजली चली जाये। फिर न पंखा है, न हवा है, न कूलर है, न प्रकाश है, लेकिन ग्राहकों की लाइन आ रही है। रात के बारह भी बज गये हों तो भी आप मुनीम जी को डाँटते हैं क्या ? नहीं। क्यों नहीं? क्योंकि रुपयों के बण्डल आ रहे हैं। लाभ ही लाभ हो रहा है। उस समय यदि मुनीम जी पानी पीने को भी लाये और बोले कि गर्मी बहुत है, कूलर-पंखे की ठण्डी हवा भी नहीं है। कम से कम ठण्डा पानी तो पीलो। उस समय आपको ठण्डा पानी पीने का भी मन नहीं करता क्योंकि प्राफिट में कमी आ जायेगी। भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी सब कुछ समता भाव से सह लेते हैं। उस समय आप कितना भी परिश्रम करें तो भी वह परिश्रम जैसा नहीं लगता और उस परिश्रम से उत्पन्न दु:ख दर्द की ओर दृष्टि भी नहीं जाती। उसी प्रकार योगियों को योग-साधना करते समय कितने भी उपसर्ग-परीषह सहन करना पड़ें तो भी उन्हें समता भाव से सहन करते हैं। उनसे उत्पन्न कष्ट या वेदना की ओर अपना उपयोग नहीं ले जाते अत: उन्हें तत्सम्बन्धी कोई खेद नहीं होता। धन्य हैं वे योगी, जो बाह्य शारीरिक दु:खों की ओर अपनी चेतना को नहीं ले जाते। यह महापुरुषों की आत्म-साधना का माहात्म्य है।

ज्ञानी के ज्ञान की यही विशेषता है कि "**योगी बहिर्दु:खेषु न खिद्यते**" वास्तविक ज्ञान तो वही है जो संयत हो, नियंत्रित हो, समता से समन्वित हो। यदि ज्ञान संयत होता है तो उसमें राग, द्वेष, मोह उत्पन्न नहीं होते। ऐसा वीतराग विज्ञान ही स्वस्थ ज्ञान माना जाता है। योगी का स्वस्थ ज्ञान तन के सुख का कोई प्रबन्ध नहीं करता। यहाँ तक कि तन के सुख की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। योगी को ग्रीष्मकाल में कूलर की और शीतकाल में हीटर की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। ग्रीष्मकाल में उनका ऊपर से मात्र शरीर तपता है, भीतर तो 'परमानन्द' रूपी ए० सी० व्यवस्था रहती है। इसीलिए बाह्य तपन का भीतर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जैसे-पेड़-पौधों को सूर्य-प्रकाश से शक्ति मिलती रहती है, तो वे उस प्रकाश के ताप से जलते नहीं हैं, बल्कि खिलते हैं। यदि उन्हें सूर्य प्रकाश की शक्ति प्राप्त नहीं होती है तो उनके पास जो पुष्पित होने की शक्ति है, वह क्षीण हो जाती है। उसी प्रकार योगी की आत्म शक्ति उद्घाटित होती रहती है तो उसमें हमेशा-हमेशा "आत्म-आनन्द या परमानन्द" रूपी फूल खिलते रहते हैं। परिणाम स्वरूप उनका जीवन उस 'परमानन्द' की खुशबू से महकता रहता है।

देखो! आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने एक-एक कारिका कितनी अनुभूत करके लिखी है। उन्होंने इष्टोपदेश के साथ-साथ समाधितंत्र, सर्वार्थसिद्धि जैसे महान् ग्रन्थों की रचना भी की है, जिनको पढ़कर जीवन में आनन्द का झरना झरता रहता है।

उत्थानिका—मुमुक्षु हमेशा परमज्ञानमय ज्योति का आदर करता है। उसी का चिन्तन-मनन करता है। इस बात को अगली कारिका में स्पष्ट किया जा रहा है—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

अन्वयार्थ—(अविद्याभिदुरं) अज्ञान-अन्धकार को नष्ट करने वाली **(महत् ज्ञानमयं)** महान् ज्ञानरूप **(परं ज्योतिः)** उत्कृष्ट ज्योति **(मुमुक्षुभिः)** मोक्ष अभिलाषी पुरुषों के द्वारा **(तत् प्रष्टव्यं)** वह पूछने योग्य है **(तत् एष्टव्यं)** वह चाहने योग्य है **(तत् दृष्टव्यं)** वह दर्शनीय या अनुभव करने योग्य है।

जिसे अविद्या देख कांपती, पल-भर में बस नस जाती,
महा-बलवती ज्ञान-ज्योति वह, कहलाती है, सुख लाती।
बात करो तो करो उसी की, चाह उसी की करो सदा,
मुमुक्षु हो तुम उसी दृश्य को, देखो उर में धरो सदा ॥४९॥

That excellent and supreme light of the Self is the destroyer of ignorance, the seekers after salvation should always engage themselves in questioning others about it, in affectionately seeking it and in realizing it by actual experience !

Note - The soul being the embodiment of knowledge is antithetical to ignorance. Hence the injunction to be constantly engaged in talking and thinking of it and in feeling it in every other possible way. It will not do to turn to the Self for a moment or two once a week or even every day; for the habit of the mind is that it runs always after what has engaged its attention the most of the time. The reason why novitiates in *yoga* find it difficult to concentrate their mind on the Self is to be found in the fact that their habitual thinking unconsciously directs the stream of thought into the accustomed channels of activity, and the slightest temptation, which they have never learnt to resist, suffices to steal away their determination.

विवेचना—अविद्या अर्थात् अज्ञान को पूर्ण रूप से दूर करने वाली ज्योति महान् उत्कृष्ट ज्ञानवती ज्योति है। वह ज्योति सदा जयवन्त रहे ऐसा भाव आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी जी ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थ में मंगलाचरण करते हुए निम्न कारिका लिखी है—

तज्जयति परमज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला, प्रति फलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

वह 'ज्ञान-ज्योति' जयशील रहे, जयवन्त रहे जिस 'ज्ञान-ज्योति' में तीन लोक के समस्त पदार्थरूपी मालिका प्रतिफलित होती है। अतः केवलज्ञानरूपी ज्योति सदा जयवन्त रहे। इस ज्योति के द्वारा जीवन का समस्त अज्ञान अंधकार नष्ट हो जाता है। आप लोगों को उस महान् ज्योति के बारे में पूछना चाहिए। उसी की वाञ्छा करनी चाहिए। उसी को अनुभव में लाने का प्रयास करना चाहिए।

सभी लोग पूछते हैं-महाराज! आपका स्वास्थ्य ठीक है? मैं सोचता हूँ कि ये लोग तो मात्र शारीरिक स्वास्थ्य के बारे में पूछते हैं, इन्हें क्या जवाब दिया जाय ? आज तक कोई किसी के ज्ञान की स्वस्थता के बारे में नहीं पूछता। जबकि ज्ञान की स्वस्थता होने पर शारीरिक स्वास्थ्य तो वैसे ही ठीक रहता है। ज्ञान की स्वस्थता से क्या तात्पर्य है? आचार्य कहते हैं कि निराकुल ज्ञान स्वस्थ होता है। आकुल-व्याकुल ज्ञान अस्वस्थ होता है। राग, द्वेष, मोह से युक्त ज्ञान अस्वस्थ होता है। विषय-कषाय युक्त ज्ञान अस्वस्थ होता है। अतः मुमुक्षुओं को अपने ज्ञान को स्वस्थ बनाने का प्रयास करना चाहिए। ज्ञान की निराकुलता बाह्य वस्तुओं से नहीं किन्तु अन्तरंग आत्मतत्त्व से प्राप्त होती है। यदि भीतर निराकुलता रहती है तो साधक बाहर से भी निराकुल दिखता है और यदि योगी के भीतर आकुलता है तो वह बाहर भी आकुल-व्याकुल दिखता है। अतः आकुलता को दूर करने हेतु और निराकुलता प्राप्त करने हेतु मुमुक्षुओं को **'तत् प्रष्टव्यं'** उस ज्ञान ज्योति के विषय में पूछना चाहिए। उसी के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए और अपनी ज्ञान ज्योति उद्घाटित करने हेतु निराकुल होने का प्रयास करना चाहिए।

जो ज्ञान दुनिया की बातें करता है, उसी में व्यस्त रहता है, उसी में आनन्द मानता है वह अवश्य ही दु:खित होता है। अतः ज्ञान के द्वारा दुनिया की नहीं किन्तु ज्ञान के द्वारा ज्ञान की बातें करो। ज्ञान के बारे में ही पृच्छना करो। ज्ञान को ही अपना इष्ट बनाओ। उसी को परम इष्ट बनाओ। ज्ञान को ही सर्वस्व समझो क्योंकि निराकुल ज्ञान के माध्यम से सुखानुभूति होती है।

''जिसका ज्ञान जितना निराकुल होगा, संयत होगा, राग, द्वेष, मोह से रहित होगा, वह उतना ही अधिक शान्त होगा।'' दर्पण की भाँति ज्ञान का स्वच्छ साफ होना आवश्यक है। जिस प्रकार दर्पण चाहे छोटा हो या बड़ा पर उसका स्वच्छ-साफ होना आवश्यक होता है। उसी प्रकार ज्ञान थोड़ा हो या ज्यादा लेकिन निराकुल हो, स्वच्छ साफ हो अर्थात् राग, द्वेष, मोह, विषय, कषायों से रहित हो। ऐसे ज्ञान को ही जिनशासन में ज्ञान की संज्ञा दी गई है।

मूलाचार ग्रन्थ में आचार्य वट्टकेरस्वामी जी ने ज्ञान को सम्यक् रूप से परिभाषित करते हुए कहा है कि-

जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे ॥५/२६८॥

जिसके द्वारा साधक राग से विरक्त होता है। श्रेय अर्थात् कल्याण में संलग्न होता है और विश्व में मैत्री भाव से युक्त होता है, यानि विश्व के प्रति मैत्री भाव जागृत होता है, जिनशासन में उसको समीचीन ज्ञान रूप से स्वीकार किया गया है।

उपरोक्त ज्ञान की परिभाषा में अन्तरंग और बहिरंग दोनों दृष्टिकोणों का ध्यान रखा गया है। राग से विरक्त होना और श्रेय अर्थात् मोक्ष में संलग्न होना यह अन्तरंग दृष्टिकोण से ज्ञान है। यथा–

मैत्री भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे। मेरी भावना, ९

ज्ञान में इस प्रकार की भावना जागृत होना बाह्य दृष्टि कोण से सम्यक् ज्ञान है। ज्ञान के पास तीन लोक में समाहित समस्त ज्ञेयों को जानने की क्षमता होती है। साथ ही तीन लोक में व्याप्त समस्त प्राणि–समूह से मैत्री स्थापित करने की क्षमता भी होती है।

देखो! आज दुनिया में कितना अधिक लौकिक ज्ञान बढ़ रहा है, लेकिन उससे कलह अथवा लड़ाई–झगड़े, आपस में वैर–भाव, विषय कषायों के प्रति अभिरुचि एवं स्वयं की ख्याति, प्रसिद्धि आदि का भाव भी बढ़ रहा है। भौतिक वस्तुओं में राग बढ़ रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रति भी रुचि बढ़ रही है। एक–दूसरे के प्रति सभी भयभीत हो रहे हैं। एक दूसरे पर कीचड़ उछालने को तत्पर हो रहे हैं। आक्रामक प्रवृत्तियाँ करने में तत्परता भी बढ़ रही है। आज तो लोगों को युद्ध मैदान अर्थात् रण–क्षेत्र में भी जाने की आवश्यकता नहीं किन्तु केवल 'रडार' से ही एक दूसरे पर निशाना लेकर बैठे हैं। इस प्रकार विश्व में राग–द्वेष का विस्तार बहुत अधिक बढ़ता जा रहा है।

'सम्यग्ज्ञान वही है, जिसके द्वारा आस–पास का वातावरण शान्त होता है' इसी का नाम अध्यात्म ज्ञान है। मुमुक्षुओं को उसी ज्ञान ज्योति का यहाँ स्मरण दिलाया जा रहा है।

'आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी जी' ने उक्त कारिका में मुमुक्षु शब्द का प्रयोग किया है। जो छोड़ने की इच्छा रखता है, वह मुमुक्षु कहलाता है। जो राग, द्वेष, मोह छोड़ने की इच्छा रखते हैं ऐसे मुमुक्षुओं को हमेशा आत्मा की बात करना चाहिए। आत्मा की ही बात पूछना चाहिए। आत्मा को ही इष्ट बनाना चाहिए। उसी को जानने–देखने का प्रयास करना चाहिए। यह सब रत्नत्रय के बिना सम्भव नहीं है।

अन्त में उपसंहार के रूप में शार्ट एण्ड स्वीट अर्थात् संक्षिप्त एवं मधुर शैली में 'तत्त्व के स्वरूप को बताते हुए आगे की कारिका कहते हैं।

उत्थानिका–इस प्रकार शिष्य को विस्तार के साथ समझाकर आचार्य अब परम करुणा से उस कहे हुए अर्थस्वरूप को संक्षेप के साथ शिष्य के मन में बैठाने की इच्छा से कहते हैं कि ''हे सुमते–अच्छी बुद्धि वाले! बहुत कहने से क्या, हेय–उपादेय तत्त्वों को संक्षेप में भी बुद्धिमानों के हृदयों में उतारा जा सकता है। उन्हें साररूप में बतलाया जा सकता है।''

जीवोऽन्यः पुद्‌गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०॥

अन्वयार्थ– **(जीवः अन्यः)** जीव अन्य है **(च)** और **(पुद्‌गलः अन्यः)** पुद्‌गल अन्य है **(इति)** इस प्रकार **(असौ)** यह **(तत्त्वसंग्रहः)** तत्त्व का सार है, इसके अलावा **(यत्)** जो **(अन्यत् किञ्चित्)** कुछ अन्य बात इस विषय में **(उच्यते)** कही जाती है **(सः)** वह **(तस्य एव विस्तरः)** उसका ही विस्तार **(अस्तु)** हो।

जीव सदा से अन्य रहा है, अन्य रहा तन पुद्‌गल है,
तत्त्व ज्ञान बस यही रहा है, माना जाता मंगल है।
फिर भी जो कुछ और कथन यह, सुनने सन्तों से मिलता,
मात्र रहा विस्तार उसी का, तत्त्व-ज्ञान से तम मिटता ॥५०॥

The Self is different from matter, matter is different from the Self: this is the quintessence of all the compilations of wisdom; all the rest of knowledge is but an amplification of this !

Note - Here the *acharya* sums up the result of the entire discourse and says that the one thing to know is the fact that the soul is not matter, nor matter the soul. This is the quintessence of philosophy, though it is necessary to explain it in detail for the benefit of the ignorant who entertain many doubts on the subject. Whoever has understood this one crucial point or fact thoroughly, so that no doubt is left in his mind concerning the nature and divinity of the soul, is the knower of truth who is sure soon to reap the benefit of his knowledge, and attain to the supreme status outside the painful dreary realm of transmigration and the kingdom of Death. For the soul being actually divine by nature, its divinity remains unrealized only just so long as it is ignorant of itself and devotes all its time to the pursuit of the non-self. Hence, when Self- knowledge has dispelled the thick mists of ignorance and set its natural energy of dispassion in opposition to the forces of *karma* the destruction of the latter becomes only a question of time, and is encompassed, generally, in the course of three or four incarnations, when it is loft, as the result of the process of self-realization, as a pure Spirit, all-knowing, immortal and eternally blissful, a pure and real Divinity, second to none in the three worlds, and the object of devotion and worship on the part of *devas* (celestials) and men.

विवेचना—जीव अन्य है, पुद्गल अन्य है। जीव भिन्न है, पुद्गल भिन्न है। यही तत्त्व संग्रह है। यही संक्षिप्त तत्त्व ज्ञान का सार है। तत्त्व क्या है? वस्तु क्या है? इसकी हम रात-दिन चर्चा करते हैं, फिर भी वस्तु स्थिति से परिचित नहीं हो पा रहे हैं। ऐसा क्यों ? इसके लिए आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी कह रहे हैं कि सर्वप्रथम तत्त्व का सम्यक् निर्णय करना आवश्यक है। 'द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ के मंगलाचरण में बताया है कि—

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं, वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥१॥

भगवान् ऋषभनाथ स्वामी जी ने युग के आदि में जीव व अजीव ये दो ही तत्त्व कहे थे। उन भगवान् के चरणों में सौ-सौ इन्द्र आकर नतमस्तक हो जाते थे। उन्हीं भगवान् ऋषभनाथ के द्वारा कथित दोनों तत्त्वों की, यहाँ पर भी चर्चा की जा रही है कि 'जीव भिन्न, पुद्गल भिन्न है' यही तत्त्व का संग्रह है।

बहुत तत्त्वज्ञान से क्या ? पहले इतना ही याद रखो। यदि यह बात याद न रहे, इसके प्रति जागृति न रहे, तो दुनिया के अनेकों तत्त्वों को जान लेने पर भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। यह निश्चित बात है। प्रयोजनभूत तत्त्व तो इतना ही है कि ''शरीर पृथक् है और आत्मा पृथक् है।''

आचार्य समन्तभद्रस्वामी जी ने भी रत्नकरण्डकश्रावकाचार में सामायिक के समय इसी 'तत्त्वसंग्रह' का चिन्तन करने को कहा है। तत्सम्बन्धी एक कारिका लिखी है—

अशरणमशुभमनित्यं, दुःखमनात्मानमावसामि भवं।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामायिके ॥१०४॥

सामायिक के समय कैसा चिन्तन करें ? यह उक्त कारिका में वर्णित है। यह शरीर कैसा है? अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुःख स्वरूप है, आत्मा से भिन्न जड़ स्वरूप है। इसके विपरीत आत्मा कैसा है? आत्मा चैतन्य स्वरूप है। आत्मा मोक्ष स्वरूप है। आत्मा शरण रूप है, शुभ है, नित्य है, सुख स्वरूप है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से पृथक् है। सामायिक में इस प्रकार का चिन्तन करने से आत्मा और शरीर के सम्यक् स्वरूप के प्रति आस्था दृढ़ होती है।

जिन्होंने आप्त की अर्थात् सच्चे वीतरागी देव की मीमांसा करते हुए 'आप्तमीमांसा' जैसे क्लिष्ट ग्रन्थों की रचना की है, उन आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार' ग्रन्थ में समस्त श्रावकों एवं साधकों को यह कहा है कि यदि आप लोग वस्तु-तत्त्व का, शरीर का, आत्मा का सम्यक् परिचय प्राप्त करना चाहते हो तो उक्त कारिका को 'जीवन-सूत्र' समझकर प्रतिदिन कम से कम सामायिक के समय यह विचार कीजिए कि—यह शरीर दुःख का कारण है, अशरण स्वरूप है, क्षणभंगुर है, जिससे शरीर के प्रति ममत्व कम हो सके, शरीर के प्रति राग या मोह छूट सके, क्योंकि शरीर के प्रति राग या किसी भी वस्तु के प्रति राग, द्वेष, मोह बन्ध का कारण

होता है। शरीर कभी भी आत्मा का अपना स्वरूप नहीं हो सकता। राग बन्ध का कारण और वैराग्य-भाव संवर, निर्जरा का कारण होता है। वैराग्य-भाव बढ़ाने के लिए शरीर का चिन्तन करना आवश्यक है। जिसके परिणाम स्वरूप शरीर की सन्तति समाप्त हो सकती है।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने भी तत्त्वार्थ-सूत्र ग्रन्थ में एक सूत्र लिखा है कि- "**जगत्काय-स्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं ॥ ७/१२ ॥**" अर्थात् संसार एवं शरीर के स्वभाव का चिन्तन संवेग और वैराग्य भाव की वृद्धि में कारण होता है। अतः सामायिक के समय पर अथवा अन्त में या किसी भी समय पर यदि और कुछ नहीं आता तो कोई बात नहीं, परन्तु इतना तो आता ही है कि यह शरीर आत्मा से भिन्न पदार्थ है। हमेशा हमारे साथ रहने वाला नहीं है। इतना याद कर लो तो काफी है। तत्त्व का सार तो इतना ही और यही है।

लौकिक शिक्षण प्राप्त करने के लिए छोटे-छोटे बच्चों से लेकर प्रशिक्षित वर्ग तक के सभी लोग दुनिया के विषयों की बड़ी-बड़ी पुस्तकें पढ़ लेते हैं, लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में कारणभूत ज्ञान की प्राप्ति के लिए एक 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ का अध्ययन करने में भी कठिनाई महसूस करते हैं। यदि उन ग्रन्थों को पढ़ने हेतु कोई साधु-संत या विद्वान् प्रेरणा देते हैं तो लोगों का यह जबाव होता है कि इतने बड़े-बड़े ग्रन्थों को पढ़ने के लिए समय भी तो चाहिए। जिन्होंने इन ग्रन्थों का अध्ययन किया है उन विद्वानों या साधु-सन्तों के पीछे रह जायेंगे तो हमारा काम हो जायेगा। जैसे एक पुस्तक है, जिसमें बुखार को दूर करने हेतु हजारों औषधियाँ बतलाई गई हैं। उस पूरी पुस्तक को पढ़ने से क्या प्रयोजन ? उसमें बुखार दूर करने वाला पूरा चेप्टर पढ़ने से भी क्या प्रयोजन ? किन्तु उस चेप्टर में से जिस औषधि से बुखार ठीक होता हो उस औषधि मात्र से प्रयोजन होता है। अतः उस प्रयोजनभूत पंक्तियों को पढ़कर और औषधि बनाकर उसका सेवन कर लिया और बुखार से बच गये। यही सारभूत-तत्त्व का अर्थ है। संसार सम्बन्धी चतुर्गति के दुःखों से बचने के लिए भी अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य हो, ऐसा नहीं है, किन्तु जीव भिन्न है, शरीर भिन्न है, इस प्रयोजनभूत तत्त्व को जानने मात्र से हमारा कल्याण हो सकता है। अन्य ग्रन्थों में इसी प्रयोजनभूत तत्त्व का विस्तृत कथन है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने भी 'समयसार' ग्रन्थ में चार सौ पैतालीस गाथायें लिखी हैं, जिनमें स्व-समय और पर-समय का विस्तृत व्याख्यान किया है। जबकि संक्षेप से एक या चौदह गाथाओं द्वारा 'समयसार' ग्रन्थ का पूर्ण कथन हो सकता था, क्योंकि वास्तव में, संक्षेप से चौदह गाथायें ही पर्याप्त थी, परन्तु विस्तार रुचि वाले शिष्यों को समझाने के लिए करुणा पूर्वक विस्तार से कथन करके महान् ग्रन्थ की रचना की है। शिष्य भी अनेक प्रकार की रुचि वाले होते हैं। जैसे कोई शिष्य संक्षेप रुचि वाले होते हैं, कोई विस्तृत रुचि वाले और कोई मध्यम रुचि वाले होते हैं। उन सब पर करुणा करके आचार्य महाराज भी संक्षिप्त, विस्तृत अथवा मध्यम कोटि का कथन

करते हैं।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने ग्रन्थ के अन्त में संक्षिप्त अलौकिक-सूत्र प्रदान किया है जिसमें 'जीव भिन्न है, पुद्‌गल भिन्न है' इस संक्षिप्त सारभूत तत्त्व का उपदेश दिया है। इसी को हमेशा याद रखो, क्योंकि इसी के द्वारा संसार से पार होना संभव है। इसी सूत्र में संक्षेप से अध्यात्म का रहस्य उद्‌घाटित किया है।

उत्थानिका—आचार्य महाराज शास्त्र के अध्ययन करने का साक्षात् और परम्परा से होने वाले फल को बतलाते हैं–

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा,
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥

अन्वयार्थ— (धीमान् भव्यः) बुद्धिमान् भव्य पुरुष **(इति)** इस प्रकार **(इष्टोपदेशं)** इष्टोपदेश ग्रन्थ को **(सम्यक् अधीत्य)** अच्छी तरह अध्ययन करके **(स्वमतात्)** अपने आत्म-ज्ञान से **(मानापमानसमतां)** सम्मान और अपमान में समता भाव को **(वितन्य)** विस्तार/ विशेषण करके **(मुक्ताग्रहः)** आग्रह को त्यागता हुआ **(सजने)** गाँव आदि में **(वा)** अथवा **(वने)** निर्जन वन में **(विनिवसन्)** रहता हुआ **(निरुपमां)** अनुपम **(मुक्तिश्रियम्)** मुक्ति लक्ष्मी को **(उपयाति)** प्राप्त करता है।

सुधी सही इष्टोपदेश का, ज्ञान करे अवधान करे,
मानपने अपमानपने का, समान ही सम्मान करे।
निराग्रही मुनि बन वन में या, उचित भवन में वास करे,
पाले निरुपम मुक्ति सम्पदा, भव्य भवों का नाश करे ॥५१॥

The wise *bhavya** who has well understood the teaching of the "Ishtopadesha". and who maintains the serenity of the mind by the effort of his will when he is respected as when disrespect is shown to him and who has freed himself from the attachment to the non-self, obtains the matchless treasure of *mokhsa*, whether he live in a city or in a jungle!

---

* The soul that is endowed with realizable potentiality for the attainment of salvation is termed *bhavya*, while the *abhavya* (a=not+*bhavya*) is the soul that is potentially divine like the *bhavya*, but with a portentiality that is not realizable into actuality.

Note - Faith in the glorious nature of the Self and the mental equanimity are the chief things necessary for the obtainment of realease from the cycle of births and deaths (transmigration). The rule with faith is that it never fails to translate itself into action, sooner or later, since belief is the builder and moulder of character, and the controller of impulses. For this reason, even the greatest sinner need not despair, and if he will intelligently try to understand the teaching herein imparted and apply himself to put faith into it he will soon find himself travelling on the road to saintship Whether he walks towards it or travels in some more speedy way, will depend on the nature of the obstruction that might be offered by the *karmas* of his previos like. But even the worst of *karmas* begin to lose their power under the loosening influence of the Right Faith, and are speedily destroyed by the scorching fire or Right knowledge. Mental equanimity is speedily reached in this manner, and the rest becomes easy by a constant meditation on the "Ishtopadesha" which is the Discourse Divine as well as the name of the book in the reader's hand !

विवेचना—इस प्रकार अन्त में आचार्य पूज्यपाद स्वामी विद्वानों को अथवा हित-अहित की परीक्षा करने में जो दक्ष हैं, ऐसे भव्यों को संकेत करते हुए कह रहे हैं, कि पचास श्लोकों में बंधा हुआ यह जो छोटा-सा आध्यात्मिक ग्रन्थ है, इसको अच्छी तरह पढ़कर अध्यात्म-ज्ञान से मान-अपमान की समस्त परिस्थितियों में साम्यभाव को धारण करें। यह इष्टोपदेश नामक लघु ग्रन्थ इष्ट-तत्त्व का उपदेश देने में सक्षम है। अपने आत्म-हित के अभिप्राय को सिद्ध करने में सक्षम है। अपनी 'आत्म-भावना' को पूर्ण करने में सक्षम है। विद्वज्जनों का यह कर्त्तव्य है कि इसका समीचीन रूप से अध्ययन करें।

इस ग्रन्थ का समीचीन अध्ययन हुआ या नहीं, इसकी परख कैसे हो ? इसकी परख करने की कसौटी क्या है? यह ज्ञात करने के लिए आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने अपने ग्रन्थ लेखन के अन्त में एक श्लोक लिखा है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो भव्य अपने जीवन में मान-अपमान को सहन कर साम्य-भाव को अपना रहा है, समझो उसका अध्ययन समीचीन है। मान-अपमान में समता आना, हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करना, राग-द्वेष नहीं करना आदि समीचीन अध्ययन की परख करने की प्रणाली है।

इस ग्रन्थ का मात्र अध्ययन कर लिया। अनुवाद कर लिया। स्वयं पढ़ लिया। दूसरों को भी अनेक बार पढ़ा दिया, परन्तु मान-अपमान में साम्यभाव नहीं आया तो इसके अध्ययन से क्या

प्रयोजन रहा ?

अतः अपने अंदर के बाह्य पदार्थों के प्रति मेरेपन के आग्रह को या हठाग्रह को छोड़कर भवन अथवा वन में, समता भाव को धारणकर एकमात्र 'स्व-आग्रह' अर्थात् स्व यानि आत्मा को ग्रहण करने का आपेक्षित भाव स्वीकार कीजिए। फिर चाहे वन में रहो या भवन में उसके प्रति न राग होगा, न द्वेष होगा। जिसने मान-सम्मान में समता धारण कर ली समझो उसने सब कुछ कर लिया।

वन में रहो या भवन में, यह तो बाह्य निवास की बात है। अध्यात्म तो आत्म-निवास की बात करता है। बाहर वन में या भवन में तो रहना मात्र है, रमना नहीं है। धर्मशाला और धर्म में अन्तर है। धर्म वस्तु का गुणधर्म है जबकि वस्तु उसकी धर्मशाला है। आप लोग धर्मशाला किसको बोलते हैं? जिसका कोई मालिक नहीं होता। जो सार्वजनिक धर्मसंस्था से जुड़ा हुआ स्थल होता है उसे धर्मशाला बोलते हो। वास्तव में जिस शाला में धर्म का अस्तित्व होता है या जिस शाला में धर्म का आचरण होता है अथवा जो धर्ममय वातावरण से संयुक्त होता है उसे धर्मशाला कहते हैं। इसे निश्चय की अपेक्षा देखें तो आत्मा ही धर्मशाला है। अपने-अपने गुणधर्मों की अपेक्षा देखें तो प्रत्येक वस्तु धर्मशाला है, किन्तु ईंट, पत्थर, सीमेंट, मार्बल आदि सामग्री से बनी हुई धार्मिक-संस्था तो बाह्य धर्मशाला है। यदि यह पुरानी हो जाती है, जीर्ण-शीर्ण हो जाती है तो आप लोग इसके जीर्णोद्धार में हमेशा तत्पर रहते हैं, लेकिन 'आत्म-तत्त्व' रूपी धर्मशाला कर्मों के प्रभाव से आच्छादित हो रही है। स्वरूप की अपेक्षा जीर्ण-शीर्ण है फिर भी इसके जीर्णोद्धार की आपको कोई चिन्ता नहीं रहती। यह शरीर भी एक धर्मशाला के समान ही है। इससे भी अपने को क्या मतलब! जितने दिन का जीवन शेष है उस समय तक रहकर वापस छोड़कर चले जाना है। इनके रंग-रोगन करने में आनन्द लेने वाले आत्मिक आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी अब अन्तिम सूत्र द्वारा योगियों को समझाते हुए कह रहे हैं कि जो बुद्धिमान् इस 'इष्टोपदेश' ग्रन्थ का अच्छी तरह विनय व सम्मान के साथ अध्ययन करता है, वह मान-अपमान में समताभाव रखता है। श्रेष्ठ योगी वही होता है जो सम्मान में नहीं, किन्तु अपमान में भी साम्यभाव रखता है। आचार्य कहते हैं-हे योगी! अब तूने समता को अपना लिया है और अपने आग्रह को छोड़ दिया है तो निश्चित ही अनुपम मुक्ति-लक्ष्मी को प्राप्त किए बिना नहीं रहेगा। जो योगी अपने सांसारिक-पूर्वाग्रह से मुक्त हो जाता है वह संसार से भी मुक्त हो जाता है।

मात्र वस्त्रों से मुक्त होने पर या धन-पैसा, दुकान-मकान छोड़ने पर संसार से मुक्ति नहीं मिलती। किन्तु मन के हठाग्रह, दुराग्रह से भी मुक्त होना आवश्यक है। विषय-वासनाओं से भी मुक्त होना आवश्यक है। मन के कलुषित विचारों से भी मुक्त होना आवश्यक है। अन्यथा कर्मों से मुक्ति संभव नहीं है, क्योंकि जो हठाग्रह को नहीं छोड़ता उसका मोक्षमार्ग प्रशस्त नहीं होता। जो संक्लेश को छोड़कर समता-भाव को नहीं अपनाता उसका भी मोक्षमार्ग प्रशस्त नहीं होता। अतः

समता धारण करके अपने मोक्षमार्ग को प्रशस्त करिए।

भव्य योगी ही अनुपम मुक्तिश्री को प्राप्त करता है। लेकिन कैसा भव्य ? जो समदृष्टि वाला हो। मान में ही नहीं, अपमान में भी साम्यवृत्ति रखता हो। धन्य हैं, वे समता धारण करने वाले श्रेष्ठ योगी, जिन्होंने अपने आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया तथा अन्य जीवों के कल्याण का मार्ग भी दिग्दर्शित किया। हम भी उन्हीं के समान अपने आत्मकल्याण के मार्ग को प्रशस्त करें। अपने जीवन में इष्टोपदेश ग्रन्थ के उपदेश को इष्ट बनायें।

शुभं भूयात्।

परिशिष्ट-१

मूल श्लोकपाठ

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै सञ्ज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता ।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥२॥

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्धे किं स सीदति ?॥४॥

हृषीकज-मनातङ्कं दीर्घ-कालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम् ।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥७॥

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥

विराधकः कथं हन्त्रे जनाय परिकुप्यति।
त्र्यङ्गुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥१०॥

रागद्वेषद्वयीदीर्घ - नेत्राकर्षण - कर्मणा।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।
यावत्तावद्भवन्त्यन्या: प्रचुरा: विपद: पुर:॥१२॥

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थंमन्यो जन: कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

विपत्तिमात्मनो मूढ: परेषामिव नेक्षते।
दह्यमान - मृगाकीर्ण - वनान्तर - तरुस्थवत् ॥१४॥

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष - हेतुं कालस्य निर्गमम्।
वाञ्छतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५॥

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्त: सञ्चिनोति य:।
स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं क: सेवते सुधी:॥१७॥

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि।
स काय: सन्ततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इत: पिण्याकखण्डकम् ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिन:॥२०॥

स्वसंवेदन - सुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्यय:।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकन: ॥२१॥

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतस:।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रय:।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वच: ॥२३॥

परीषहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा ॥२५॥

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥२६॥

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२८॥

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

कर्म कर्म - हिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥३१॥

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

गुरूपदेशादभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरम्।
जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥३३॥

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥३४॥

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अभवच्चित्तविक्षेप एकान्ते तत्त्वसंस्थितः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥३६॥

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥

इच्छत्येकान्तसंवासं निर्जनं जनितादरः।
निजकार्यवशात्किञ्चिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥४०॥

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन्।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम्।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥४३॥

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बध्यते न विमुच्यते ॥४४॥

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥४५॥

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तोःसामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥४६॥

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०॥

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्,
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा,
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट-२
आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज विरचित
इष्टोपदेश का पद्यानुवाद

(वसंततिलका छन्द)

दुष्टाष्ट कर्म दल को करके प्रनाश, पाया स्वभाव जिनने, परितः प्रकाश।
जो शुद्ध हैं अमित, अक्षय बोधधाम, मेरा उन्हें विनय से शतशः प्रणाम ॥१॥

ज्यों ही यहाँ वर रसायन-योग ढोता, पाषाण जो कनक-मिश्रित, हेम होता।
त्यों द्रव्य क्षेत्र अरु काल सुयोग पाता, संसारि-जीव परमात्मपना गहाता ॥२॥

चारित्र से अमर हो वह श्रेष्ठ ही है, होना कुनारक असंयम से बुरा है।
तो भेद भी इन व्रताऽव्रत में अहा! है, 'छाया-सुधूप' इनमें जितना रहा है ॥३॥

जो आत्म भाव शिव सौख्य यदा दिलाता, स्वर्गीय सौख्य वह क्या न तदा दिखाता।
दो कोस भार सहसा जब जो निभाता, क्यों अर्द्ध कोस तक ले उसको न जाता? ॥४॥

है दीर्घ काल रहता, पल में न जाता, आतंकहीन अरु जो महि में न पाता।
ओ नाकवासिसुख है मन-मोहनीय, क्या क्या कहूँ अमर सौख्य अवर्णनीय ॥५॥

जो दुःख और सुख है तनधारियों का, है व्याज मात्र तृण-बिन्दु, सुखेच्छुकों का।
जैसे भगंदर, जलोदर, कुष्ट रोग, वैसे नितान्त दुखदायक हाय! भोग ॥६॥

विज्ञान जो अतितिरोहित मोह से है, ना जानता वह निजीय स्वभाव को है।
जैसा यहीं मदक, भंग शराब को पी, ना जानता मनुज भक्ष्य अभक्ष्य को भी ॥७॥

माता, पिता अहित और सुता व गेह, औ मित्र, पुत्र, सुकलत्र व अर्थ देह।
ये आत्म से सकल भिन्न सुसर्वथा हैं, पै मूढ़ स्वीय कहता इनको वृथा है ॥८॥

पक्षी अहो! दश-दिशागत जो यहाँ पे, प्रत्येक वृक्ष पर वे बसते, जहाँ से।
है स्वीय कार्य वश हो उड़ते उषा में, स्वच्छंद होकर असीम दशों-दिशा में ॥९॥

क्यों मूढ़ श्वान सम है करताति क्रोध, हंता जनों पर, अतः उसमें न बोध।
जो खोदता अवनि को जब फावड़ा से, नीचे झुके वह तदैव निसर्गता से ॥१०॥

जो रागद्वेष करता, वसु कर्म ढोता, संसारि-जीव भव को अति ही बढ़ाता।
अज्ञान से सुचिर है दुख ही उठाता, है नित्य दौड़ भव-कानन में लगाता ॥११॥

आपत्ति एक टलती जब लौं अहा! है, दूजी अहो! चमकती तब लौं वहाँ है।
स्वामी! यहाँ स्थिति सदा घटियंत्र की सी, संसार सागर निमज्जित जीव की भी ॥१२॥

है नश्यमान व परिश्रम प्राप्त अर्थ, रक्षार्थ नेक बनते इसके अनर्थ।
संतुष्ट हाय! इससे निज को मनुष्य, पी मानता घृत यथा ज्वरवान् अवश्य ॥१३॥

धिक्कार! मूर्ख लखता न निजापदा को, क्यों देखता वह सदा पर की व्यथा को।
दावा सुव्याप्त वन में मृगयूथ को जो, रे देखता वह तरुस्थ मनुष्य है ज्यों ॥१४॥

हैं अर्थ को समझते निज से अमूल्य, सम्पत्ति हीन वह जीवन पर्ण तुल्य।
श्रीमंत मानव सदा इस भाँति गाते, आदर्श जीवन धनार्जन में बिताते ॥१५॥

जो अर्थहीन वह मानव सर्वदा ही, दानार्थ अर्थ चुनता व सुखार्थ मोही।
मैं स्नान हूँ कर रहा इस भाँति बोले, ओ पंक से स्वतन को निज हाथ धोले ॥१६॥

प्रारंभ में परम ताप अहो दिलाते, तो प्राप्ति में विषम आकुलता बढ़ाते।
है अंत में कठिन त्याज्य कुभोग ऐसे, भोगें सकाम इनको बुध लोग कैसे? ॥१७॥

सौगंध्यपूर्ण वह चंदन है पवित्र, ज्यों देह संग करता बनताऽपवित्र।
काया घृणास्पद अतीव तथा विनाशी, सेवा करें न इसकी ऋषि जो उदासी ॥१८॥

जो श्रेष्ठ मित्र उपकारक जीव का है, होता वही अनुपकारक देह का है।
होती नितांत जिससे जड़ देह पुष्टि, होती कभी न उससे पर जीव पुष्टि ॥१९॥

है एक हाथ खल-खंड अहो दिखाता, तो रत्न अन्य कर में वर सौख्य दाता।
दोनों मिले स्वपरिणामतया यहाँ पे, विद्वान का फिर समादर हो कहाँ पे? ॥२०॥

है देह के वह बराबर सौख्यधाम, आत्मा अमूर्त, नित नित्य उसे प्रणाम।
औ देखता सकल लोक अलोक को है, विज्ञान गम्य, नहिं इन्द्रिय गम्य जो है ॥२१॥

एकाग्र चित्त-बल से सब इंद्रियों का, व्यापार बन्द करके दुखदायकों का।
आत्मा स्वकीय घर में रह आत्म को ही, ध्यावे निजीय बल से तज मोह मोही ॥२२॥

सत्संग से परम बोध यहाँ कमाते, दुस्संग से अबुध हो, हम दुःख पाते।
तो गंध छोड़ वह चंदन और क्या दे? जो पास हो उचित है वह ही सदा दे ॥२३॥

ना जानता परिषहादिक को विरागी, होता न आस्रव जिसे वह मोक्षमार्गी।
अध्यात्म योग बल से फलतः उसी की, होती सही! नियम से नित निर्जरा ही ॥२४॥

मैं हूँ यहाँ परम निर्मल वस्त्र कर्ता, ऐसा पदार्थ युग में विधि-बंध भाता।
आत्मा हि ध्यान अरु ध्येय यदा व ध्याता, तो कौन-सा फिर तदा पर संग नाता?॥२५॥

जो जीव मोह करता, वसु कर्म ढोता, निर्मोह भाव गहता, द्रुत मुक्त होता।
शुद्धात्म को इसलिए दिनरैन ध्याओ, ओ! वीतरागमय भाव स्व-चित्त लाओ ॥२६॥

मैं एक हूँ, परम शुद्ध प्रबुद्ध ज्ञानी, वे ही मुझे निरखते, मुनि जो अमानी।
ये राग, रोष, ममकार, विकार भाव, संयोग जन्य, जड़ हैं, मम ना स्वभाव ॥२७॥

संयोग पाकर तनादिक का यहाँ रे, संसारि जीव दुख भाजन हो रहा है।
तो काय से वचन से मन से तजूँ मैं, संमोह को, इसलिए निज को भजूँ मैं ॥२८॥

मेरा नहीं मरण है, फिर भीति कैसी? रोगी नहीं, फिर व्यथा किसकी हितैषी।
मैं हूँ नहीं परम वृद्ध युवा न बाल, ये हैं यहाँ सकल पुद्गल के बवाल ॥२९॥

भोगे गये निखिल पुद्गल बार-बार, संसार-मध्य मुझसे, दुख है अपार।
भोगूं, उन्हें!! अब पुनः यह निंद्य कार्य!! उच्छिष्ट सेवन करे जग में अनार्य ॥३०॥

है कर्म कर्म सखि कों निज पास लाता, तो जीव आत्म-हित को नित चाहता वा।
हो जाय स्वीय पद पे बलवान कोई, इच्छा निजीय हित की किसको न होई? ॥३१॥

हे! मित्र त्याग कर शीघ्र परोपकार, हो स्वोपकार रत तू जग को विसार।
होता विमूढ़ पर के हित में सुलीन, मोही दुखी इसलिए मतिहीन दीन ॥३२॥

सत् शास्त्र के मनन से गुरु भाषणों से, विज्ञान रूप स्फुट नेत्र सहायता से।
जो जानते स्वपर अन्तर को यहाँ है, जाने सदैव शिवको सब वे अहा! है ॥३३॥

विज्ञान रूप गुण से निजको जनाता, औ आप में रमण की अभिलाष लाता।
धाता निजीय सुख का जग में तथा है, आत्मा वही 'गुरु' अतः निज आत्म का है॥३४॥

पाता अभिज्ञ न कभी इस अज्ञता को, तो अज्ञ भी न गहता उस विज्ञता को।
धर्मास्तिकाय जग ज्यों गति हेतु मात्र, त्यों ही अभव्य जनको गुरु और शास्त्र ॥३५॥

विद्वेष, राग रति, मोह, विकार रिक्त, औ तत्त्व-बोध थित है जिसका सुचित्त।
आलस्य हास्य तज औ निजगीत गावे, एकांत में वह निजात्म स्वभाव ध्यावे ॥३६॥

ज्यों विश्वसार परमोत्तर आत्म तत्त्व, विज्ञान में उतरता, वह साध्य तत्त्व।
अच्छे नहीं विषय त्यों लगते यहाँ पे, जो प्राप्त हैं सहज यद्यपि रे! धरा पे ॥३७॥

ज्यों ज्यों नहीं विषय है निज को सुहाते, जो जीव को भव सरोवर में गिराते।
त्यों त्यों अहो परम उत्तम साध्य तत्त्व, विज्ञान में उतरता वह आत्म तत्त्व ॥३८॥

आत्मा यदा निजनिरंजन रूप ध्याता, है इन्द्रजाल सम विश्व उसे दिखाता।
अन्यत्र है मन कभी यदि स्वल्प जाता, तो क्या कहूँ वह तदा अति दुःख पाता ॥३९॥

प्यारा जिसे विपिन जो लगता यहाँ है, एकान्त वास करता वह तो सदा है।
आत्मीय कार्य वश हो यदि बोलता है, तो शीघ्र ही तज उसे निज साधता है ॥४०॥

विद्वेष, राग, रति से अति दूर जो हैं, वे बोलते यदि तथापि न बोलते है।
ना देखते अपर को लखते हुए भी, जाते नहीं गमन वे करते हुए भी ॥४१॥

कैसे कहाँ व किसका यह कौनसा है, यों प्रश्न भी न करता निज में बसा है।
है जानता न अपने तन को विरागी, जो योग लीन नित है पर वस्तु त्यागी ॥४२॥

जो जीव वास करता सहसा जहाँ है, निर्भ्रान्त लीन रहता वह तो वहाँ है।
जो भी जहाँ रमत मुद्बत से सदैव, अन्यत्र ना गमन हो उनका वृथैव ॥४३॥

ज्ञाता, अचेतनमयी तन का नहीं है, जो देह का स्मरण भी करता नहीं है।
ज्ञानी वही, विविध कर्म न बाँधता है, होता प्रमुक्त उनसे, शिव साधता है ॥४४॥

देहादि तो पर, अतः सब दुःख रूप, आत्मा निजीय सुखधाम, सुधास्वरूप।
सारे अतः सतत सादर सन्त लोग, आत्मार्थ ध्यान धरते, तज सर्व भोग ॥४५॥

जो आत्म सौख्य तज इन्द्रिय भोग लीन, मूढात्म है जगत में वह भाग्य हीन।
पाता अतः दुख सदा भव में नितांत, यों बार-बार तनधार अपार क्लांत ॥४६॥

शुद्धात्म को हि वह केवल ध्येय मान, सारे विकल्प तजता, द्रुत हेय, जान।
योगी सुयोग बल से अति श्लाघनीय, पाता सुसौख्य जग जो बुध शोधनीय ॥४७॥

जो नित्य कर्ममय-इन्धन को जलाता, है आत्म जन्य सुख तो शिव रूप भाता।
योगी अतः परिषहादिक से यहाँ पे, हैं खेदता न गहते, नित तोष पाते ॥४८॥

अज्ञान रूप तम को झट जो नशाती, है ज्ञान-ज्योति शिवमार्ग हमें दिखाती।
आराधनीय वह है निज दर्शनीय, स्वामी! मुमुक्षु जन से जग शोधनीय ॥४९॥

है अन्य जीव जड़ पुद्‌गल अन्य भाता, है 'तत्त्व सार' यह यों जिन शास्त्र गाता।
जो भी अहो कथन अन्य यहाँ दिखाता, विस्तार मात्र इसका, इसमें समाता ॥५०॥

इष्टोपदेश पढ़ आदर से सुभव्य, 'मानापमान' इनमें धर साम्य दिव्य।
एकान्तवाद तज, ग्राम अरण्य में वा, धारे चरित्र, जिससे शिव-मिष्ट-मेवा ॥५१॥

गुरु स्मृति

थे भव्य-पंकज-प्रभाकर पूज्यपाद,
था आपमें अति प्रभावित साम्यवाद।
वन्दूँ उन्हें विनय से मन से त्रिसंध्या
'विद्या' मिले, सुख मिले, पिघले अविद्या ॥

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट-३
श्लोकानुक्रमणिका